

**TEXT CROSS
WITHIN THE
BOOK ONLY**

**PAGES MISSING
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182656

UNIVERSAL
LIBRARY

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त

(साहित्य, कला, काव्य और उसके सम्प्रदायों का शास्त्रीय विवेचन)

[प्रथम भाग]

(परिर्वद्धित एवं संशोधित संस्करण)

लेखक

गोविन्द त्रिगुणायत

एम० ए०, पी० एच०, डी० डी० लिट्

के० जी० के० कालेज

मुरादाबाद

१९६२

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा—दिल्ली

लेखक की अन्य आलोचनात्मक रचनाएँ

- (१) कबीर की विचार धारा ७.००
डालमिया पुरस्कार समिति द्वारा २१००) की धनराशि से पुरस्कृत तथा विविध विश्वविद्यालयों के एम०ए० पाठ्य-क्रमों में निर्धारित ।
- (२) कबीर और जायसी का रहस्यवाद ६.००
उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत विविध विश्वविद्यालयों के एम० ए० पाठ्य-क्रमों में निर्धारित ।
- (३) हिन्दी की निर्गुण काव्य-धारा तथा उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि २५.००
डी० लिट् की स्वीकृत थीसिस ।
- (४) शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, प्रथम-द्वितीय भाग १८.००
विविध विद्यालयों के एम०ए० पाठ्य-क्रमों में निर्धारित ।
- (५) समीक्षा शास्त्र के सरल सिद्धान्त ४.००
अनूदित—
- (६) हिन्दी वशरूपक ६.००
धनञ्जय विरचित संस्कृत रूकम् की व्याख्यात्मक टीका ।
[उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत]
- सम्पादित—
- (७) हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ ३.५०

मूल्य : ८.००

गौरीशंकर शर्मा, मैनेजर, भारती साहित्य मन्दिर द्वारा प्रकाशित एवं
आर० के० प्रिण्टर्स, कमला नगर, दिल्ली में मुद्रित ।

साहित्य शास्त्र के मर्मज्ञ गुरुजनों,
आचार्यों और विद्वानों
के
कर-कमलों
में
सादर सविनय
समर्पित

द्वितीय आवृत्ति का प्राक्कथन

मुझे बड़ा परितोष है कि मेरी अन्य पुस्तकों की भाँति ही 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' (दोनों भाग) का भी हिन्दी जगत् ने हृदय से अभिनन्दन किया। पुस्तक प्रकाशित होते ही विविध विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्यक्रम में निर्धारित हो गई। आलोचकों और प्रतिष्ठित विद्वानों ने पत्र-पत्रिकाओं में इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

पुस्तक की लोकप्रियता और उपादेयता को देखकर एक-आध नये लेखक ने मेरी पुस्तक सामग्री को स्वल्प परिवर्तन के साथ अपनी पुस्तक में हू-ब-हू रखकर प्रशंसनीय कार्य नहीं किया है। उनसे मेरा यही कहना है कि इस प्रकार के व्यवहार से कल्याण नहीं होता है।

प्रथम भाग की द्वितीयावृत्ति को और सुन्दर और प्रौढ़ बनाने में मैंने कोई भी प्रयास उठा नहीं रक्खा है। पर्याप्त संशोधन और परिवर्द्धन के साथ पुस्तक विज्ञ पाठकों के समक्ष आ रही है ताकि यह और भी उपयोगी सिद्ध हो। इस बात का पूर्ण ध्यान रखा गया है कि पुस्तक शुद्ध छपे। फिर भी कुछ न कुछ मुद्रण-त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है इसके लिए मैं कर बद्ध कर क्षमा का प्रार्थी हूँ।

विनीत

गोविन्द त्रिगुणायत

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

साहित्य का प्रमुख अंग उसका शास्त्र होता है। जिस साहित्य का शास्त्रीय पक्ष जितना प्रौढ़ होता है, वह उतना ही महान् समझा जाता है। उदाहरण के लिए हम संस्कृत-साहित्य को ले सकते हैं। संस्कृत-साहित्य का अतुलनीय महत्त्व सम्भवतः उसके पांडित्यपूर्ण बृहत्काय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के कारण ही है। हिन्दी साहित्य का उदय और विकास संस्कृत-साहित्य की प्रौढ़ भूमिका पर हुआ है। उसके सभी अंग और उपांग उसका अवलम्ब पाकर उसी के अनुकरण पर विकसित हुए हैं। उसके शास्त्रीय पक्ष का स्वरूप और विकास तो पूर्णतया उसी पर आधारित है। रीति-युग में हिन्दी साहित्य के लक्ष्य-लक्षण ग्रंथों के रूप में संस्कृत के सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र की ही पुनरुद्धरण की गई थी। पुनरुद्धरण-प्रक्रिया वास्तव में बड़ी कठिन होती है। अच्छे-अच्छे विद्वान् भी इस कार्य में असफल होते देखे जाते हैं। रीतिकालीन आचार्य लोग भी अपने इस कार्य में सफल नहीं हुए थे। संस्कृत काव्य-शास्त्र का उलथा करने

के प्रयास में उन्होंने मौलिकता को पंगु कर दिया था। उनकी प्रतिभा कुंठित हो गई थी। उसकी इतिश्री केवल संस्कृत के कुछ लक्षण और उदाहरणों के निर्बल रूपान्तरों की अभिव्यक्ति में ही समझी जाने लगी थी। बाधुक्ता का तो इन्होंने गला ही घोट डाला था। इन्हीं कारणों से इस युग का साहित्य संकीर्णता की उमस से घुटता हुआ प्रतीत होता है।

आधुनिक युग को हम हिन्दी-साहित्य के विकास का स्वर्ण-युग कह सकते हैं। उसके प्रत्येक पक्ष को लेकर नित्य नये ग्रंथ रचे जा रहे हैं। गद्य-विधाओं का विकास तो अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। केवल साहित्यशास्त्र ही ऐसी गद्य-विधा है जिसके अध्ययन की उपेक्षा अब भी की जा रही है। इस उपेक्षा के मूल में कई कारण दिखाई पड़ते हैं। सबसे पहला कारण युग की आर्थिक प्रवृत्ति है। आज का लेखक समुदाय साहित्य-सर्जना प्रायः 'अर्थकृते' ही करता है। अर्थकृते रचा गया साहित्य गंभीर नहीं हो पाता। गंभीर साहित्य की रचना स्वार्थ को लेकर नहीं की जा सकती। उसका जन्म साहित्यकार और कठोर साधना के मुहाग से होता है। साधना का मार्ग सदैव कंटकाकीर्ण रहा है। उसके लिए स्वार्थों की बलि देनी पड़ती है। आज का लेखक स्वार्थों की बलिवेदी पर अपने साहित्य का प्रासाद खड़ा करने में असमर्थ-सा दिखाई पड़ता है। संभवतः इसीलिए साहित्य-शास्त्र जैसे गंभीर विषयों का अध्ययन इतना उपेक्षित है। इसकी उपेक्षा का एक कारण और है। आज के युग में पांडित्य का स्वरूप बहुत कुछ छिछला हो चला है। इसका कारण आज के मानव का अत्यधिक व्यस्त होना है। उसे गंभीर अध्ययन, चिन्तन और मनन का अवकाश ही नहीं मिलता। साहित्यशास्त्र का अध्ययन और खोजन प्रकांड पांडित्य और गूढ़-चिन्तन की अपेक्षा रखता है। इन्हीं सब कारणों से हिन्दी में शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्तों का विश्लेषण बहुत कम हो पाया है। इस दिशा में जो कुछ थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया भी गया है उसका अधिकांश बहुत सामान्य स्तर का है। हमारी समझ में केवल दो-चार ग्रन्थ ही ऐसे हैं जिन्हें समुचित स्तर की रचना कहा जा सकता है। इन ग्रंथों में डाक्टर श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' और बाबू गुलाबराय लिखित 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य' के रूप' विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें लेखक का पांडित्य तो दिखाई पड़ता है किन्तु उनकी शैली सुबोध, सरल एवं वैज्ञानिक नहीं है। ऐसे ग्रन्थों में पंडित रामदहिन मिश्र लिखित 'काव्य-दर्पण' तथा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' रचित 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' एवं पं० बलदेव उपाध्याय-प्रणीत 'भारतीय साहित्यशास्त्र' विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। तीसरे प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जिनमें संक्षेप में परीक्षा-विधियों के उपयोग की सामग्री सजाई गई है। इन ग्रंथों में न तो पांडित्य ही दिखाई पड़ता है, न मौलिक विवेचन ही मिलता है और न लेखक की मननशीलता का ही पता चलता है। ऐसे ग्रंथों में क्षेमचन्द्र तथा योगेन्द्र मल्लिक-लिखित 'साहित्य-विवेचन', डा० सोमनाथ रचित 'आलोचना और उसके सिद्धान्त', शिवनन्दन सहाय-प्रणीत 'काव्यालोचन के सिद्धान्त' आदि के नाम दिए जा सकते हैं। ऊपर हमने जिन रचनाओं को

प्रथम कोटि में रखा है, आज वे भी ज्ञान के नित नए विकास के कारण पुरानी पड़ चली हैं और उनका महत्त्व क्षीण हो चला है। इसी बात को देखकर प्रस्तुत रचना का प्रणयन किया गया है। लेखक ने इस ग्रंथ को लिखते समय कई बातों पर विशेष ध्यान रखा है। सबसे पहला प्रयत्न उसने यह किया है कि गूढ़ातिगूढ़ सिद्धान्तों को अत्यन्त सुबोध, सरल एवं वैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत करे। उसका दूसरा प्रयास समस्त उपलब्ध सामग्री की आलोचना करके नई परिस्थितियों के प्रकाश में सिद्धान्तों के स्वरूप-निरूपण की ओर हुआ है। सामग्री पाश्चात्य और भारतीय दोनों काव्यशास्त्रों से ग्रहण की गई है। उसको यथाशक्ति मूल रूप में ही प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, जिससे उसकी प्रामाणिकता भी प्रकट होती रहे और विषय का स्पष्टीकरण भी अधिक हो जाय। इतना सब होते हुए भी लेखक यह दावा नहीं करता कि वह सर्वज्ञ है और उसने जो कुछ लिखा है, शास्त्रीय-समीक्षा के सिद्धान्तों के स्वरूप की वही इतिश्री है। वह इतना ही कह सकता है कि जो कुछ लिखा है वह उसकी सतत साधना का ही सुफल है।

यह ग्रन्थ दो भागों में लिखा गया है। प्रस्तुत भाग में साहित्य, कला, काव्य और संस्कृत-साहित्य के काव्य-सम्प्रदायों का विवेचन किया गया है। अलंकार-सम्प्रदाय का विवेचन करते समय अत्यन्त संक्षेप में कुछ प्रसिद्ध अलंकारों का उल्लेख भी किया गया है। यद्यपि उनका उल्लेख ग्रन्थ की रूपरेखा से बहुत सामञ्जस्य नहीं रखता है, फिर भी उनके विवेचन से विद्यार्थियों को थोड़ी सुविधा हो जाएगी—यह सोचकर ही ऐसा किया गया है। अलंकारों के लक्षण और उदाहरण अधिकतर लाला भगवानदीन की 'अलंकार-मंजूषा' के आधार पर दिए गए हैं। लेखक स्वर्गीय लाला साहब का हृदय से ऋणी है। इस भाग के अन्त में परिशिष्ट रूप में भारतीय काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विकास-क्रम भी जोड़ दिया गया है। इसके लेखन में लेखक ने लखनऊ विश्व-विद्यालय के सुयोग्य विद्वान् डॉ० भगीरथ मिश्र के 'हिन्दी काव्य-शास्त्र' के इतिहास से विशेष सहायता ली है। लेखक उनका हृदय से आभारी है। ग्रन्थ के अन्य अध्यायों के लेखन में लेखक ने आज तक के सभी उपलब्ध संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के काव्य-शास्त्र के ग्रंथों से सहायता ली है। वह इन ग्रन्थों के लेखकों के प्रति आभार प्रकट करता है। इन सबसे अधिक ऋण पूज्यपाद गुरुवर पं० अयोध्यानाथ शर्मा का है जिनकी कृपा और आशीर्वादों के फलस्वरूप ही आज लेखक इस प्रकार की रचना प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका है।

यहाँ पर मैं इस ग्रन्थ की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध में लिखने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता हूँ। प्रत्येक सत्प्रयास के मूल में कोई प्रेरणा हुआ करती है। साहित्यिक प्रयास तो बिना किसी प्रेरणा के साकार रूप ही नहीं धारण कर पाते। साहित्य-प्रेरणाओं के रूप में आचार्यों ने 'यश-प्राप्ति', 'अर्थ-लाभ', 'व्यवहार-ज्ञान', 'शिवेतर-क्षतये', 'काम-तृप्ति', 'मोक्ष-प्राप्ति' एवं 'स्वान्तः सुख' बताए हैं। किन्तु मैं इन सब प्रेरक तत्त्वों को गौण ही मानता हूँ। मेरी समझ में प्रत्येक महान् साहित्य-कृति की प्रधान

प्रेरिका नारी ही होती है—चाहे वह माता हो, भगिनी हो, शिष्या हो, पुत्री हो या पत्नी हो। नारी का जितना भव्य रूप प्रेरणा के मूल में होता है, उतनी ही महान् कृति वह होती है। कालिदाम ने “क्रियाणां खलु धर्माणां सत्पत्नयो मूलकारणम्” लिखकर इसी सत्य का समर्थन किया है। मेरी इस रचना की प्रधान प्रेरिकाएँ भी दो देवियाँ ही हैं। एक मेरी विदुषी शिष्या सुश्री कुमारी सुशीला एम० ए० हैं और दूसरी विद्यानुरागिणी मेरी जीवन-संगिनी श्रीमती सरला त्रिगुणायत एम० ए० हैं। एक की सात्विक प्रेरणा से इस ग्रंथ की रचना का श्रीगणेश हुग्रा था और दूसरी के प्रणयानु-रोध से यह पूर्ण हुग्रा है। वास्तव में मैं इन दोनों के प्रति आभार अनुभव करता हूँ। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि पढ़कर कुछ सुभाव देने का श्रौं मेरी ही देख-रेख में अनु-संधान करने वाले श्री रणवीरचन्द्र राँगा को है। श्री प्रो० रामप्रसाद शास्त्री ने भी कुछ प्रूफ आदि पढ़कर मेरी सहायता की है। इन दोनों के प्रति मैं शुभ कामना प्रकट करता हूँ। अन्त में मैं अपने प्रिय शिष्य राजेन्द्र त्रिपाठी एम० ए० को आशीर्वाद दिए बिना नहीं रह सकता। वे मेरे साहित्यिक प्रयास में प्रतिलिपि करके मेरा सहयोग देते रहे हैं। ईश्वर उनके उन्नति-मार्ग को प्रशस्त करे।

—लेखक

विषय-सूची

साहित्य	...	१-३४
व्याख्या और स्वरूप	...	१
साहित्य की मूलभूत प्रेरक प्रवृत्तियाँ और प्रयोजन	...	७
साहित्य और कला	...	१०
साहित्य और विज्ञान	...	१२
साहित्य का मूल तत्त्व	...	१४
साहित्यकार और उसका व्यक्तित्व	...	१४
भाषा और साहित्य	...	१७
साहित्य और दर्शन	...	१९
जीवन और साहित्य	...	२०
साहित्य और धर्म—	...	२२
साहित्य और सदाचार	...	२४
साहित्य और समाज	...	२७
साहित्य का मर्म	...	२९
वाङ्मय के भेद	...	३२
कला-विवेचन	...	३५-६३
कला का स्वरूप-निरूपण	...	३५
कुछ अन्य पाश्चात्य विचार	...	४०
क्रोचे के कला सम्बन्धी विचार	...	४०
कला के सम्बन्ध में हिन्दी विद्वानों का मत	...	४१
समस्त मतों की आलोचना और निष्कर्ष	...	४२
कला सौन्दर्य की अभिव्यंजना है	...	४३
भारतीय विद्वानों के सौन्दर्य सम्बन्धी मत	...	४४
हिन्दी विद्वानों के सौन्दर्य सम्बन्धी मत	...	४५
सब मतों की आलोचना और निष्कर्ष	...	४६
कला और जीवन	...	४८
कला के लक्ष्य या प्रयोजन के सम्बन्ध में		
पाश्चात्य विद्वानों के मत	...	५०
✓ कला कला के लिए	...	५१
विविध कलाएँ तथा उनका वर्गीकरण	...	५८
उपयोगी और ललित कलाएँ	...	६०

काव्य	...	६४-३६४
महत्त्व	...	६४
हिन्दी विद्वानों द्वारा काव्य स्वरूप का निरूपण	...	६८
बुद्धि तत्त्व	...	७६
भाव तत्त्व	...	८०
कल्पना तत्त्व	...	८५
कल्पना के सम्बन्ध में दार्शनिक कान्ट का मत	...	८६
कॉलरिज का कल्पना सम्बन्धी मत	...	८६
क्रोचे का कल्पना सम्बन्धी मत	...	८७
भारत में कल्पना पर विचार	...	९०
डा० श्यामसुन्दर दास का मत	...	९२
गुलाबराय का कल्पना पर मत	...	९३
उपर्युक्त समस्त मतों की आलोचना और सार	...	९४
कल्पना और रस तत्त्व	...	९६
शैली तत्त्व	...	९७
पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया शैली का विवेचन	...	९८
भारत में शैली पर विचार	...	१०५
भाषा का महत्त्व	...	११०
भावपक्ष और कलापक्ष	...	१२३
भावपक्ष	...	१२४
काव्य और क्रोचे का अभिव्यंजनावाद	...	१३०
वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का अन्तर	...	१३४
काव्य में आदर्शवाद	...	१३६
यथार्थवाद	...	१३९
सत्यं शिवं सुन्दरम्	...	१४२
काव्य की प्रेरक शक्तियाँ	...	१५२
काव्य-प्रयोजन	...	१६०
काव्य के भेद	...	१६९
हिन्दी आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य के भेद	...	१७४
पाश्चात्य काव्य-विभाजन	...	१७४
काव्य के वर्ण	...	१७७
रस-सामग्री	...	१७९
काव्य दोष	...	१८७
काव्य-दोषों के सम्बन्ध में अपना मत	...	१९०
अर्थ-दोष	...	१९४

वर्णन-दोष	...	१६८
रस-सम्प्रदाय	...	१६८
साहित्य में रस का महत्त्व	...	१६९
साधारणीकरण	...	२१०
हिन्दी आचार्यों द्वारा साधारणीकरण के सिद्धान्त की मीमांसा	...	२१५
भाव और रस में अन्तर	...	२२१
रस सम्बन्धी काव्य-दोषों की व्यापकता और उनके परिहार के उपाय	...	२२७
रस और ध्वनि का सम्बन्ध	...	२२९
शृङ्गार रस	...	२३२
शृङ्गार रस का शास्त्रीय रूप	...	२३५
संयोग शृङ्गार	...	२३८
संयोग में प्रणय-लीला	...	२४२
करुण रस	...	२४६
अद्भुत रस	...	२४९
हास्य रस	...	२५०
रौद्र रस	...	२५१
वीर रस	...	२५१
भयानक रस	...	२५२
वीभत्स रस	...	२५२
भक्ति रस	...	२५३
वात्सल्य रस	...	२५५
शान्त रस	...	२५५
ध्वनि सम्प्रदाय	...	२५७
ध्वनि सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास	...	२६०
ध्वनि सिद्धान्त के पूर्व की शब्दशक्तियाँ	...	२६०
व्यंजनावृत्ति का विवेचन	...	२६४
ध्वनि और वक्रोक्ति	...	२६४
ध्वनि-प्रस्थापन	...	२६५
ध्वन्यालोककार के अनुसार ध्वनि-विरोधियों का खण्डन और ध्वनिमत का प्रस्थापन	...	२६६
आचार्य मम्मट द्वारा ध्वनि-प्रस्थापन	...	२६८
असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के आठ भेद	...	२७६
अलंकार सम्प्रदाय	...	२८३
प्रसिद्ध अलंकारों के लक्षण और उदाहरण	...	३००

शब्दालंकार	...	३००
अर्थालंकार	...	३०४
दृष्टान्त और उदाहरण अलंकार का अन्तर	...	३०८
उपमालंकार	...	३२५
कुछ पाश्चात्य अलंकार	...	३२६
रीति सम्प्रदाय	...	३२७
प्रमुख गुणों के लक्षण	...	३३०
प्रमुख रीतियों की स्वरूप-व्याख्या	...	३३२
रीति और वृत्ति	...	३३५
वृत्ति	...	३४३
चमत्कार सम्प्रदाय	...	३५१
विक्रीकृति सम्प्रदाय	...	३५४
औचित्य सम्प्रदाय	...	३५६
भारतीय काव्यशास्त्र का विकास-क्रम	...	३६५-३८७
संस्कृत काव्यशास्त्र	...	३६५
हिन्दी साहित्य शास्त्र का विकास	...	३८१

: १ : साहित्य

व्याख्या और स्वरूप

साहित्य शब्द बड़ा ही व्यापक है। इससे समस्त जीवन की अभिव्यक्ति और सम्पूर्ण ज्ञान की चेतना का बोध होता है। समस्त जीवन और सम्पूर्ण ज्ञान को आत्मसात् कर प्रत्यक्ष शब्द-चित्रों में संजोने की शक्ति किसी एक व्यक्ति, एक जाति और एक समाज में संभव नहीं होती। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाज अपने-अपने साहित्य का विकास अपने-अपने ढंग पर करता है। इस विकास-वैषम्य के कारण ही साहित्य के स्वरूप की कोई एक पूर्ण निश्चित व्याख्या न तो उपलब्ध ही है और न निरूपित ही की जा सकती है। किन्तु मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह किसी भी वस्तु का स्वरूप निरूपण किये बिना नहीं रह सकता। मानव-स्वभाव की इसी सामान्य प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विभिन्न देशों, विभिन्न समयों में होने वाले साहित्याचार्यों ने साहित्य को परिभाषाबद्ध करने की चेष्टा की है। ये परिभाषाएँ अधिकतर आचार्यों की अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप होने के कारण एकपक्षीय और एकांगी हैं। फिर भी साहित्य के स्वरूप का परिचय पाने के लिए इन परिभाषाओं का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। यहाँ पर हम संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के प्रसिद्ध आचार्यों द्वारा दी गई साहित्य की परिभाषाओं का ही उल्लेख करेंगे। पुनश्च उनके प्रकाश में साहित्य के सम्पूर्ण कलेवर पर प्रकाश डालेंगे।

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति—साहित्य शब्द संस्कृत के सहित शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। सहित का अर्थ है विविध वस्तुओं का मिलन या मेलन। कुछ लोग इसका अर्थ कल्याण सहित भी करते हैं। साहित्य के मूल में एकत्रीकरण और कल्याण दोनों की भावनाएँ सन्निहित रहती हैं। अतएव हम सहित शब्द के दोनों ही अर्थ स्वीकार करते हैं। संस्कृत में इसका व्युत्पत्तिमूलक विग्रह 'सहितस्यभावः साहित्यम्' लिखकर किया जाता है, इस विग्रह के अनुसार साहित्य उस रचना को कहेंगे जिसमें एक में ही अनेक वस्तुएँ समाहित की गई हों। ये वस्तुएँ और कुछ नहीं साहित्यकार के भाव और विचार ही हैं। इस प्रकार संस्कृत में दिए गए साहित्य के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के आधार पर उसे साहित्यकार के भावों और विचारों का चारुचयन या शब्द और अर्थ का चारु समन्वय कहा जा सकता है।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों में दी गई साहित्य की परिभाषाएँ—संस्कृत ग्रन्थों में साहित्य और काव्य को पर्यायवाची माना गया है। संभवतः इसीलिए संस्कृत के प्राचीन

आचार्यों ने साहित्य की स्वतन्त्र परिभाषाएँ बहुत कम दी हैं। मैं साहित्य को काव्य का व्यापकतम रूप मानता हूँ। इसीलिए इस ग्रन्थ में साहित्य और काव्य का विवेचन अलग-अलग किया गया है। अतएव साहित्य की परिभाषा के अन्तर्गत हम संस्कृत आचार्यों के द्वारा दी गई काव्य परिभाषाओं का समावेश करना उचित नहीं समझते। उनका उल्लेख काव्य के स्वरूप और सिद्धान्तों का विवेचन करते समय स्वतन्त्र रूप से किया जायेगा। यहाँ पर केवल साहित्य की परिभाषाओं पर ही विचार करेंगे। संस्कृत के निम्नलिखित ग्रन्थों में साहित्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

आद्य विवेक^१—इस ग्रन्थ के रचयिता रुद्रधर ने साहित्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

‘परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेक क्रियान्वयित्वं साहित्यम्’ अर्थात् परस्पर सापेक्षित तुल्य कोटि की वस्तुओं के संग्रह को साहित्य कहते हैं। इस परिभाषा के आधार पर साहित्य किसी भाषा विशेष के विविध प्रकार के विविध विषयों पर लिखे गए ग्रन्थ समूह को कहेंगे। ‘शब्दशक्ति प्रकाशिका’ और ‘विक्रमाङ्कदेव चरित’ नामक ग्रन्थों में भी साहित्य की व्याख्या इसी अर्थ में की गई है।

शब्दशक्ति प्रकाशिका^२—इस ग्रन्थ में ‘तुल्यवदेक क्रियान्वयित्वम् वृद्धि विशेष विषयित्वम् साहित्यम्’ लिखकर साहित्य विषयक उपर्युक्त अर्थ का ही समर्थन किया गया है।

विक्रमाङ्कदेव चरित^३—इस ग्रन्थ में भी महाकवि विल्हण ने साहित्य शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के ग्रन्थ समूह के अर्थ में ही किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य शब्द संस्कृत विद्वानों की दृष्टि में भी काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक था।

संस्कृत काव्य शास्त्र में साहित्य की स्वरूप-व्याख्या—संस्कृत में साहित्य के स्वरूप की मीमांसा विशेष रूप से तीन आचार्यों ने की है—कुन्तक, राजशेखर और भोज। इनके अतिरिक्त काव्य के अभिधान से उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास और भी अनेक संस्कृत आचार्यों ने किया है। उनकी विवेचना हम काव्य के प्रसंग में करेंगे। यहाँ पर हम अपने को केवल उन्हीं परिभाषाओं तक ही सीमित रखेंगे जो साहित्य शब्द को लेकर लिखी गई हैं।

आचार्य कुन्तक कृत साहित्य की परिभाषा—इन्होंने वक्रोक्ति जीवित नामक ग्रन्थ में लिखा है कि किसी भी विद्वान् ने अभी तक साहित्य के परमार्थ की व्याख्या

१. आद्यविवेक—रुद्रधर, पृ० १८ देखिए।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, भूमिका पृ० २—कन्हैयालाल पोद्दार।

३. विक्रमाङ्कदेव चरित १।११।

नहीं की है। वह कार्य आज मेरे द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है।^१ इससे प्रकट है कि इन से पहले किसी भी आचार्य ने साहित्य को परिभाषाबद्ध नहीं किया था। इसकी विवेचना काव्य के अभिधान से ही की जाती रही है। यही पहले आचार्य थे जिन्होंने साहित्य शब्द की स्वतन्त्र व्याख्या प्रस्तुत की है। वह व्याख्या इस प्रकार है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काव्यसौ ।

अन्यूनानतिरिक्तत्व—मनोहारिष्यवस्थितिः ॥ व० जी० १।१७

अर्थात् साहित्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ की परस्पर स्पष्टामय मनो-हारिणी श्लाघनीय स्थिति हो। वास्तव में साहित्य की वाचक की वाचकान्तर के साथ और वाच्य की वाच्यान्तर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष और उत्कर्ष न होकर समान रूप में स्थिति होती है।

आचार्य राजशेखर कृत साहित्य के स्वरूप की परिभाषा—आचार्य राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में साहित्य की विवेचना करते हुए लिखा है—“पंचमी साहित्य विद्या” इति यायावरीयः। साहि चतसृणामपि विद्यानां निष्पन्दः आभिर्द्वर्मा-थौ यद्विद्यात्र द्विद्यानां विद्यात्वम्।

अर्थात् साहित्य एक पाँचवीं विद्या है जो उपर्युक्त चार विद्याओं का सार है। इन्होंने जिन चार विद्याओं का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड नीति। साहित्य का यह विवेचन अधिक स्पष्ट नहीं है। उसकी उन्होंने एक दूसरे स्थल पर स्वरूप व्याख्या की है। वह इस प्रकार है—शब्दार्थयोर्य-थावत् सह भावेन विद्या साहित्य विद्या—अर्थात् साहित्य वह विद्या है जिसमें शब्द और अर्थ का समुचित सहभाव रहता है। शब्द और अर्थ के समुचित सहभाव से संभवतः राजशेखर का वही तात्पर्य था जिसकी अभिव्यक्ति ऊपर कुन्तक ने, ‘साहित्य-मनयोः’ इत्यादि लिखकर की है।

आचार्य भोज कृत साहित्य स्वरूप निरूपण—आचार्य राजशेखर के पश्चात् होने वाले आचार्य भोज ने शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव की चर्चा १२ प्रकार के सम्बन्धों के सहारे की है। उनकी साहित्य की व्याख्या इस प्रकार है—“अभिधा—विवक्षा—तात्पर्य—प्रविभागः—व्यपेक्षा—सामर्थ्य—अन्वय—एकार्थी भाव—दोष-हान—गुणोपादान—अलंकार योगः—रसावियोगरूपाः—शब्दार्थयोः द्वादश संबंधाः साहित्यम्—इति उच्यते”।

१. यद्विदं साहित्यं नाम तद् एतावति निस्सीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्द-मात्रेण प्रसिद्धम्। न पुनरेतस्य कश्चिन्न—कौशल काष्ठाधिकृष्टि रमणीयस्य—अद्यापि कश्चिदपि विपश्चित् ‘अयमस्य परमार्थः’ इति मनाद् नामान्नपि विचारपदमवतीर्थः। तदद्य सरस्वती हृदयारविन्दमकरन्दबिन्दु कन्दोर्ह सुन्दराणां सत्कविचक्षताम् अन्तरामोद भ्रानोदरत्वेन परिस्फुरद् एतत् सहृदयवदपदचरणयोचरतां नीयते।

—भारतीय साहित्य शास्त्र से (वक्रोक्ति जीवित)

अर्थात् साहित्य शब्द और अर्थ के १२ प्रकार के सम्बन्धों का नाम है। इनमें से प्रथम ८ सम्बन्ध शब्द और वाक्य के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। अन्तिम चार सम्बन्ध साहित्य स्वरूपगत विशेषताओं के परिगणन से सम्बन्धित हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्र कृत साहित्य की व्याख्या—महाकवि रवीन्द्र ने बंगला में 'साहित्य' शीर्षक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में उन्होंने साहित्य के स्वरूप की सुन्दर व्याख्या की है। उस व्याख्या का अविकल हिन्दी रूप इस प्रकार है—“सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति हुई है, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है, यही नहीं वरन् यह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का मिलन कैसा होता है।” कवीन्द्र रवीन्द्र की उपर्युक्त परिभाषा संस्कृत ग्रन्थों में प्राप्त साहित्य शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या से विशेष प्रभावित प्रतीत होती है। इतना होते हुए भी इसमें एक नवीनता और मौलिकता भी है। उपर्युक्त अवतरण में महाकवि ने ध्वनित किया है कि साहित्य में केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ ही योग नहीं होता है बल्कि इसमें समत्व और असमत्व के सामञ्जस्य-विधान की भी शक्ति रहती है। जैसे मनुष्य का मनुष्य के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ, दूर का निकट के साथ इसी प्रकार साहित्य विरोधात्मक तत्त्वों में अविरोध स्थापित कर सबको एक सूत्र में बाँधने का प्रयास करता है।

अंग्रेजी में साहित्य का स्वरूप-निरूपण—भारत के समान इंग्लैंड में भी साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की बहुमुखी चेष्टा की गई है। संस्कृत के आचार्यों की भाँति अंग्रेजी के आचार्यों में भी उसके स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य नहीं है। यहाँ पर संक्षेप में हम अंग्रेजी विद्वानों द्वारा दी गई साहित्य सम्बन्धी व्याख्याओं का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका की परिभाषा—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका अंग्रेजी का एक बहुत ही प्रामाणिक कोष है। उसमें साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के लिए व्यवहृत हो सकता है।

हेनरी हडसन—हेनरी हडसन ने 'Study of Literature' नामक एक प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में उन्होंने साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किए हैं वे इस प्रकार हैं—

“Literature is only one of the many channels in which the energy of age discharges itself in its political movement, a religious thought, Philosophical speculation and art. We have the same

energy overflowing into other forms of expression.” अर्थात् विभिन्न साधनों में साहित्य ही एक ऐसा साधन है जिसमें काल विशेष की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है। यही स्फूर्ति परिप्लावित होकर राजनैतिक आंदोलन, धार्मिक विचार, दर्शन और कला के रूप में प्रकट होती है।

मैथ्यू आर्नल्ड—मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य को जीवन की व्याख्या कहा है।

एम० जी० भाटे—एम० जी० भाटे ने ‘Literature and Literary Criticism’ नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें इसकी व्याख्या इस प्रकार दी गई है—“Literature is the music which streams out of the attempts of man attune himself to life on the key-board of language.” अर्थात् साहित्य वह संगीत है जो कि मानव के अन्तस्थल से इसलिए निःसृत होता है कि वह भाषा के माध्यम से जीवन के साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित कर सके।

हिन्दी विद्वानों द्वारा दी गई साहित्य की परिभाषाएँ—हिन्दी विद्वानों ने भी साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। कुछ प्रमुख हिन्दी के विद्वानों के मत इस प्रकार हैं—

महावीर प्रसाद द्विवेदी—आपने ‘साहित्य की महत्ता’ शीर्षक लेख के प्रारम्भ में साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—‘ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।’ साहित्य की यह परिभाषा अत्यधिक व्यापक है। मेरी समझ में साहित्य शब्द से इतने व्यापक अर्थ का बोध भी होता है।

श्यामसुन्दर दास—ब्राह्म श्यामसुन्दर दास ने साहित्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में माना है—

(क) छपी हुई रचना के अर्थ में—उनका मत है बोल-चाल में साहित्य शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(ख) कलामय पुस्तकों के रूप में—उनके मतानुसार कला-क्षेत्र में साहित्य शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता है।

मुंशी प्रेमचन्द—वे लिखते हैं—“साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गई हैं पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा ‘जीवन की आलोचना’ है, चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानी के या काव्य के; उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।”—‘कुछ विचार’; पृ० ६।

जयशङ्कर प्रसाद—प्रसाद जी साहित्य को काव्य का पर्यायवाची मानते थे। उन्होंने लिखा है—“काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का निश्चय नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है।”—काव्य कला और अन्य निबन्ध; पृ० ११।

इसी के आगे उन्होंने काव्य की व्याख्या भी की है। उसका उल्लेख ‘काव्य-विवेचन’ के प्रसंग में करेंगे। यहाँ केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि प्रसाद जी साहित्य का काव्य परक संकुचित अर्थ मानने के पक्ष में ही थे।

गुलाबराय—बाबू गुलाबराय ने साहित्य शब्द को संस्कृत की व्युत्पत्ति के आधार पर समझाने की चेष्टा की है। वे साहित्य शब्द का विग्रह “हितेन सह सहितम् तस्य भावः साहित्यम्” करते हैं। इस विग्रह के अनुसार साहित्य की आधारभूत चेतना मंगलभावना ठहरती है।

गुप्त जी—गुप्त जी ने साहित्य शब्द का प्रयोग कुतूहलोद्दीपक सामग्री के अर्थ में किया है—

“नयी नयी नाटक सत्ताएँ सूत्रधार करते हैं नित्य
और ऐन्द्रजालिक भी अपना भरते हैं नूतन साहित्य।”

समस्त मतों का निष्कर्ष और संक्षेप—यदि हम उपर्युक्त समस्त मतों का सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें पता चलेगा कि साहित्य शब्द अलग-अलग विद्वानों द्वारा कितने अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। संक्षेप में हम उनको इस प्रकार लिख सकते हैं—

(१) काव्य के अर्थ में (राजशेखर, मुकुल भट्ट तथा प्रतिहारेन्दुराज आदि)

(२) भाषा विशेष के समस्त विषयों के ग्रंथ समूह के लिए (विल्हण)

(३) संचित ज्ञान-राशि के अर्थ में (महावीर प्रसाद द्विवेदी)

(४) कल्याण विधायिनी ज्ञान-राशि के अर्थ में (गुलाबराय)

(५) सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिवद्ध अभिव्यक्ति के अर्थ में (इन्साइ-क्लोपीडिया ब्रिटानिका)।

(६) युग विशेष को जाग्रति और स्फूर्ति प्रदान करने वाले साधन के अर्थ में (हेनरी हडसन)।

(७) अलंकारशास्त्र के अर्थ में (राजशेखर)।

(८) लिखित पुस्तक के अर्थ में (श्यामसुन्दर दास)।

(९) कलामय पुस्तक के अर्थ में (श्यामसुन्दर दास)।

(१०) द्वन्द्वों के बीच सामञ्जस्य विधान करने वाली शक्ति के अर्थ में (रवीन्द्रनाथ)।

(११) कुतूहलोत्पादक सामग्री के अर्थ में।

उपर्युक्त समस्त मतों की समीक्षा और साहित्य का रूप-विधान—साहित्य सम्बन्धी उपर्युक्त मतों के उद्धरण से यह बात पूर्णतया स्पष्ट है कि साहित्य शब्द बहुत व्यापक है। उसे संपूर्णता में ग्रहण कर अभिव्यक्त करना थोड़ा कठिन है। इसलिए उसके जिस पक्ष पर जिसकी दृष्टि पड़ी उसने उसके उसी स्वरूप की व्याख्या कर दी। यदि हम समस्त मतों को दृष्टिकोण में रखकर साहित्य की रूपरेखा बनाएँ तो हमें कहना पड़ेगा कि साहित्य जीवन और जगत के गत्यात्मक सौन्दर्य की वह भावमयी भाँकी है जिनके सहारे नित्य नवीन आनन्द और कल्याण का विधान होता है। उपचार के सहारे कभी-कभी उन वस्तुओं को, जिसमें इसकी प्रतिष्ठा की जाती है, साहित्य कहते हैं। वास्तव में साहित्य की ज्ञान के सदृश एक अखण्ड सत्ता है, जिसकी अभिव्यक्ति खण्डों में ही हो पाती है। इसीलिए वह पूर्ण नहीं होती। इन्हीं खण्डों को विविध अभिधान दे दिए गए

हैं, जो कभी काव्य के नाम से, कभी अलंकारशास्त्र के अभिधान से और कभी ग्रन्थों के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। साहित्य का स्वरूप साहित्य की मूल प्रवृत्तियों के विवेचन से और भी स्पष्ट हो जाएगा।

साहित्य की मूलभूत प्रेरक प्रवृत्तियाँ और प्रयोजन

हडसन ने साहित्य को जन्म देने वाली चार मूलभूत प्रवृत्तियाँ मानी हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. Our desire for self-expression अर्थात् आत्माभिव्यक्ति की कामना।

२. Our interest in people and their doings अर्थात् मनुष्य और उनके कार्यों के प्रति हमारा लगाव।

३. Our interest in the world of reality in which we live and in the world of imagination which we conjure in to existence अर्थात् यथार्थ जगत् के प्रति हमारा आकर्षण और कल्पना जगत् के निर्माण की प्रवृत्ति।

४. Our love of form as form अर्थात् रूप-विधान की कामना।

उपर्युक्त चार मूल प्रेरणाओं के अतिरिक्त साहित्य को जन्म देने वाली कुछ और बातें भी हो सकती हैं। हमारी समझ में साहित्य की मूलभूत प्रवृत्ति अनेकता में एकता स्थापित करने की और एकता में अनेकता देखने की कामना है। संस्कृत में साहित्य शब्द का जो व्युत्पत्तिमूलक विग्रह किया जाता है उससे भी इस बात की व्यञ्जना होती है। साहित्य को जन्म देने वाली एक प्रवृत्ति और है। मानव ज्यों-ज्यों सम्य होता जाता है त्यों-त्यों उसकी अभिरुचि भी परिष्कृत होती जाती है। उसकी रुचि जितनी परिष्कृत होती जाती है उसका साहित्य भी उतना ही उदात्त होता जाता है। रुचि-परिष्करण की यह भावना भी सत्साहित्य के निर्माण में वर्तमान रहती है। साहित्य-सर्जना बहुत कुछ मानव की सत्य-निष्ठा से भी प्रणोदित होती है। जीवन-सत्यों को सुन्दर से सुन्दर ढंग, सुन्दर से सुन्दर रूप में साहित्य ही प्रस्तुत करता है। इससे यह भी प्रकट है कि मानव की सत्य निष्ठा ने भी साहित्य-सर्जना में योग दिया है।

साहित्योत्पत्ति का एक कारण तन्मयता भी होती है। जिस प्रकार विज्ञान के मूल में जिगीषा की भावना रहती है उसी प्रकार साहित्य के मूल में तन्मयता की भावना काम करती है। आदिमानव ने जब सृष्टि के अभिनव पदार्थ पहले-पहल देखे होंगे तो वह उन्हें देखकर विस्मयाभिभूत हुआ ही होगा। इस विस्मयाभिभूति के पश्चात् रमणीय पदार्थों ने उसकी बुद्धि और चेतना को तन्मय कर लिया होगा। तन्मयता की इसी स्थिति से जगकर वह अपनी अनुभूतियों को काव्य, नाटक, कहानी आदि आदि विविध साहित्य-विधानों में व्यक्त करने के लिए आकुल हो उठा होगा। आज का साहित्य उसकी आकुलता का लिपिबद्ध इतिहास कहा जा सकता है। इसे चाहे हम ज्ञान राशि का संचित कोष कहें, चाहे काव्य कहें और चाहे कोई अभिधान दें किन्तु तन्मयता की स्थिति में उद्भूत भावनाओं की साकार अभिव्यक्ति साहित्य ही कहलाएगी।

हमने साहित्य की परिभाषा में जीवन और जगत् को भी बाँधने की चेष्टा की है। साहित्य-सर्जना में जीवन और जगत् का द्विमुखी प्रभाव दिखलाई पड़ता है एक समाज का दूसरे जीवन की प्रेरणाओं का। समाज पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है इस विषय को लेकर पाश्चात्यों ने बहुत विचार-विमर्श किया है। दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर सर्वप्रथम प्रकाश डालने का श्रेय ग्रीक आचार्य हेरोडोटस को दिया जाता है। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी में टेन नामक आचार्य ने भी इस दिशा में अच्छा अध्ययन किया है। इनके प्रतिरिक्त कौड्वैल नामक विद्वान ने अपने *Illusion and Reality : A Study of Sources of Poetry* नामक रचना में तथा रैल्फ फॉक्स ने *The Novel and the People* नामक पुस्तक में तथा मनरो ने *The Novel and the Society* नामक ग्रंथ में साहित्य और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की बड़ी सूक्ष्म और अनुसन्धानपूर्ण व्याख्या की है और यह प्रमाणित कर दिया है कि साहित्य को जीवन और जगत् से निर्वक्ष कर के निरूपित नहीं कर सकते। सही तो यह है कि साहित्य जीवन और जगत् से ही चेतना ग्रहण करता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य की प्रेरणाएँ वे ही होंगी जो जीवन की प्रेरणाएँ कही जाती हैं। जीवन की प्रेरणाओं के सम्बन्ध में हमारे यहाँ उपनिषद् ग्रन्थों में सारपूर्ण बातें कही गई हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में तो जीवन की उन प्रेरणाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार वे प्रेरणाएँ प्रधान रूप से तीन हैं—पुत्रपणा—वित्तपणा—लोकपणा। साहित्य की उद्भावना में यह त्रिविध एषणाएँ भी सहायक होती हैं। किन्तु इन प्रेरणाओं को हम मुख्य न मानकर गौण ही कहेंगे। योरोपीय विद्वानों ने जीवन की प्रेरणाओं पर और भी विस्तार से विचार किया है। इनमें फ्रायड, एडलर, युंग आदि के मत विचारणीय हैं। फ्रायड ने जीवन की समस्त क्रियाओं की मूल प्रेरक भावना वासना ही मानी है। उताका मत है कि साहित्य की आधार भूमि भी वासना ही है। अन्तर केवल इतना है कि साहित्य में जिस वासना की अभिव्यक्ति होती है और जो उसे प्रेरित करती है वह थोड़ा दैनिक जीवन की वासना से परिष्कृत होती है। हमारी समझ में इसका कारण यह है कि साहित्य को चेतना देने वाली वासनाएँ साहित्यकार की प्रतिभा से प्रभावित रहती हैं। फ्रायड के ही समान एक भारतीय विद्वान् ने भी—साहित्य की अभिव्यक्ति का मूल प्रेरक आदि रस ही माना है। यह आदि रस और कुछ नहीं वासना ही है। कालिदास ने भी—“क्रियाणाम् खलु धर्माणाम् सत्पत्यो मूलकारणम्” लिखकर मानों इस बात की पूर्ति की है। एक दूसरे पाश्चात्य विद्वान् एडलर ने अभाव या क्षति की पूर्ति को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। यह अभाव या क्षति-पूर्ति की भावना साहित्योत्पत्ति में भी गौण रूप से सहायक होती है। इस बात के प्रमाण के रूप में मिल्टन और सूरदास उद्धृत किए जा सकते हैं। उन्हें दृष्टि का अभाव था। उस अभाव की पूर्ति उन्होंने कल्पनामूलक दृष्टि से की है। इसी कल्पनामूलक दृष्टि की सहायता से ही वे इतने सरस साहित्य का सृजन कर सके थे। जायसी जैसे सरस और भावुक कवि के सम्बन्ध

में भी यह बात लागू हो सकती है। वे एक नयन होने के कारण ही शायद इतने गुणी थे। उन्होंने तो एडलर के उपर्युक्त मत को दूसरे ढंग से स्वीकार भी कर लिया है। वह लिखते हैं—

“चाँद जँस जग विधि अवतारा । दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा ।”

एडलर के इस सिद्धान्त के मूल में हमें प्रभुत्व-कामना की प्रवृत्ति जागरूक दिखाई पड़ती है। जिन लोगों में यह प्रवृत्ति जितनी तीव्र होती है सम्भवतः उनकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रबल होती है। वे ही साहित्य-क्षेत्र में भी महान् कार्य कर पाते हैं। सम्भवतः यही कारण है कि विश्व के महान् प्रतिभाशाली कवियों और विद्वानों ने अपनी प्रशंसा स्वयं की है। कालिदास का ‘पुराणमित्येव न साधु सर्व’ वाला श्लोक अपनी रचना की महानता के प्रति उनका जो अखंड विश्वास था उसी की सोर संकेत करता है। शेक्सपियर ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि राजाओं के राजमहल ढह जाएँगे किन्तु उसकी वाणी फिर भी अमर रहेगी। संस्कृत के महाकवि भवभूति की ‘इयंदेवी बागवश्येवानुवर्तते’ वाली बात प्रसिद्ध ही है। ‘कवित विवेक एक नहीं मोरे’; ‘कवि न होऊँ नहिं चतुर कहाउँ’ जैसा विनय-भाव प्रगट करने वाले बाबाजी में भी अपने काव्य के प्रति कम अहम्मन्यता नहीं थी। अपने मानस में उन्होंने स्पष्ट घोषित किया है कि वह उन लोगों के लिए, जो कि न तो काव्य-मर्मज्ञ हैं और न भक्त ही, कोरी हास्यास्पद रचना होगी।

“कवित विवेक न रामपद नेहु । तिन कहँ सुखद हासरस एहु ।”

इस प्रकार स्पष्ट है किसी हीनता भाव से उत्पन्न होने वाली किसी भी प्रकार के प्रभुत्व की भावना भी साहित्य की एक प्रधान प्रेरिका हो सकती है।

एक दूसरे अंग्रेज विद्वान् युंग ने इन दोनों मतों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। उनका मत है कि साहित्य का जन्म काम-वासना और प्रभुत्व-कामना इन दोनों प्रवृत्तियों की प्रेरणा से ही होता है।

बाबू गुलाबराय ने उपर्युक्त मत को ही भारतीय दृष्टिकोण से समझाने की चेष्टा की है। उनके मतानुसार त्रिविध एषणाएँ ही साहित्य की मूल प्रेरिका होती हैं। अपने इस कथन की पुष्टि उन्होंने बृहदारण्यकोपनिषद् के एक उद्धरण से की है। जो भी हो इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यदि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है तो यह त्रिविध एषणाएँ भी उसे किसी न किसी रूप में बल अवश्य प्रदान करेंगी।

साहित्य के निर्माण में एक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति कार्य करती हुई दिखाई पड़ती है। सम्य मानव प्रायः अपने स्वार्थों को परार्थ के आवरण में छिपाकर व्यक्त करना चाहता है। साहित्य की उद्भावना में मानव की यह प्रवृत्ति भी प्रच्छन्न रूप से क्रियाशील रहती है। इसीलिए उससे स्वार्थ और परार्थ दोनों की सिद्धि होती है।

साहित्य-सृजन की प्रेरणाओं के अन्तर्गत हम साहित्य-प्रयोजनों पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य पर विवेचन करते हुए इन प्रयोजनों पर विस्तार से विचार किया है। इस दिशा में सबसे प्रथम नाट्यशास्त्र विचारणीय

है। नाटक साहित्य का प्रधान स्वरूप है। उसको जन्म देने वाली प्रवृत्तियाँ साहित्य के मूल में भी पाई जाती हैं। उसमें इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

“धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां वमक्रिया ॥
क्लीवानां धाढ्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम् ।
अबुधानां विबोधश्च वेदुष्यं विदुषामपि ॥
दुःखार्तानां श्रमातानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्बुविष्यति ॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविबद्धनम् ।
वेदविज्ञेतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ॥”

—नाट्यशास्त्र १।१०६, ११०, ११४, ११५ ।

उपर्युक्त पंक्तियों का भावार्थ यह है कि काव्य केवल मनोरञ्जन का ही विधान नहीं करता वरन् उसमें धार्मिक, नैतिक और साहित्यिक प्रेरणाएँ भी पाई जाती हैं। वह कायरों को साहस प्रदान करता है, वीरजनों को उत्साह वितरण करता है, शोकार्त उससे सान्त्वना पाते हैं, उद्विग्न चित्त वालों को शान्ति मिलती है, इत्यादि। रुद्रट ने तो काव्य या साहित्य से अखिल वस्तुओं की प्राप्ति बतलाई है।

भामह ने उसे अर्थ, धर्म और काम के अतिरिक्त मोक्ष का साधन भी कहा है। मम्मट ने इन प्रयोजनों की अच्छी सूची दी है।

“काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मिततथोपदेशयुजे ॥”

अर्थात् काव्य यश के लिए, अर्थ के लिए, व्यवहार ज्ञान के लिए, कल्याण के लिए, सद्यः शान्ति प्रदान के लिए और कान्ता सदृश उपदेश के हेतु लिखा जाता है। इसी प्रकार संस्कृत के अनेक आचार्यों ने काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए साहित्य के प्रयोजनों का भी उल्लेख कर दिया है। काव्य के प्रसंग में उन पर विस्तार से विचार करेंगे। संक्षेप में साहित्य-सर्जना की प्रेरणा देने वाली मुख्य बातें यही हैं।^१

साहित्य और कला

साहित्य वास्तव में एक सुन्दर कला है। इस सम्बन्ध में थोड़ा सा मतभेद हो सकता है। बहुत सम्भव है उसे कुछ लोग कला न भी स्वीकार करें। अपने पक्ष की पुष्टि में वे भारतीय दृष्टिकोण की ओर संकेत कर सकते हैं। उस दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति ‘साहित्य संगीत कला विहीनः’ वाले प्रसिद्ध श्लोक में हुई है। किन्तु अब यह मत बहुत सशक्त नहीं समझा जाता है और साहित्य को भारतीय तथा पाश्चात्य सभी विद्वान कला ही मानते हैं।

कला और साहित्य दोनों की जननी एक ही भावना है। वह है तन्मयता

१. देखिए ‘कला के प्रयोजन और प्रेरणाएँ’ इसी अध्याय में।

की। सौन्दर्य-प्रेमी मानव सौन्दर्य को देखकर मुग्ध होता है। वह उससे कभी-कभी इतना अधिक प्रभावित होता है कि अपनत्व को भूलकर तन्मय हो जाता है। इस तन्मयता की स्थिति से जगकर वह अपनी सौन्दर्यानुभूतियों को सजीव से सजीव रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इस प्रयास का इतिहास ही कला के विकास का इतिहास है। जब तन्मयता की स्थिति का चित्रण 'अहं' की सीमा में सीमित कर दिया जाता है तभी साहित्य का उदय होता है। अहं का अर्थ है अ से लेकर ह तक वर्ण परिवार। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि साहित्य एक सुन्दर कला है जिसकी अभिव्यक्ति वर्णों के माध्यम से की जाती है।

अब विचारणीय यह है कि साहित्य मूर्त कला है या अमूर्त। प्लेटो ने इसे संगीत से सम्बन्धित बतलाया है। संगीत अमूर्त कला है। अतएव साहित्य भी अमूर्त कला ही समझा जाने लगा। हमारी समझ में साहित्य कला मूर्त और अमूर्त दोनों के बीच की वस्तु है। उसकी अभिव्यक्ति वर्णों के सहारे होती है। इस दृष्टि से तो वह मूर्त कही जा सकती है। उसकी चेतना अनुभूतिमात्र की वस्तु है। इस दृष्टि से उसे हम अमूर्त कह सकते हैं। इस प्रकार हमारी दृष्टि में साहित्य मूर्त और अमूर्त दोनों के मध्य की कला है।

शिवसूत्र विमर्जिनी में कला के स्वरूप का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है, 'कलयति स्वरूपावेशयति तदतद् वस्तु परिच्छिनन्ति इति कला व्यापारः।' इसकी टीका करते हुए टीकाकार ने लिखा है, अर्थात् 'नव नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी-सम्बन्धति' अर्थात् कला वह है जो वस्तुओं में या प्रमाता में स्व की आत्मा को परिमित रूप में प्रगट करती है। भवभूति ने कला के सद्गुण ही साहित्य या वाणी को भी आत्मा की कला कहा है, 'विन्देम देवताम् वाचममृताम् आत्मनः कलाम्'। कला और साहित्य के स्वरूप-विवेचन से पूर्णतया स्पष्ट है कि दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है, अतएव हम साहित्य को कला ही मानेंगे।

कुछ लोगों ने अभिव्यञ्जना को ही कला कहा है। उसे वे रूप की अभिव्यक्ति मात्र मानते हैं। मानव बाह्य जगत् के सम्पर्क से बहुत सी वस्तुओं के चित्र संचित करता रहता है। कला उन्हीं की फिर से अभिव्यक्ति किया करती है। साहित्य की प्रक्रिया भी बिल्कुल ऐसी ही है। साहित्यकार जीवन की विविध अनुभूतियों से प्रभावित होता है। उसके विविध चित्रों की अनुभूति करता है। वे सब उसके अन्तर्जगत् में प्रसुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। साहित्यकार अपनी कल्पना के सहारे समय-समय पर इन्हीं चित्रों का उद्घाटन करता है। इस दृष्टि से भी साहित्य को कला ही कहा जा सकता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने मन की तीन प्रधान क्रियाएँ कल्पित की हैं—ज्ञान, भावना और इच्छा। इन तीनों को हम क्रमशः बुद्धि, मन और चित्त की क्रियाएँ मानते हैं। कला और साहित्य का सम्बन्ध भावना नामक क्रिया से माना जाता है। इतना साम्य होने पर भी मानना होगा कि प्रत्येक कला साहित्य नहीं होती। हाँ, प्रत्येक साहित्य-कृति कला

अवश्य होगी। महादेवी^१ जी के शब्दों में “कला जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढ़ती है, अतः सम्पूर्ण जीवन को गला-पिघलाकर तर्क सूत्र में परिणत कर लेना उसका लक्ष्य नहीं हो सकता।” साहित्य कला की इस कमी को पूरा करता है। दोनों में यही मौलिक अन्तर है।

साहित्य और विज्ञान

साहित्य और विज्ञान मानवता के सांस्कृतिक विकास के दो भिन्न प्रतीक हैं। यद्यपि दोनों में स्वरूप और सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ मौलिक अन्तर है, तब भी दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आधुनिक युग विज्ञान का युग है; केवल व्यवहार जगत् ही नहीं, हमारा भाव जगत् भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता है। अतः साहित्य पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। वास्तव में साहित्य और विज्ञान दोनों के समन्वय में ही उनकी उन्नति निर्भर है। साहित्य मानव की विकसित बुद्धि से लाभ उठाकर अधिक आकर्षक और विज्ञान उसकी भावनाओं के सहयोग से अधिक उपयोगी बन सकता है। इतना होते हुए भी दोनों परस्पर पूर्णतया आश्रित नहीं कहे जा सकते। दोनों दो सहकारी किन्तु स्वतन्त्र विधाएँ हैं। कोट्टन नामक पश्चात्य विद्वान् ने इनके स्थूल भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया है—“In science reason is the guide, in poetry taste. The object of the one is truth which is uniform and indivisible; the object of the other is beauty which is multiform and varied.” अर्थात् विज्ञान का पथ-प्रदर्शक तथ्य-निरूपण है और काव्य का रस या आस्वादन। एक का लक्ष्य सत्य की खोज है जो कि एक रूप और अविभक्त होता है किन्तु दूसरे का लक्ष्य सौन्दर्य है जो कि अनेक रूपों में देखा जा सकता है।

साहित्य का सम्बन्ध कल्पना और भावना से होता है और विज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि और वैभव से। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि साहित्य यदि हृदय की कोमल वृत्तियों का मधुर उद्गार है—तो विज्ञान मस्तिष्क के बौद्धिक व्यापार का सत्य स्वरूप है। इसमें कल्पना का स्थान नहीं होता। साहित्यिक ऐहिक सत्यता या अनुभव को कल्पना के सहारे पारलौकिक सत्य के रूप में परिणत कर देता है। यथार्थ का अनुभव और आदर्श की कल्पना दोनों ही उसकी भावना-क्षेत्र की वस्तु हैं। वैज्ञानिक के लिए यथार्थ का अन्वेषण ही यथेष्ट होता है। वह वस्तुओं के गुण, स्वभाव और सम्बन्ध पर विचार करता है; उन्हें परस्पर मिलाता और उनका वर्गीकरण करता है। इस प्रकार वह उनकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण कर एक सिद्धान्त विशेष निर्धारित कर देता है।

साहित्य और विज्ञान के मूलभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं। साहित्य के मूल में तन्मयता की भावना रहती है। यह तन्मयता सौन्दर्यानुभूति और रागात्मक अनुभूति

से उत्पन्न होती है। जब हम पदार्थों के रूप और अवस्था से प्रभावित होकर तन्मय हो जाते हैं तभी साहित्य की सृष्टि होती है। बाह्य संसार की वस्तुओं को देखकर हमें द्रैतानुभूति होती है किन्तु भावुक कवि प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के बीच किसी सूक्ष्म रागात्मक सम्बन्ध का अनुभव करता है। उसे अनेकता में भी एकता दृष्टिगोचर होती है। विश्व के सम्पूर्ण सत् साहित्य में लोक-धर्म की यही भावना दिखलाई पड़ती है। इसके विपरीत विज्ञान की मूल भावना जिगीषा है। जिगीषा का अर्थ है किसी बाह्य वस्तु या पदार्थ को देखकर उसकी प्राकृतिक शक्ति को पराभूत करके उन्हें स्वायत्त कर लेने की कामना। इसी कामना के कारण साहित्य में प्रतिष्ठित दिव्य सौन्दर्य का विज्ञान में पूर्ण अभाव दिखलाई पड़ता है।

विज्ञान का युग उपादेयता और उपादेय (Survival of the fittest) का युग है किन्तु साहित्य का विषय कोई भी वस्तु हो सकती है। वैज्ञानिक नित्य नवीन अनुसन्धान करते जा रहे हैं जो प्राचीन अनुसन्धानों से अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अतः उसका नित्य नवीन प्रयोग उसके प्राचीन रूपों को नष्टप्रायः-सा करता जाता है। साहित्य के सम्बन्ध में इस प्रकार की भ्रान्त धारणा कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती। उसकी प्राचीनता और नवीनता में भी एक तारतम्य, एक सौन्दर्यात्मक और भावात्मक सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि साहित्य का सम्बन्ध मानव के मनोभावों से है। यही मनोभाव उनमें पारस्परिक एकता, सहानुभूति और आकर्षण उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। प्राचीन काल के असम्य समाज में भी वे किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। साहित्य इन्हीं मनोभावों की अभिव्यक्ति होने के कारण चिर नवीन और अजस्र और अखण्ड है। आज के वैज्ञानिक युग के समकक्ष यदि प्राचीन साहित्य न भी रखा जा सके किन्तु तुलसीदास द्वारा कथित उसका 'स्वान्तः सुखाय' वाला गुण उसे सर्वदेशीय और सर्वकालीन बनाने में समर्थ है। किसी भी देश में नित्य नवीन साहित्य की सृष्टि उसके साहित्य भण्डार की वृद्धि ही करेगी, विज्ञान के नवीन प्रयोगों के समान उसका क्षय नहीं कर सकती।

साहित्य और विज्ञान में एक और अन्तर है। विज्ञान पर बाह्य जगत् का प्रभाव अधिक है किन्तु साहित्य पर अन्तर्जगत का। पार्थिव समृद्धि की उत्पत्ति से विज्ञान की गति तीव्र होती है किन्तु साहित्य की धारा अभाव और कष्ट के प्रबल उद्रेक से फूटती है और आन्तरिक भावनाओं के साथ प्रवाहित होती है।

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और विज्ञान जीवन का विश्लेषण। J. S. Mill ने भी इसी बात को इस प्रकार लिखा है—

"The study of science teaches young men to think while study of the classics teaches them to express thought." वैज्ञानिक पदार्थों का विश्लेषण यथातथ्य रूप में करता है किन्तु साहित्यिक निर्जीव पदार्थों में भी चेतनता स्थापित कर अपनी भावनाओं के अनुरूप उनकी अभिव्यक्ति कर देता है। इस प्रकार साहित्य में कवि, पाठक यहाँ तक कि समस्त जगत में तादात्म्य स्थापित

करने की भावना निहित दिखलाई पड़ती है।

साहित्य में लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है किन्तु विज्ञान का वैज्ञानिक के व्यक्तित्व से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। इस दृष्टि से साहित्य आत्माभिव्यक्ति-प्रधान है और विज्ञान प्रकृति पदार्थों के तटस्थ विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है। वास्तव में साहित्य और विज्ञान ज्ञान की दो भिन्न-भिन्न विधाएँ हैं।

साहित्य के मूल तत्त्व

हडसन ने साहित्य के मूल तत्त्व चार माने हैं :

- (१) बुद्धि तत्त्व;
- (२) कल्पना तत्त्व;
- (३) भाव तत्त्व; और
- (४) शैली या रूप तत्त्व।

सत्साहित्य में यह सभी तत्त्व किसी न किसी मात्रा में वर्तमान रहते हैं। इन तत्त्वों का विस्तृत विवेचन तो काव्य पर विचार करते हुए किया जाएगा। यहाँ पर इतना ही कहना अपेक्षित है कि साहित्य का कोई भी तत्त्व एक से विरहित होकर साहित्य के अभिधान को प्राप्त नहीं हो सकता। यद्यपि साहित्य मानव की मधुमयी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में ही प्रयत्नवान दिखलाई देता है किन्तु उस अभिव्यक्ति को क्रमिक, संयत और गम्भीर रूप प्रदान करने का श्रेय बुद्धि तत्त्व को ही है। कल्पना उसमें सौन्दर्य का संचय करती है। यदि हम कहना चाहें तो बुद्धि तत्त्व, हृदय तत्त्व और कल्पना तत्त्व को क्रमशः सत्यं, शिवं और सुन्दरं का प्रतीक कह सकते हैं। सत्साहित्य में इन तीनों का होना परमावश्यक समझा जाता है। हमारी समझ में बुद्धि तत्त्व से साहित्य में शिवत्त्व की प्रतिष्ठा होती है, भाव तत्त्व उसे लोकोपहित की वस्तु बना देता है, कल्पना उसके स्वरूप को सँवारकर उसे सौन्दर्य प्रदान करती है। जिस साहित्य में इनमें से किसी एक तत्त्व का भी अभाव पाया जाता है वह साहित्य ही हेय होता है। श्रेष्ठ साहित्य में सत्यं शिवं सुन्दरं के समान ही बुद्धि तत्त्व, हृदय तत्त्व और कल्पना तत्त्व तीनों का सुन्दर सामञ्जस्य पाया जाता है। शैली तत्त्व इन तीनों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। साहित्य का बाह्य-रूप शैली है। अतएव हम उसकी उपेक्षा किसी भी प्रकार नहीं कर सकते। वास्तव में बुद्धि तत्त्व, भाव तत्त्व और कल्पना तत्त्व के संघात को साहित्य के रूप में ढालने का श्रेय शैली को ही होता है। इन तत्त्वों का विवेचन काव्य के प्रसंग में किया जावेगा। यहाँ पर इनका संकेत मात्र करना ही हमारा अभीष्ट है।

साहित्यकार और उसका व्यक्तित्व

बुद्धि तत्त्व, कल्पना तत्त्व और भाव तत्त्व के अतिरिक्त साहित्य में एक तत्त्व और पाया जाता है। वह है शैली तत्त्व। साहित्य अपने वास्तविक रूप को इसी तत्त्व के सहारे प्राप्त होता है। शैली ही साहित्य का सम्बन्ध साहित्यकार से बनाए रखती है। हडसन ने शैली के अन्तर्गत ही साहित्य के अन्य तीन तत्त्वों को समेटने की चेष्टा

की है। किन्तु अन्तर केवल इतना है कि कल्पना तत्त्व के स्थान पर उसने सौन्दर्यात्मक तत्त्व लिया है। उसके मतानुसार शैली के अन्तर्गत Intellectual Element या बद्धि तत्त्व, Emotional Element या भावात्मक तत्त्व, Esthetic Element या सौन्दर्यात्मक तत्त्व आते हैं। हम क्रमशः अलग-अलग तीनों तत्त्वों पर विचार करते हुए साहित्यकार का साहित्य से जो सम्बन्ध होता है उसे स्पष्ट करेंगे।

बुद्धि तत्त्व—साहित्य बुद्धि तत्त्व और हृदय तत्त्व की समन्वयात्मक सृष्टि कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य में भावों के साथ-साथ विचार भी पाए जाते हैं। इन विचारों का सम्बन्ध साहित्यकार के मस्तिष्क और व्यक्तित्व से अधिक होता है। साहित्यकार के जिस प्रकार के विचार होते हैं उसका साहित्य भी उसी कोटि का होता है। यदि हम किसी साधु की रचना की किसी लम्पट की रचना से तुलना करें या किसी बहुत बड़े विद्वान् की रचना से किसी साधारण व्यक्ति की रचना की तुलना करें तो हमें दोनों का अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। यह अन्तर भाव, कल्पना और शैली के अतिरिक्त विचारों का भी होगा। जिसके जैसे विचार होते हैं उसकी विचारधारा भी वैसी ही होती है। यह विचारधारा ही साहित्य में प्राणरूप से प्रतिष्ठित रहती है। यही कारण है कि यदि साहित्यकार आदर्शवादी और सात्विक है तो साहित्य में भी आदर्श और सात्विक विचारों की अभिव्यक्ति पाई जाएगी। उदाहरण के लिए हम रामचन्द्र शुक्ल को ले सकते हैं। उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक की बुद्धिवादिता उसकी रचना में विषय प्रतिपादन की तार्किकता और वैज्ञानिकता के रूप में भी व्यक्त हुआ करती है। यही कारण है कि आज की रचनाओं में हमें जितना अधिक वैज्ञानिक विवेचन मिलता है उतना पहले की रचनाओं में नहीं। आज का युग बुद्धिवादी है। युग के साथ व्यक्ति भी बुद्धिवादी है। साहित्यकार भी एक व्यक्ति होता है। उसकी रचना में उसके व्यक्तित्व की प्रधान विशेषता बुद्धिवादिता का पाया जाना स्वाभाविक है। यदि साहित्यकार इस युग का नहीं है अथवा किसी अन्य कारण से उसमें बुद्धिवादिता का अभाव है तो उसकी रचना में वह वैज्ञानिकता और तार्किकता नहीं मिलेगी जो आज के युग की विशेषता बन गई है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य का साहित्यकार की बुद्धि, मस्तिष्क और चिन्तना-शक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

भाव तत्त्व—शैली में बुद्धि तत्त्व के अतिरिक्त भाव तत्त्व भी वर्तमान रहता है। प्रत्येक मनुष्य के भावों, उनकी प्रक्रिया और स्वरूप में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर उसकी रचना तथा रचनागत शैली में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शैली का विवेचन करते समय इस विषय पर विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ पर हम इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व बुद्धि के माध्यम से ही नहीं, हृदय के माध्यम से भी अवतरित होता है।

सौन्दर्य तत्त्व—जिस प्रकार प्रत्येक मानव के मस्तिष्क और हृदय में विभेद पाया जाता है उसी प्रकार उसकी सौन्दर्यप्रियता की वृत्ति भी एक दूसरे से भिन्न होती

है। कोई मानव अधिक सौन्दर्य-प्रिय होता है कोई कम। सौन्दर्य का मापदण्ड भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। उसकी अनुभूति की प्रक्रिया भी अलग-अलग हो सकती है। साहित्यकार की रचना में भी इन सब बातों की छाया पड़ती है।

इस प्रकार संक्षेप में स्पष्ट है कि साहित्यकार की बुद्धि, उसका हृदय, उसकी अनुभूतियाँ उसकी रचनाओं को पूर्णतया प्रभावित करती हैं। तुलसीदास जी ने जहाँ पर काव्य-सृष्टि का रूपक बाँधा है वहाँ पर उन्होंने हृदय और बुद्धि दोनों को ही समेटने की चेष्टा की है। हृदय को वे सिन्धु के समान और बुद्धि को वे सीप के समान मानते थे। हृदयरूपी समुद्र में उत्पन्न होनेवाली बुद्धिरूपी सीप में भावरूपी मोती उत्पन्न होते हैं। इन भावरूपी मोतियों की माला ही साहित्य है। इससे प्रकट है कि तुलसीदास जी भी अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य और साहित्यकार में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे।

अंग्रेज विद्वानों ने तो इस सत्य का सतर्क मंडन किया है। हडसन नामक अंग्रेज विद्वान ने साहित्य और साहित्यकार के सम्बन्ध तथा उसकी मूल भित्ति का इस प्रकार वर्णन किया है—“For the intellectual emotional, and aesthetic qualities of any man's writing we shall have to go at bottom to all the personal qualities of his genius and character and thus the technical quality of his style become an aid of the individuality embodied in his work.” अर्थात् शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा सम्बन्धी और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं से प्रच्छन्न रूप से सम्बन्धित रहती हैं। इस प्रकार शैली का वैधानिक अध्ययन लेखक के शैलीगत व्यक्तित्व के अध्ययन में सहायक होता है। इससे यह स्पष्ट है कि शैली के विधान और लेखक के व्यक्तित्व में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इसी बात को मरे नामक विद्वान् ने दूसरे ढंग से कहा है—“We must look for the origin of the true style in a mode of emotional and intellectual experience which is peculiar to each individual writer.” अर्थात् हमें शैली के विकास के हेतु लेखक की भावात्मक और बौद्धिक अनुभूतियों के प्रकार की और ध्यान देना होगा क्योंकि यह प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य से साहित्यकार के व्यक्तित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आँस्कर वाइल्ड^१ ने तो यहाँ तक लिखा है कि कला का लक्ष्य कलाकार को अन्तर्निहित करना और कला का प्रकाशन करना है। इसका अर्थ यही है कि कला में कलाकार अन्तर्हित रहता है। कुछ विद्वान् बहु प्रयत्न करते हैं कि उनकी रचनाओं पर व्यक्तित्व की छाप न पड़े। प्रथम तो वे इस प्रयत्न में सफल ही नहीं होते और यदि किसी प्रकार सफल भी हो जाते हैं तो जिस मात्रा में वे इस प्रयत्न में सफल होते हैं उसी मात्रा में उनकी

१. Oscar Wilde in the Preface.—“The Picture of Dorian Gray.”

साहित्य-कृति असफल हो जाती है। अतएव हमें यह स्वीकार ही करना पड़ता है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व से साहित्य अवश्य प्रभावित रहता है।

भाषा और साहित्य

साहित्य भावना और विचारों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का उदय मानव की आत्माभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण होता है। आदिम मनुष्य की अस्फुट वाणी इसी आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति से प्रेरणा पाकर समय के प्रवाह में पड़ सुव्यवस्थित भाषा के रूप में विकसित होती देखी जाती है, यह भाषा ही साहित्य का बाह्य शरीर है। मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में जिस वाङ्मय पुरुष की कल्पना की है भाषा को उसका शरीर ही माना है। इससे साहित्य के लिए भाषा कितनी आवश्यक है यह बात पूर्णतया स्पष्ट है, किन्तु यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि साहित्य के लिए जिस भाषा की अपेक्षा होती है वह साधारण भाषा से भिन्न होगी। साहित्य प्रतिभाविशिष्ट और परिष्कृत आत्मानुभूति का सरस प्रत्यक्षीकरण होता है। भाषा का सुन्दर परिधान ही इस प्रत्यक्षीकरण को रमणीय रूप प्रदान कर सकता है। भाषा का यह परिधान सुन्दर तभी कहा जाएगा जबकि उसमें भावानुकूल अभिव्यञ्जना, सरसता, प्राञ्जलता, स्पष्टता, धारावाहिकता आदि कुछ साहित्योप-युक्त गुण होंगे। सच तो यह है कि साहित्य की साहित्यिकता बहुत कुछ भाषा की सशक्तता पर ही अवलम्बित रहती है। लौकिक साहित्य का तो अधिकांश सौन्दर्य उसकी भाषा की सुषमा का ही ऋणी होता है।

साहित्य और भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा को यदि हम परिभाषाबद्ध करना चाहें तो कहना पड़ेगा कि वह मनुष्य और मनुष्य के बीच भावों के आदान-प्रदान करने वाले सार्थक व्यवक्त ध्वनि-संकेतों को ही भाषा का अभिधान दिया जाता है। उनकी सार्थकता भाषा की सार्थकता के लिए परमावश्यक समझी जाती है। संस्कृत आचार्यों ने साहित्य की परिभाषा देते हुए इस बात पर विशेष बल दिया है कि उसमें शब्द और अर्थगत एक विशिष्ट प्रकार के साहचर्य की प्रतिष्ठा रहे जिसमें वक्रता के कारण विचित्र गुणों और अलंकारों की शोभा एक दूसरे से स्पर्धा करती हुई आगे बढ़ती है। इस विषय में आचार्य कुन्तक की निम्नलिखित पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

“शब्दाथौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्रं शून्यतायां सत्यां काव्य व्यवहारः प्रवर्तत इत्याह सहिताविति। सहभावेन साहित्येन अवस्थितौ। ननु वाच्य वाचक सम्बन्धस्य विद्यमानत्वावेतयोर्न कथंचिदपि साहित्य विरहः। सत्यमेतत्। किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्? वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधरोहः”।

साहित्य-सर्जना के मूल में आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त मानव की सौन्दर्यो-पासना की प्रवृत्ति भी वर्तमान रहती है। मनुष्य स्वभाव से ही सौन्दर्योपासक प्राणी है। ज्यों-ज्यों सभ्यता और संस्कृति का विकास होता जाता है उसकी सौन्दर्यप्रियता परिष्कृत होती जाती है। यह परिष्कार कभी-कभी कृत्रिमता की सीमा तक भी पहुँच

जाता है। साहित्यकार की सौन्दर्यात्मक भावना केवल उसकी प्रेरणा में ही नहीं पाई जाती वरन् उसकी अभिव्यक्ति में भी वर्तमान रहती है। वह केवल रमणीय रूप या प्रकृति के मनोरम रूप से सुध होकर काव्य का सृजन नहीं करता वरन् उसकी कामना अपनी अभिव्यक्ति को भी उस रमणीय रूप या प्रकृति के मनोरम रूप के सदृश ही रमणीय बनाने की भी रहती है। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्य में भाव-पक्ष और कला-पक्ष के दो विभाग कल्पित किए गए हैं। एक की आधारभूमि साहित्य की प्रेरणा होती है और दूसरे की उसकी अभिव्यक्ति। भाव-पक्ष में स्वाभाविक रमणीयता होती है। कला-पक्ष में रमणीयता लाने की चेष्टा की जाती है। साहित्य में सौन्दर्य लाने की इस चेष्टा का इतिहास ही कला-पक्ष है। इसके लिए साहित्यकार को सबसे प्रथम भाषा की ओर ध्यान देना पड़ता है। कला-पक्ष तभी रमणीय और साहित्यिक माना जा सकता है जब कि भाषा रमणीय और साहित्यिक हो। अतएव स्पष्ट है कि साहित्य के सौन्दर्य-विधान में भाषा का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

ध्वन्यालोककार ने महाकवियों की वाणी की विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा है—

“प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

एतत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥”

अर्थात् महाकवियों की वाणी में ललना लावण्य सदृश कोई एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य होता है। ध्वन्यालोककार द्वारा निर्दिष्ट यह अनिर्वचनीय सौन्दर्य ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस ध्वनि की योजना व्यञ्जना पर आश्रित रहती है। व्यञ्जना शब्द की ही एक प्रधान शक्ति है, और शब्द भाषा का प्रधान अवयव हैं। इससे स्पष्ट है कि काव्य में अनिर्वचनीय आन्तरिक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा में भी भाषा का पूरा-पूरा हाथ रहता है।

संस्कृत साहित्य में काव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए विद्वानों ने बहुत से मत प्रगट किए हैं। उन सब मतों को हम स्थूल रूप से दो वर्गों में बाँट सकते हैं— एक वह वर्ग जो काव्य को शब्दनिष्ठ मानता है, दूसरा वह जो उसे शब्दार्थोपमयगत मानता है। इन दोनों में से हम चाहे किसी मत को भी स्वीकार करें काव्य या साहित्य के लिए हमें भाषा की महत्ता हर प्रकार से स्वीकार करनी पड़ेगी। सम्भवतः यही कारण है कि काव्य की अधिकांश परिभाषाओं में उसके भाषागत सौन्दर्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। नाट्यशास्त्र में ‘मृदुललितपदाढ्यं शूढ शब्दार्थहीन’ लिखकर पहले उसके भाषागत सौन्दर्य का ही संकेत किया गया है। बाद में उसकी अन्य विशेषताएँ बतलाई गई हैं। अग्निपुराण की परिभाषा में भी काव्य को दोषरहित, अलंकार सहित और गुणयुक्त पदावली, ऐसी पदावली जिसमें अभीष्ट अर्थ संक्षेप में भली प्रकार कहा जाय, को काव्य कहा गया है। भामह ने तो ‘शब्दार्थो सहितो काव्य’ कहकर काव्य की भाषागत विशेषता का ही संकेत किया है। वामन ने काव्य को

अलंकारप्रधान बतलाकर उसके भाषागत सौन्दर्य को ही महत्त्व दिया है। रुद्रट ने भामह की ही बात को दोहराकर 'ननुशब्दार्थौ काव्यौ' कहा है। इस प्रकार सभी आचार्यों ने काव्य के स्वरूप का उल्लेख करते हुए उसमें या तो शब्द को या शब्द अर्थ दोनों को ही महत्त्व दिया है। शब्द और अर्थ दोनों ही भाषा के अंग हैं। अतएव स्पष्ट है कि साहित्य या काव्य के सौष्ठव विधान के लिए भाषा परमावश्यक होती है।

साहित्य की भाषा उसके स्वरूप को समझाने में भी बहुत सहायक होती है। जिस युग में भाषा सुसमृद्ध और कलापूर्ण रहती है उस युग का साहित्य भी अधिक कलामय होगा। इसके विपरीत जब भाषा अविकसित और असमृद्ध होती है तो साहित्य का रूप भी उतना कलामय नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए हम हिन्दी साहित्य के वीरगाथाकाल और रीतिकाल को ले सकते हैं। वीरगाथा युग में भाषा पूर्ण अविकसित और अपूर्ण थी इसलिए उस समय का साहित्य भी उतना सुसंस्कृत नहीं है। इसके विपरीत रीतिकाल में आकर भाषा का पर्याप्त परिमार्जन हुआ। वह कलामय भी अधिक हो चली। कोमलता, मधुरता, भावानुरूपता उसकी प्रधान विशेषताएँ बन गईं। इस युग के साहित्य पर भाषा नम्रबन्धी उपर्युक्त विशेषताओं का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। उसमें भाषा के अनुरूप ही कलात्मकता, कोमलता और भावप्रवणता पायी जाती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य का बहुत बड़ा सौन्दर्य भाषा पर आधारित रहता है। वास्तव में साहित्य का भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि भाषा के बिना साहित्य की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती।

साहित्य और दर्शन

हमारे यहाँ शास्त्रों में प्रत्येक वस्तु को आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व का संघात माना गया है। आत्म और अनात्म भाव के इसी द्वन्द्व से जगत् और जीवन का इतिहास बना है। उपनिषदों में इन दोनों की चर्चा किसी न किसी रूप से बारम्बार की गई है। कठोपनिषद् में प्राप्ता और प्राप्ताव्य भेद से आत्मा का जो वर्णन किया गया है वह इसी आत्म और अनात्मभाव के द्वन्द्व का द्योतक है। वेदों में वर्णित और श्वेताश्वतर उपनिषद् में पुनरुल्लिखित दो पक्षियों की रूपात्मक कथा भी इसी द्वन्द्व की ओर संकेत करती है। सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति के अभिधान से इन्हीं दोनों का वर्णन किया गया है। इससे प्रगट है कि पुरुष और प्रकृति के सुहाग से उद्भूत यह सृष्टि भी आत्म और अनात्ममयी है। महात्मा तुलसीदास ने इसी को जड़-चेतन की ग्रन्थि कहा है। साहित्य जीवन और जगत् की वर्णमय भावात्मक प्रतिलिपि है। जब जीवन और जगत् में आत्म और अनात्मभाव का ही सर्वत्र द्वन्द्व दिखाई पड़ता है तो फिर साहित्य उससे व्यतिरिक्त कैसे हो सकता है। साहित्य में भी सर्वत्र आत्म और अनात्मभाव पाया जाता है। किसी युग या देश के साहित्य में आत्मभाव की प्रधानता रहती है और किसी में अनात्मभाव की। अब प्रश्न यह है कि साहित्य में

कौन से भाव की प्रधानता है इस बात का पता कैसे लगाया जाय। हमारी समझ में सांख्यकी प्रकृति की जो विशेषताएँ हैं वे ही सब अनात्मभाव की विशेषताएँ भी होंगी। और पुरुष की विशेषताएँ आत्मभाव की प्रतीक मानी जा सकती हैं। सांख्य में प्रकृति त्रिगुणात्मिका मानी गई है। उसमें पुरुष को त्रिगुणातीत कहा गया है। हमारी समझ में जिस साहित्य में त्रिगुणात्मक ससार और मानव तथा उससे सम्बन्धित बातें ही वर्णित की जाती हैं वह अनात्मभाव का साहित्य कहलाएगा। इसके विपरीत जिस साहित्य में त्रिगुणातीत भावों की अभिव्यक्ति की जाएगी वह आत्मभाव प्रधान साहित्य कहलायेगा। भवभूति ने 'विन्देम देवताम् वाचम् अमृताम् आत्मनः कलाम्' लिखकर आत्मा की कलारूप की जिस वाणी का उल्लेख किया है वह आत्मप्रधान साहित्य ही है और कुछ नहीं। हमने अपने 'कबीर की विचारधारा' नामक ग्रन्थ में काव्य का वर्गीकरण दो भागों में किया है—लौकिक एवं अलौकिक। अनात्मभावप्रधान साहित्य ही लौकिक होता है। इसके विपरीत आत्मभाव प्रधान साहित्य अलौकिक की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। अनात्मभाव प्रधान साहित्य में जिस रस की प्रतिष्ठा की जाती है वह अधिकतर ऐहिक होता है।

जीवन और साहित्य

साहित्य वास्तव में मानव-जीवन की प्रतिच्छाया है। जीवन भावनाओं और मनो-विकारों का सजीव संघात कहा जा सकता है। जीवन की प्रतिच्छाया होने के कारण साहित्य भी इन विविध भावनाओं और मनोविकारों से अनुप्राणित रहता है। इससे स्पष्ट है कि हम साहित्य को जीवन से अलग करके नहीं रख सकते। हमारी धारणा तो यह है कि साहित्य और जीवन में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का सम्बन्ध है। जीवन की प्रेरणाएँ ही साहित्य की प्रेरणाएँ होती हैं। जीवन का जटिल इतिहास ही साहित्य का मूल विषय होता है। उसी के राग-द्वेषों से उसका कलेवर बनता है। उसकी चेतना ही साहित्य को सजीव और सरल बनाती है। वास्तव में जीवन ही साहित्य बनाता है। यदि वह जीवन से अलग हो जाए तो साहित्य साहित्य न बनकर मनोरञ्जक कलाबाजी ही रह जाएगा।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान मैथ्यू आर्नल्ड ने जीवन और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार करते हुए साहित्य को जीवन की आलोचना कहा है। उनकी इसी उक्ति को लेकर अंग्रेजी साहित्य में बड़ा शास्त्रार्थ होता रहा है। किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो आर्नल्ड की बात बहुत सही है। आलोचना से उनका तात्पर्य जीवन के गुण-दोष कथन से नहीं है। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग मानव-व्यापारों की व्याख्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए किया है। वास्तव में बात है भी ऐसी ही। साहित्य में जीवन की व्याख्या जिस सुन्दर ढंग से हो जाती है वैसी और किसी प्रकार नहीं हो सकती।

जीवन द्वन्द्वात्मक है। उसका विकास राग-द्वेष, दुख-सुख, हानि-लाभ जैसे द्वन्द्वों के विकास का इतिहास है। जीवन में इन्हीं द्वन्द्वों के घात-प्रतिघात से उद्भूत

भावनाओं की अभिव्यक्ति साहित्य में मिलती है। प्रायः यह देखा जाता है कि जीवन में कष्टों की ही प्रधानता रहती है। साहित्य में जीवन के विपरीत क्षणों का चित्रण उसे अधिक संवेदनशील और रागात्मक बना देता है। इसीलिए भवभूति ने 'एको रसः कष्ट एव' कहकर साहित्य में कष्ट रस की महत्ता ध्वनित की है। मनुष्य दूसरे के सुख से अधिकतर स्पर्धा प्रकट करता हुआ देखा गया है, किन्तु दूसरे के दुःख में वह आत्मीयता और सहानुभूति प्रकट करता है। यही कारण है कि कुशल कलाकार अपनी रचना में साधारणीकरण की स्थिति को उत्पन्न करने के लिए जीवन के मार्मिक स्थलों को ही चुनता है।

साहित्य का विषय ही जीवन है। उसमें वर्णित आश्रय और आलम्बन इस लोक के प्राणियों से ही साम्य रखते हैं। तुलसी के मर्यादावादी पुरुषोत्तम राम भी स्थान-स्थान पर मानवीय दुर्बलताओं से व्यथित होते देखे जाते हैं। जीवन की प्रमुख इच्छाएँ और मनोविकार ही साहित्य के स्थायी और संचारी भाव हैं। साहित्यशास्त्र में वर्णित सम्पूर्ण रस आदि मनोविकार मानव-जीवन के ही विकार हैं। साहित्यकार स्वयं मानव है अतः वह मानव व्यापारों की उपेक्षा अपनी रचना में नहीं कर सकता। उसकी व्यक्तिगत भावनाओं पर उनका पूरा प्रभाव पड़ता है। वह नित्य-प्रति अनुभवों से पूर्ण वियुक्त होकर केवल कल्पना-लोक में ही विवरण नहीं कर सकता। वास्तव में इस जगत् और जीवन के दृश्य ही उसमें कल्पना और भावना का उदय करते हैं, और विक्षिप्तावस्था में अलौकिक आनन्द का विधान करते हैं। वर्ड्सवर्थ की निम्नलिखित पंक्तियों में इसी भावना को व्यक्त किया गया है। वह इन दृश्यों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है—

“...I have owed to them,
In hours of weariness, sensations sweet,
Felt in the blood, and felt along the heart,
And passing even into my purer mind,
With tranquil restorations.”

इस प्रकार साहित्य जीवन में विपाद के क्षणों में सन्तोष और सुख के क्षणों में स्फूर्ति प्रदान करता है। जीवन में उसकी उपादेयता वांछनीय है।

किन्तु जगत् के वास्तविक जीवन से काव्य का जीवन कुछ भिन्न होता है। वह कल्पना और सौन्दर्य मिश्रित होता है। समस्त जीवन का चित्रण साहित्य में नहीं किया जा सकता। कुशल कलाकार बड़ी सतर्कता से जीवन के प्रभाव पूर्ण अंगों में कल्पना का मिश्रण कर सौन्दर्यपूर्ण बना देता है। प्रत्यक्ष जीवन का सौन्दर्य काव्य में अलौकिक हो जाता है।

साहित्य और जीवन में यद्यपि घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु इस सम्बन्ध को व्यापक दृष्टिकोण से ही ग्रहण करना श्रेयस्करो होगा। प्रत्येक मनुष्य जीवन में आनन्द की कामना करता है। आनन्द-प्राप्ति की कामना के कारण ही जीवन में धर्म की महत्ता

प्रतिपादित की गई है किन्तु मनुष्य की यह कामना अपूर्ण ही रहती है। साहित्य में आध्यात्मिकता के सहारे आनन्द की प्रतिष्ठा करके जीवन की अपूर्णता को पूर्णता के दर्शन प्राप्त होते हैं। उसके आस्वादन से वह अपने विषाद को भूलकर किसी दिव्य लोक की कल्पना करने लगता है। हमारी लौकिक इच्छाएँ साहित्य में भावना का रूप धारण कर परिष्कृत हो जाती हैं। अपरिष्कृत भावनाओं का परिष्करण ही साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की व्यापकता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में आदर्श और यथार्थ के सामञ्जस्य विधान के स्थान पर यथार्थ चित्रण को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप विद्वानों में मतभेद उत्पन्न हो गया है और 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' इन दो सिद्धान्तों को लेकर दो वर्ग बन गए हैं। छायावाद में लौकिकता को आध्यात्मिकता का आवरण देकर व्यक्त करने की प्रणाली थी किन्तु इसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवाद, उपयोगितावाद, प्रयोगवाद आदि जीवन के यथार्थ चित्रण को महत्त्व देने वाले विभिन्नवादों का जन्म हुआ। इसके फलस्वरूप साहित्य ने अपने स्वाभाविक मंगलमय रूप से हटकर अश्लील और क्रांतिकारी रूप धारण किया। यथार्थ का यह चित्रण उसे अवश्य जीवन के कुछ अधिक समीप ले आया है परन्तु साहित्य में निहित अलौकिकता की शक्ति क्षीण हो गई है। उसे आज दिव्यानन्द की वस्तु न कहकर जीवन का गीतिमय इतिहास कहना अनुपयुक्त न होगा।

वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर तीनों की सामञ्जस्यपूर्ण प्रतिष्ठा ही साहित्य की सफलता की पराकाष्ठा है। सत्य उसकी आधारभूमि है, शिव उसका लक्ष्य और सुन्दर उस लक्ष्य तक पहुँचने का साधन। 'हितेन सह सहित' कहकर साहित्य शब्द के व्याख्याकारों ने उसमें कल्याण-भावना की प्रतिष्ठा की है। केवल यथार्थ का चित्रण ही नहीं बल्कि आदर्श की कामना भी जीवन को कल्याण-मार्ग की ओर ले जाने में समर्थ हो सकती है। प्रत्यक्ष का चित्रण यदि साहित्य में स्वाभाविकता और संवेदना उत्पन्न करता है तो अप्रत्यक्ष का संकेत उसमें उत्पत्ति-पथ के पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। समीक्षक को साहित्यकार की रचना के प्रति सहृदय होना चाहिए। उसे रचना को केवल यथार्थ जीवन के ही नहीं बल्कि यथार्थ और आदर्श दोनों के दृष्टि-कोणों से देखना चाहिए।

कलाकार केवल चेतन का ही नहीं बल्कि अचेतन में भी जीवन की कल्पना करके उसे संवेदनशील बना देता है। प्रवाद के काव्य को ही ले लीजिए। कामायनी उनका सर्वश्रेष्ठ काव्य है। उसमें जीवन की मनोविकार सम्बन्धी समस्याओं का वर्णन प्रकृति को सजीव रूप देकर किया गया है। इन विकारों से उत्पन्न आकुलता का शमन आनन्द द्वारा दिखाकर 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का महान् सन्देश दिया गया है। साहित्य का यही सन्देश जीवन का पथ-प्रदर्शक है।

साहित्य और धर्म

धर्म और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना धर्म के साहित्य में सौन्दर्य ही

नहीं आ सकता और न वह पूर्ण ही हो सकता है। साहित्य का विषय जीवन और जगत् है। जीवन और जगत् का विलास प्रकृति की क्रीड़ा में होता रहता है। प्रकृति विर-नवीन और सुन्दर है। उसके अन्तराल में ग्रन्थय आनन्द भरा है। उसकी आन्तरिक सुषमा भी कम मनोरम नहीं है। प्रकृति के इस रूप-माधुर्य की अनुभूति हम तभी कर सकते हैं जब हमारे हृदय में उसके प्रति सहानुभूति और स्नेह का भाव हो। यह सहानुभूति और स्नेह तभी उत्पन्न हो सकता है जब हमारा हृदय विगल हो, उदार हो, पवित्र हो और सहृदय हो। हृदय के यह सद्गुण आदर्शों के सहारे ही विकसित किए जा सकते हैं। आदर्शों की अभिव्यक्ति धर्म में ही होती है। अतएव विचारों और भावों को उदात्त बनाने का श्रेय बहुत कुछ धर्म को ही होता है। भावों की उदात्तता पर ही साहित्य का मोन्दर्य निर्भर रहता है। जिस साहित्य के भाव और विचार जितने ही उदार और उदात्त होते हैं वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ समझा जाता है। अतएव स्पष्ट है कि साहित्य को श्रेष्ठ बनाने के लिए हमें धर्म में पाए जाने वाले आदर्शों की शरण पहले लेनी होगी।

धर्म का एक पक्ष विश्वास भी है। मानव अनादिकाल से प्रकृति के साहचर्य में जीवन व्यतीत करता आ रहा है। प्रकृति साहचर्य के प्रभाव के फलस्वरूप मानव के हृदय में प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ विश्वास उत्पन्न हो जाते हैं। अपनी कोमल और भावमयी कल्पना के सहारे वह प्रकृति के विविध रूपों के अन्तराल में किसी दिव्य मूर्ति के दर्शन करने लगता है। साहित्य में इन्हीं विश्वासों की प्रतिष्ठा रहती है और इन्हीं कल्पनामूलक मूर्तियों की भावात्मक अभिव्यक्ति पाई जाती है। इनके सम्पर्क से साहित्य अधिक भाव-प्रवण हो जाता है और उनका स्वरूप निखर आता है।

धर्म का विकास तभी अच्छा हो सकता है जब कि कोई जाति स्वतन्त्र हो। परन्तु वास्तव में पराजित जाति की धार्मिक भावनाएँ याचना लेकर खड़ी होती हैं; साधना और प्रवचन लेकर नहीं। इस याचना की भावना से साहित्य का अलौकिक पक्ष प्राञ्जल रूप में निखर आता है क्योंकि वहाँ भक्त भगवान से याचना करता है, आत्म-निवेदन करता है; किन्तु इस याचना-भाव से लौकिक साहित्य पतनोन्मुख हो चलता है। हिन्दी-साहित्य को ही ले लीजिए। यवनों के देश में प्रतिष्ठित हो जाने पर जहाँ एक ओर अलौकिक साहित्य अपने विद्वान की पराकाष्ठा पर पहुँचने लगा, गूर, तुलसी और जायसी जैसे महाकवि उत्पन्न हुए किन्तु दूसरी ओर लौकिक साहित्य को इस याचना-भाव से कर्तव्यका भी लगा। कवि का लक्ष्य अर्थ की याचना के लिए ही कविता करना रह गया। फिर क्या था 'राधा-कन्हौई सुमिरन' के बहाने राजा साहब को येन-केन-प्रकारेण प्रसन्न करके धन एठने लगे। साहित्य का पतन हुआ, उसका दम घुटने लगा। उसी उसमन से पाठक भी घबड़ा उठे। अतएव उनकी प्रतिक्रिया जाग्रत हुई। साहित्य में स्वच्छन्दतावाद के विविध स्वरूपों का उदय और विकास हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म के विकास और ह्रास पर साहित्य के उदय, विकास और स्वरूप का गहरा प्रभाव पड़ता है।

धर्म में मानव के अतीत का मधुमय इतिहास निहित रहता है। धर्म के पौराणिक पक्ष में ही अतीत की गाथा ही किसी-न-किसी रूप में ही मिलती है। साहित्य का अतीत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि साहित्य स्वयं ही अतीत के भावों, चित्रों और अनुभूतियों की भावात्मक प्रतिक्रिया है। इससे स्पष्ट है कि इस दृष्टि से भी साहित्य का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रगट होता है।

यदि हम विश्व के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें एक बात स्पष्ट दिखाई देगी। विश्व के प्रायः सभी देशों में धर्म और साहित्य यह दोनों ही अधिकतर विद्वानों की ही सम्पत्ति रहे हैं। वे ही इन्हें जन्म देते रहे हैं, इनका विकास और विस्तार भी उन्हीं के अधीन रहा। दूसरे शब्दों में हम साहित्य और धर्म दोनों को एक ही पिता की सन्तान और सहोदर कह सकते हैं। जिस तरह से दो भाई एक दूसरे से स्वभाव और रूपादि में भिन्न होते हुए भी बहुत सी बातों में एक मूत्र में भी बँधे रहते हैं तथा एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं उसी प्रकार साहित्य और धर्म यद्यपि अपना अलग अस्तित्व रखते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु एक ही पिता की सन्तान होने के कारण वे एक दूसरे की घनिष्ठता से सम्बन्धित हैं।

एरिस्टोटिल ने एक स्थल पर लिखा है धर्म और सौन्दर्य-बोध दोनों ही मानव-जीवन के आवश्यक अंग हैं। इन दोनों ही के बिना जीवन अपूर्ण रहता है। हमारी अपनी धारणा यह है कि यह दोनों ही जीवन के दो ऐसे पहलू हैं जिनका अस्तित्व एक दूसरे के बिना किसी प्रकार भी स्थिर नहीं रह सकता। दोनों में अन्योन्याश्रय भाव है।

धर्म और साहित्य की एक मिलन-रेखा और है। वह है कल्याण-भावना। सभी धर्मों का लक्ष्य किसी न किसी प्रकार मानव-कल्याण विधान करना ही है। धर्म की यह मूल भावना साहित्य का प्राण कही जा सकती है। साहित्य शब्द की यदि व्युत्पत्ति की जाय तो 'हितेन सहितं इति साहित्यं' अर्थात् साहित्य वह सृष्टि है जो मानव-हित और कल्याण से समन्वित हो। इस दृष्टि से भी साहित्य और धर्म में हम अविच्छिन्न सम्बन्ध स्वीकार कर सकते हैं।

धर्म उस परोक्ष सत्ता तक ले जाने वाले साधनों और मार्गों का जटिल इतिहास है। इन साधनों और मार्गों में प्रेम तथा प्रेममार्ग सबसे महत्त्वशाली प्रतीत होता है। भारतीय धर्म में इस प्रेमप्रधान मार्ग को भक्ति-मार्ग के नाम से अभिहित करते हैं। ईश्वर में परानुरक्ति होना ही भक्ति है। भक्त या साधक जब इस प्रेम-मार्ग का वर्णन भावना के मधुर और आकर्षक रंग से रंजित कर चित्रण करने लगता है वहीं से रहस्यवाद का उदय हो जाता है। रहस्यवाद साहित्य का एक प्रमुख और प्रसिद्ध पक्ष है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दोनों का मिलन-बिन्दु एक ही है। दोनों में बड़ी घनिष्ठता है।

साहित्य और सदाचार

साहित्य और सदाचार के सम्बन्ध को लेकर विद्वानों में सदा मतभेद रहा है। कुछ विद्वान सदाचार और नीति को प्रत्येक सत्काव्य के लिये अपेक्षित मानते हैं।

किन्तु कुछ विद्वान् इसके विरोध में हैं। भारतीय साहित्य के धर्म भावना के ग्रन्थगत ही नैतिकता का भी समावेश किया गया है। साहित्य जीवन की प्रतिच्छाया है। जीवन की दुर्बलताओं और उच्छृंखलताओं को दूर करने के लिए नैतिक और धार्मिक संविधान को महत्त्व देना ही पड़ता है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में कर्तव्य, धर्म और नीति को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस महत्ता का एक कारण और भी है। भारतीय साहित्य का लक्ष्य लोकमंगलकारी है। यह लक्ष्य नैतिक और आध्यात्मिक भावना के द्वारा ही पूर्ण हो सकता है। नीतियुक्त यही लोकरञ्जनकारी रूप हमें भारतीय संत-काव्य में विस्तृत रूप में दिखाई पड़ता है। तुलसी के रामचरितमानस के भरत, राम आदि सत् पात्र इसी भावना का प्रसार करते हुए दिखाये गये हैं। आ० मम्मट ने भी काव्य के प्रयोजन बतलाते हुए 'कान्ता सम्मिततयोपवेशयुजे' कहकर साहित्य में नीति और धर्म की महत्ता प्रतिपादित की है। वक्रोक्ति जीवितकार की भी यह उक्ति दर्शनीय है—

“कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।

आल्हाद्यमृतघत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥” (वक्रोक्ति जीवित)

अर्थात् वेद और शास्त्र के उपदेश अविद्या रूपी व्याधि के लिये गुणकारी अवश्य होने हैं पर वे कटु औषधि के समान हैं किन्तु काव्य के माध्यम से कथित वे ही उपदेश अमृत के समान सरस और मधुर होते हैं।

साहित्य एक कला है। कला का चरम उत्कर्ष अधिकांश विद्वानों ने आध्यात्मिक भावना द्वारा ही माना है। इस भावना का उत्कर्ष अनुपम सौन्दर्य-विधान से होता है। रस्किन के मतानुसार यह सौन्दर्यानुभूति सदाचारहीन व्यक्ति को नहीं हो सकती। स्काट जेम्स ने अपनी 'The Making of Literature'^१ नामक पुस्तक में लिखा है—“रस्किन के मतानुसार सौन्दर्य की अनुभूति इन्द्रियों और बुद्धि पर अवलम्बित न होकर हृदय पर आधारित रहनी है। उसकी उत्पत्ति ईश्वर की कला के प्रति श्रद्धा, कृतज्ञता और प्रसन्नता की अनुभूति के कारण होती है।” अतः साहित्य को सौन्दर्यात्मक और कलात्मक रूप देने के लिए इसमें नैतिकता का समावेश आवश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानों में साहित्य का सदाचार से घनिष्ठ सम्बन्ध मानने वालों में वेन्सन, मिमण्ड, गोथे, रस्किन, मॅथ्यू ग्रार्नल्ड आदि प्रमुख हैं। वेन्सन के अनुसार समस्त साहित्य किसी न किसी रूप में मानव-जीवन से सम्बन्धित रहता है—

“All literature answers to something in life, same habitual

१. The feeling of the beautiful, according to Ruskin, does not depend on the senses, nor on the intellect, but on the heart, and is due to the sense of reverence, gratitude and joyfulness that arises from recognition of the handwork of God in the objects of nature.”

—The Making of Lit.—Scot James.

forms of human expression.” साहित्य और जीवन का यह संबंध तभी सार्थक हो सकता है जब वह मानवता के चरम विकास की ओर ले जाय। इस विकास की कल्पना साहित्य में नैतिक धारणा द्वारा ही की जा सकती है। इसीलिये रस्किन ने लिखा है—“कलाएँ मनुष्य के लिए उपदेशात्मक होनी चाहिएँ। उपदेश ही उनका चरम लक्ष्य होता है।”

महात्मा गाँधी ने वर्तमान साहित्य की आलोचना करते हुए लिखा है कि वह सदाचार से विरहित होने के कारण दूषित हो गया है। मॅथ्यू आर्नल्ड की धारणा भी ऐसी ही है। वह सदाचार से रहित काव्य को जीवन और समाज में उपयुक्त नहीं मानता। उसने लिखा है—“नैतिक जीवन के प्रति क्रान्ति को व्यक्त करने वाली कविता को सामाजिक भावों के प्रति क्रान्ति प्रकट करने वाली कविता कहा जा सकता है। नैतिक विचारों की उपेक्षा करना वास्तव में जीवन के प्रति उदासीन होना है।” प्लेटो ने भी सदाचार विहीन कला की निन्दा की है। गाल्सवर्थी ने अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य में नीति और सदाचार को महत्त्व दिया है। एक स्थल पर उसने कहा है कि जिन व्यक्तियों में भलमनसाहत नहीं होती वे सच्चे मनुष्य नहीं कहे जा सकते। एक दूसरे विद्वान् ने काव्य का लक्ष्य ही नीति माना है—

“The essential theme of Poetry is moral order.....”

वास्तव में यह सत्य ही है। सदाचार से विरहित काव्य सत्साहित्य न रहकर मन की अव्यवस्थित और उच्छृंखल भावनाओं की अभिव्यक्ति रह जायगा, जिसका परिणाम समाज का नैतिक पतन ही होगा। साहित्य और समाज के इस नैतिक पतन का दृश्य हिन्दी के रीति साहित्य में दिखाई पड़ता है। ऐसा साहित्य रुचि विशेष के उपयुक्त हो सकता है। वह मानव-साहित्य की स्थायी निधि नहीं हो सकता।

अनेक विद्वान् साहित्य में सदाचार और नीति की अवस्थिति आवश्यक नहीं मानते। कलावाद के समर्थक कला को नीति और उपयोगिता से स्वतन्त्र घोषित करते हैं। साहित्य भी एक कला है अतः वे कवि की सृष्टि को “नियतिकृतनियमरहिता” कह कर उसे बाह्य बन्धनों से पूर्ण मुक्त कहते हैं। ब्रेडले आदि पाश्चात्य कलावादी विद्वानों ने भी काव्य के सौन्दर्य-पक्ष को स्वतन्त्र माना है। वे केवल आत्ममनोवृत्तियों को ही महत्त्व देते हैं। उनके मतानुसार मनोविकारों की अभिव्यक्ति यथातथ्य रूप में होनी चाहिए। किसी प्रकार के बाह्य आवरण या संयमन से उनका स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। ब्रेडले के मुर में मुर मिलाते हुए आस्कर वाइल्ड^१ महोदय ने भी लिखा है कि कला और नीति इन दोनों का क्षेत्र एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और व्यतिरिक्त होता है। साहित्य क्षेत्र में नैतिक और अनैतिक जैसी कोई गत नहीं होती है। साहित्यिक रचना अच्छी और बुरी कही जा सकती है, नैतिक और अनैतिक

१. देखिए—आस्कर वाइल्ड्स ‘रिप्लाइ टु हिज क्रिटिक्स’ तथा ‘पिक्चर आफ डोरियन ग्रे की भूमिका।’

नहीं। आज कल के कुछ हिन्दी कवि भी अपनत्व भूलकर अपने साहब गुरुओं के चरण-चिह्नों पर चल रहे हैं। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवि अधिकतर इसी कोटि में आते हैं। किन्तु साहित्य के प्रति यह दृष्टिकोण सर्वथा अनुचित और संकुचित है। साहित्य जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन वही है जो आचरण-प्रवण हो। इस दृष्टि से हमें साहित्य का सदाचार से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। मच तो यह है कि सदाचार-विरहित साहित्य को साहित्य न कहकर तमाशा भर कहना चाहिए।

साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और जीवन और समाज पूर्णतया सम्बद्ध हैं। सभ्यता के विकास ने प्रत्येक व्यक्ति को समाज का एक अंग बना दिया है अतः साहित्य में वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन का समावेश आवश्यक हो जाता है। साहित्य में वर्णित किसी आलम्बन विशेष की जीवन घटनाओं का निरूपण अन्य पात्रों और उनके समाज की सहायता से किया जाता है जिससे वर्णन में प्रवाह और स्वाभाविकता आती है।

साहित्य और समाज के स्थायी सम्बन्ध के फलस्वरूप समाज में विद्यमान संस्कार और वातावरण का प्रभाव भी साहित्य पर अवश्य ही पड़ता है। समाज की मूल प्रवृत्तियाँ साहित्य की मूल प्रवृत्तियाँ हो जाती हैं। यही कारण है कि किसी भी साहित्य के अध्ययन से उसके निर्माण-कालीन समाज का संकेत मिल सकता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के चारों काल भारत की राजनैतिक और सामाजिक आदि परिस्थितियों के रेखाचित्र उपस्थित करते हैं। अतः साहित्य अपनी युगीय भावनाओं की अनुकृति होता है। प्रत्येक समाज भी अपने जातीय साहित्य में संकलित अपनी भावनाओं की प्रतिमूर्ति का उपासक होता है।

सामाजिक सभ्यता के विकास का इतिहास साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही आर्यों में आध्यात्मिक भावना प्रबल रही है। इसी कारण व्यापक वैदिक साहित्य का निर्माण हुआ। समय-समय पर इस भावना पर विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलनों के आघात होते रहे किन्तु समाज की शाश्वत भावना उनको पुनः विच्छिन्न करती रही है। यह आध्यात्मिकता केवल ज्ञान-क्षेत्र की ही निधि नहीं थी बल्कि जीवन और समाज को भी आलोकित करती रही है। भारतीय साहित्य इसी समन्वय-साधना की सफल सिद्धि है।

साहित्य और समाज के सम्बन्ध का मूल कारण व्यक्ति है। समाज व्यक्तियों से निर्मित हुआ है, साहित्य के स्रष्टा भी व्यक्ति ही होते हैं। साहित्यकार का व्यक्तित्व समाज का प्रतिनिधित्व-सा करता हुआ दिखलाई पड़ता है। साथ ही साथ वह अपनी व्यक्तिगत विचारधारा का प्रसार भी करता चलता है। साधारण जनसमाज उसका

अनुगामी हो जाता है। अतः वह किसी अंश में समाज का प्रतिनिधि और नेता कहा जा सकता है।

साहित्य हमारे अव्यक्त भावों को व्यक्त करता है, उसमें जीवन के विविध रूप हमारे सामने आते हैं। साहित्यकार उन रूपों के प्रति हमारे आदर्श को निर्धारित करता है। अतः साहित्य जीवन और समाज का केवल चित्र ही नहीं उपस्थित करता बल्कि सुधारक की भाँति उनकी त्रुटियों का संकेत कर उन्नति-मार्ग का प्रदर्शन भी करता है। साहित्य में समाज के साधारण मनुष्यों को भी गौरवपूर्ण स्थान मिल सकता है। साहित्यिक गौरव केवल वैभव में ही नहीं है बल्कि कठुणा, सदाचार और प्रतिभा उसमें अधिक गौरवान्वित होते हैं।

साहित्य और समाज दोनों का शिलान्यास आत्म-रक्षा और आत्मोन्नति की कामना पर हुआ करता है। अतः समाज के प्रयोजन ही साहित्य के भी प्रयोजन कहे जा सकते हैं। भामह ने काव्य के प्रयोजन निम्न बताए हैं—

“धर्मार्थकाममोक्षाणाम् वैचक्षण्यं कलासु च ।

प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्य निबन्धनम् ॥” काव्यालं० १।२

समाज का निर्माण भी इन्हीं उद्देश्यों के आधार पर हुआ है। विकास की दृष्टि से सामाजिक जीवन में इन उद्देश्यों की पूर्ति की आवश्यकता बनी ही रहती है। साहित्य का निर्माण समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ही हुआ करता है। समाज में किसी भी भावना के उदय, विकास और उसके परिणाम की प्रतिच्छाया साहित्य में स्पष्ट देखी जा सकती है।

साहित्य और समाज का यह अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मंगलकारी है। साहित्य में सत्य के अतिरिक्त सौन्दर्य और शिव की भी प्रतिष्ठा रहती है। इन तीनों के समन्वय से उसमें नैतिक और आध्यात्मिक भावनाओं की दृढ़ स्थापना मिलती है। समाज में फैनी हुई दैनिक विषाद की छाया यहाँ त्राण पाकर शीतलता का अनुभव करती है। भारतीय साहित्य में समाज के सुख-दुख पूर्ण चित्रों को अधिकतर सुखान्त ही रखा गया है। सदैव सत् की विजय दिखाना ही उसका आदर्श रहा है। सत् की यह विजय विशाल जन-समाज को अनेक द्वन्द्वों के बीच भी दृढ़ता और विश्वास के साथ प्रवृत्त रहने का हृदयग्राही उपदेश देती है। इस प्रकार साहित्य समाज के मनो-रञ्जन का उच्चतम साधन होने के अतिरिक्त सदाचार और नैतिक शिक्षा का सरस साधन भी है।

साहित्यिक का कार्य समन्वय और एकत्रीकरण है। समाज भी व्यक्ति का समष्टिरूप है। भारत का सामाजिक आदर्श सदैव एकता की ओर ही रहा है। राम-राज्य का आदर्श और गाँधी जी के सर्वोदय समाज की स्थापना का प्रयास इसी एकता का द्योतक है। साहित्य सामाजिक भावनाओं का सरोवर है अतः हमारे साहित्य की सार्थकता ऐसी ही समाज-व्यवस्था के प्रतिबिम्बन में है। साहित्य और समाज के सम्बन्ध की रक्षा भी तभी हो सकती है। यद्यपि प्रत्येक साहित्यिक रचना

अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है परन्तु समाज के सम्मुख वह कुछ अंशों में उत्तरदायी है। उसके लिए आवश्यक है कि वह मनोरञ्जन विधान के अतिरिक्त समाज का रुचि-परिष्करण भी कर सके। तभी विश्व-साहित्य की एकता स्थापित हो सकती है।

साहित्य का मर्म

साहित्य के मर्म का प्रश्न बड़ा ही जटिल है। आदि काल से साहित्यशास्त्री इस पर विचार करते आ रहे हैं किन्तु यह प्रश्न अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है। इस प्रश्न को लेकर साहित्य जगत् में अनेक सम्प्रदाय जन्म लेते रहे हैं। संस्कृत साहित्य को ही ले लीजिए। उससे अलंकार सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय आदि आदि न मालूम कितने साहित्य के मर्म को स्पष्ट करने वाले सम्प्रदाय उदय होकर विकसित होते रहे हैं। पाश्चात्य देशों में भी यह प्रश्न किसी न किसी रूप में साहित्यशास्त्रियों के शास्त्रार्थ का विषय रहा है। यहाँ पर हम प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही साहित्यों में प्रचलित साहित्य के मर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों पर अत्यन्त संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त समझते हैं।

भारतीय साहित्य अपनी कुछ अलग विशेषताएँ रखता है। उसकी सबसे प्रमुख विशेषता उसकी ग्रन्थात्म और धर्मप्रियता है। हमारे यहाँ साहित्य को धर्म और ग्रन्थात्म से अलग करके कभी भी देखने की चेष्टा नहीं की गई। यह बात 'कविमनीषो परिभूस्वयम्भू' वाली उक्ति से पूर्णतया स्पष्ट है। भारतीय दृष्टि में कवि मनीषी भी हुआ करता था। कोई मनीषी आध्यात्मिक और धार्मिक भावनाओं से शून्य नहीं रह सकता। इसका अर्थ यह है कि भारतीय दृष्टि में कवि केवल बेल-बूटे सजाने वाला चित्रकार ही नहीं होता उसका लक्ष्य विश्व का कल्याण करना, उसे सन्मार्ग पर ले जाना भी होता है। सम्भवतः यही कारण है कि हमारे प्राचीन आदि काव्य एक ओर तो साहित्य की परम निधि थे और दूसरी ओर धर्म की आघार भूमि भी। इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे साहित्य का मर्म ग्रन्थात्म और धर्म से अनुप्राणित रहा है।

हम पहले दिखला चुके हैं कि साहित्य को भवभूति जैसे विद्वान, और कवि आत्मा की कला मानते थे। उन्होंने अपने 'उत्तररामचरित' के प्रथम श्लोक में ही यह बात इस प्रकार प्रगट की है—

“इदम् कविभ्यः पूर्वैभ्यः नमोवाकम् प्रशासमहे ।

विन्देम् देवताम् वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥”

जब वाक् या साहित्य आत्मा की कला है तो उसमें आत्मतत्त्व की विशेषताएँ भी होनी चाहिए। आत्मतत्त्व वास्तव में ब्रह्मतत्त्व ही है। उपनिषदों में यह बात बार-बार दोहराई गई है। ब्रह्म तत्त्व या आत्म तत्त्व हमारे यहाँ रसरूप माना गया है। उपनिषदों की 'रसोवैसः' अर्थात् वह ब्रह्म रस रूप है, वाली उक्ति से कौन नहीं परिचित होगा। साहित्य में भी इस रस की अवस्थिति होनी चाहिए। ऐसा है भी। रस साहित्य का प्राण माना जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि साहित्य में

जिस रस की चर्चा की जाती है वह ब्रह्म रस से भिन्न है या समान । मम्मट आदि आचार्यों ने रस तत्त्व की व्याख्या करते समय उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है । इससे प्रगट होता है कि साहित्य का रस ब्रह्म रस के समकक्ष अवश्य होता है किन्तु ब्रह्म रस स्वयं नहीं है । साहित्य में जिस रस की स्थिति पाई जाती है वह बहुत कुछ लौकिकता की भूमि पर प्रतिष्ठित है । हमारी समझ में ब्रह्म रस और साहित्यिक रस में वही अन्तर है जो आत्म तत्त्व और जीवन तत्त्व में है । माया या वासना से विशिष्ट आत्म तत्त्व जीव तत्त्व कहलाता है । इसी प्रकार साहित्यिक रस भी वासना विशिष्ट होता है । उसमें हमारी प्रसुप्त वासनाओं को जाग्रत करने की शक्ति अधिक होती है । यही कारण है कि उसमें लौकिक रति को भी महत्त्व दिया जाता है । किन्तु ब्रह्मानन्द या ब्रह्म रस में लौकिक रति का कोई स्थान ही नहीं है । इस प्रकार आचार्यों के प्रयत्न से ब्रह्म रस साहित्य रस से बिल्कुल अलग कर दिया गया । जिसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य की भाषा ही बदल गई । वह आत्मा की कला न रहकर हमारे जीवन की कला बन गया । आत्मा और जीवन में अन्तर है । जिस प्रकार साक्ष्य में पुरुष और प्रकृति दो अलग भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं उसी तरह से जीवन और आत्मतत्त्व भी भिन्न-भिन्न हैं । इन्हीं के आधार पर हम साहित्य के दो रूप स्वीकार करते हैं एक लौकिक और दूसरा अलौकिक । लौकिक रूप प्रत्यक्ष और ससीम होता है । अलौकिक रूप परोक्ष और अससीम होता है । साहित्य के मर्म में भी यह रूप-भेद दिखाई पड़ता है । लौकिक साहित्य का मर्म रस अलंकार आदि बातें द्वारा करनी हैं किन्तु अलौकिक साहित्य का मर्म सच्चिदानन्द स्वरूप होता है । सच्चिदानन्द स्वरूप होने के कारण उसकी अनिवर्चनीयता स्वयं सिद्ध हो जाती है । साहित्य के आनन्द की यही अनिवर्चनीयता सत्साहित्य का प्राण कही जा सकती है । आनन्द-वर्धन ने साहित्य के इसी मर्मोद्देश की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

“प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वसत्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

एतत्प्रसिद्धावयवातरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥”

ललना लावण्य सदृश यही अनिवर्चनीय और सौन्दर्य तत्त्व वास्तव में साहित्य का सच्चा मर्म है । अलंकार, वक्रोक्ति, रस आदि साहित्य के दूसरे उपादान उम मर्म के अवयव कहे जा सकते हैं वास्तविक मर्म नहीं । जब काव्य में ब्रह्म के सदृश यह वाच्यावाच्य तत्त्व उपलब्ध होगा, तभी उसकी सच्ची सार्थकता होगी । क्योंकि साहित्य वही है जो हित के सहित हो अर्थात् मानव-कल्याण विधायक हो ।

अभी हाल में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लखनऊ विश्वविद्यालय में साहित्य का मर्म शीर्षक भाषण दिया था । इसमें आपने हिन्दी साहित्य का आदि से अन्त तक पर्यालोचन करते हुए समय-समय में अनुभूत होने वाले साहित्य के मर्म पर विचार किया है । हमारा विषय उनके विषय से थोड़ा भिन्न है अतएव हम उनकी बातों को दोहराकर पिष्ट-भेषण करना नहीं चाहते जिज्ञासु लोग चाहे उसे भी पढ़ लें ।

हम ऊपर अभी ललना-लावण्य सदृश किसी अनिवर्चनीय रमणीयता को साहित्य

के मर्म का एक पक्ष या अवयव बतला चुके हैं। प्रश्न यह उठता है कि साहित्य का यह रमणीय तत्त्व साहित्यकार में क्यों और कैसे उत्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद हो सकता है। संस्कृत प्राचार्यों के मतानुसार साहित्य और उनके मर्म सभी का हेतु शक्ति या प्रतिभा होती है। यह शक्ति क्या है? रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में उसे इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है :

“मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधा विधेयस्य ।

अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥” काव्यालं० १।१५.

अर्थात् शक्ति वह तत्त्व है जिसके द्वारा शान्त चित्त में अनेक प्रकार के अक्लिष्ट पद स्फुरित होने हैं।^१ इसी शक्ति को भामह, दण्डी, मम्मट आदि अन्य प्राचार्यों ने प्रतिभा का अभिधान दिया है। राजशेखर ने इसी को साहित्य या काव्य का मूल हेतु कहा है।

“सा केवलम् काव्ये हेतुः इतियायवरीयः”

वामन ने भी ‘कवित्व बीजम् प्रतिभानम्’ कहकर इसी बात का समर्थन किया है। यह प्रतिभा ही हमारी समझ में काव्य के मर्म को प्राण प्रदान करने वाली शक्ति है। साहित्य-सर्जना तो बिना प्रतिभा के केवल श्रम के बल पर भी की जा सकती है। किन्तु इस प्रकार की रचनाओं में साहित्य का मर्म सजीव और चेतन नहीं हो पाता। यही कारण है कि दण्डी ने ‘न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना, गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्, श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता, ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्, तदस्ततन्त्रं रनिशं सरस्वती श्रमादुपस्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः’ इत्यादि लिखकर भी प्रतिभा को ही विशेष महत्त्व दिया है। वह लिखता है—

“नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्,

अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः” काव्यादर्श १।१०३.

इससे यही प्रगट होता है कि साहित्य के मर्म का सौन्दर्य बहुत कुछ प्रतिभा पर ही अवलम्बित रहता है। यह प्रतिभा जैसा कि अग्निपुराण में लिखा है दुर्लभा होती है। जिस साहित्यकार को इस प्रतिभा का वरदान मिल जाता है उसी के साहित्य का मर्म सजीव और प्रभावशाली होता है। हमारी समझ में प्रतिभा का सम्बन्ध आत्मा से है। जिस साहित्यकार की आत्मा जितनी प्राञ्जल, जितनी सुसंस्कृत और निर्मल होती है उसकी प्रतिभा भी उतनी ही जागरूक होगी। जिसकी प्रतिभा जितनी सक्रिय और चेतन होगी उसकी वाणी उतनी ही प्रभावशालिनी होगी। सम्भवतः यही कारण है—कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे सन्त कवियों की वाणी में एक अनिवर्चनीय विशेषता पाई जाती है, जिसके कारण वे निरक्षर भट्टाचार्य होते हुए भी विश्व के महान् कवि बन सके हैं। इसके विपरीत केशव जैसे कलाबाज की वाणी में वह आकर्षण नहीं है

१. “Genius is only two percent inspiration and ninety-eight percent perspiration.”
—Thomas A. Addison.

जो उपर्युक्त कवियों में पाया जाता है। इस अन्तर का कारण हमारी समझ में दोनों की प्रतिभा का अन्तर है। दोनों वर्ग के कवियों के साहित्य के मर्म अथवा प्राण में भी अन्तर है। सन्त कवियों द्वारा सृजित साहित्य का मर्म प्रतिभा और अध्यात्म जीवन होने के कारण सर्वजनीन और सर्वकालीन एवं शाश्वत है।

साहित्य के मर्म के रूप में हमने जिस अनिवर्चनीय आध्यात्मिक लावण्य तत्त्व की ओर मकेत किया है वह साहित्य में साधारणीकरण की शक्ति की वृद्धि करता है। जिस साहित्य का मर्म जितना कोमल, अनिवर्चनीय और आध्यात्मिक होगा वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ और महान् होगा। साधारणीकरण की मात्रा पर ही साहित्य की लोक-प्रियता की मात्रा अवलम्बित रहती है। जिस साहित्य में जितनी अधिक साधारणीकरण की क्षमता होती है वह साहित्य उतना ही अधिक सर्वजनीन होता है। तुलसी के 'मानस' को ही ले लीजिए उसमें साधारणीकरण की बहुत अधिक क्षमता पाई जाती है। इसीलिए वह इतना अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित हो सका है। इस प्रकार हमारी दृष्टि में साहित्य का मर्म कोई अनिवर्चनीय तत्त्व ही है जिसकी आधारशिला अध्यात्म और आनन्द पर आधारित रहती है।

३। वाङ्मय के भेद

जिम अर्थ में हमने यहाँ पर साहित्य शब्द का प्रयोग किया है उसके लिए संस्कृत में वाङ्मय का प्रयोग किया गया है। संस्कृत के कुछ प्राचीन आचार्यों ने वाङ्मय के भेदों की चर्चा भी की है। प्रसिद्ध व्याकरण पाणिनी ने वाङ्मय के ६ विभाग किए हैं—

१. दृष्ट साहित्य—वह जो ऋषियों को आत्मानुभूति के रूप में अभिव्यक्त हुआ हो। वैदिक संहिताएँ इस कोटि के साहित्य के अन्तर्गत आवेंगी।

२. प्रोक्त साहित्य—गुरु और शिष्य के कथोपकथन के रूप में अभिव्यक्त आध्यात्मिक साहित्य 'प्रोक्त' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत वेदांग ग्रन्थ आवेंगे।

३. उपज्ञात साहित्य—ऋषियों की भौतिक खोजों से पूर्ण विविध विषयक रचनाओं ने ही इस कोटि के साहित्य को कलेवर प्रदान किया है।

४. सूत्र साहित्य—गम्भीर निद्धान्तों की सूक्ष्मातिमूक्ष्म अभिव्यक्ति ही 'सूत्र साहित्य' कही जाती है। संस्कृत में अनेक सूत्रग्रन्थ उपलब्ध हैं।

५. कृत साहित्य—इस कोटि के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जिनका नाम-करण उनमें विवेचित विषय के आधार पर किया जाता है।

६. ध्याख्यान साहित्य—व्याख्या-प्रधान साहित्य इसी कोटि में रखा गया है।

आचार्य भोज देव ने वाङ्मय के भेदों का वर्णन दो स्थलों पर किया है। एक स्थल पर तो उन्होंने उसके ६ भेद बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—

यद्विधो च निषेधे च व्युत्पत्तरेष कारणम् ।

तदध्ययं विबुस्तेन लोक यात्रा प्रवर्तते ॥

काव्यं शास्त्रेतिहासश्च काव्यशास्त्रं तथैव च ।

काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ॥

सरस्वती कण्ठाभरण २।१३८-३९

अर्थात् जिस वाङ्मय से मानव को विधि और निषेध का बोध होता है वही अध्ययन करने योग्य होता है। उसके छः विभाग किए जा सकते हैं—काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्य शास्त्र, काव्येतिहास और शास्त्रेतिहास।

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने उसके तीन भेदों की चर्चा की है—

वक्त्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।

सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥

सरस्वती कण्ठाभरण ५।८

अर्थात् वाङ्मय के तीन भेद होते हैं—वक्त्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति। इनमें रसोक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

आचार्य राजशेखर ने वाङ्मय के दो ही भेद किए हैं—शास्त्र और काव्य।

“इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च ।”

इसमें शास्त्र के फिर उन्होंने दो भेद किए हैं—१. अपौरुषेय, २. पौरुषेय। श्रुति को अपौरुषेय कहा है। पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा और स्मृतितन्त्र, यह चार पौरुषेय कहे गये हैं। इन पर आगे विस्तार से विचार किया गया है जिनकी चर्चा हमने व्युत्पत्ति के प्रसंग में की है।

साहित्य को काव्य का वाचक मान कर आचार्यों ने जो उसके भेद किए हैं, उनका विवरण काव्य-विवेचन के अन्त में देखा जा सकता है।

हमारी समझ में साहित्य के स्थूल रूप से दो विभाग किये जा सकते हैं—

१. ललित या भाव-प्रधान, और २. उपयोगी या ज्ञान-प्रधान। भावप्रधान साहित्य को काव्य कह सकते हैं। उपयोगी साहित्य के अन्तर्गत काव्येतर सम्पूर्ण वाङ्मय समेटा जा सकता है। उपयोगी साहित्य के संकटों विभाग हो सकते हैं। यहाँ पर उन सबका निर्देश करना तो है और न सम्भव ही है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निरूपित वाङ्मय के भेद—पाश्चात्य आचार्य हडसन ने सम्पूर्ण वाङ्मय के तीन विभाग किए हैं—

१. The Literature of Self expression अर्थात् स्वानुभूति मूलक साहित्य। इसके अन्तर्गत गीत काव्य आदि आते हैं। कुछ निबन्ध आदि भी जिनमें व्यक्तिता की प्रधानता रहनी है इसी कोटि के अन्तर्गत आयेंगे।

२. The Literature in which the writer instead of going down of himself goes out of himself into the world of external human life and activity. अर्थात् वह साहित्य जिसमें कवि अपने हृदय को टटोलने के स्थान पर बाह्य जगत् को देखने की चेष्टा करता है। इसके अन्तर्गत इतिहास और जीव आदि आती हैं।

३. The Literature of Description. इसके अन्तर्गत वर्णन-प्रधान सभी साहित्यिक विधाएँ आती हैं ।

कुछ पाश्चात्य आचार्यों ने वाङ्मय के विषयगत (objective) और विषयीगत (subjective) नामक भेद किए हैं । एक दूसरे पाश्चात्य आचार्य डीक्वेन्सी० ने वाङ्मय के दो विभाग किए हैं—

१. Literature of knowledge, ज्ञानपरक साहित्य; २. Literature of power, शक्ति का साहित्य । इन दोनों को क्रमशः हम उपयोगी साहित्य और भावना काव्य का विधान भी दे सकते हैं । भावना काव्य का प्राणभूत तत्त्व है । भावना में दूसरे की भावनाओं की प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति होती है इसीलिए डीक्वेन्सी ने इसे शक्तिपरक साहित्य कहा है । उपयोगी साहित्य ज्ञान की वृद्धि में सहायक होता है इसलिए उसे ज्ञानपरक साहित्य कहा गया है ।

कला-विवेचन

कला का स्वरूप-निरूपण

कला के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों और पाश्चात्य विद्वानों में थोड़ा मतभेद है। दोनों के कला सम्बन्धी दृष्टिकोणों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यहाँ पर उनके मतों की अलग-अलग समीक्षा करें।

संस्कृत में कला का विवेचन—संस्कृत साहित्य में ज्ञान का विभाजन दो भागों में किया गया—विद्या और उपविद्या। विद्या के अन्तर्गत काव्य को रखा गया है। कलाएँ उपविद्या के अन्तर्गत मानी गई हैं। संस्कृत के विद्वान् साहित्य या काव्य को कला से भिन्न समझते थे, यह बात भर्तृहरि के इस श्लोक से पूर्णतया प्रगट होती है—

‘साहित्य संगीत कला विहीनः सक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः’

यहाँ पर यह विचारणीय है कि प्राचीन विद्वानों ने काव्य और कला के बीच यह विभाजन-रेखा क्यों खींची है। वास्तव में दोनों में क्या अन्तर है? इस बात को स्पष्ट करने के लिए हमें दण्डी के कला सम्बन्धी मत पर विचार करना पड़ेगा। दण्डी ने कला को ‘नृत्य गीत प्रभृतयः कला कामार्थ संश्रयाः’ कहकर कलाओं का साहित्य से स्पष्ट भेद स्थापित किया है। उगरी दृष्टि में कला ‘कामार्थ संश्रय’ (काम के उद्दीपन में सहायक) होती है। किन्तु साहित्य जोरा ‘कामार्थ संश्रय’ किन्ती प्रकार नहीं माना जा सकता। साहित्य या काव्य के सम्बन्ध में हमारे यहाँ बहुत ऊँची धारणाएँ थीं। उसे हमारे यहाँ के मनीषी आत्मा की कला मानते थे। आत्मा ‘कामार्थ संश्रय रूपिणी’ न होकर ‘रसोर्वसः’ रूपिणी है। अतएव साहित्य या काव्य ही ऐसा ही हुआ। अधिक स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि भारत में कला वास्तव में एक लौकिक रञ्जन की वस्तु मात्र समझी जाती थी। इसके विपरीत साहित्य आत्मा की अभिव्यक्ति या कला होने के कारण अलौकिक समझा जाता था। मम्मट ने इसीलिए उसके प्राणरूप रस को ‘ब्रह्मानन्द सहोदर’ कहा है। कला में यह बात नहीं होती। कला का आनन्द बहुत कुछ स्थूल और बाह्य कहा जा सकता है। उसमें चमत्कारमूक क्षणिक अवमादन और प्रसादन की प्रधानता रहती है। सम्भवतः इसीलिए भारत में कला का लक्ष्य किसी वस्तु के प्राण को बल प्रदान करना नहीं वरन् उसके स्वरूप को सँवारना-मात्र समझा जाता था। क्षेमराज ने ‘शिवसूत्रविमर्शिणी’ में इसीलिए कला को वस्तु के रूप को सँवारने वाली विशेषता कहा है। ‘कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तूनि वा’ अर्थात् कला वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलंकृत करती है। इस प्रकार स्पष्ट

है कि भारतीय दृष्टि से कला साहित्य की अपेक्षा थोड़ी हेय वस्तु है। इसलिए चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत काव्य को स्थान न देकर केवल समस्या-पूर्ति को ही कला कहा गया है। समस्या-पूर्ति का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक हृदय से कम होता है। इससे यह प्रगट होता है कि भारतीय विद्वान् कला का सम्बन्ध विशेषकर बुद्धि से और साहित्य का सम्बन्ध हृदय तथा आत्मा से मानते थे।

भारतीय विद्वान् कला को केवल साहित्य से ही भिन्न नहीं मानते थे उनकी दृष्टि में वह ज्ञान, शिल्प और विद्या से भी भिन्न वस्तु है। भरत मुनि ने यही बात 'न तत्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला' लिखकर ध्वनित की है। अभिनव-गुप्त ने तो कला को और भी संकुचित रूप दे दिया है। नाट्यशास्त्र की उपर्युक्त पंक्ति का विवेचन करते समय उसने कला का स्पष्टीकरण 'कला गीतवाद्यादिका' अर्थात् कला गाने-बजाने आदि को कहते हैं, लिखकर किया है। इससे प्रगट होता है कि भारत में कला शब्द का प्रयोग 'Fine Arts' के लिए भी होता था। जो भी हो कला का यह अर्थ थोड़ा संकुचित प्रतीत होता है।

भामह ने कला के सम्बन्ध में एक दूसरे ढंग से विचार किया है। उसने काव्य के चार विभाग किए हैं—

१. देवचरितशंसि,
२. उत्पाद्य,
३. कलाश्रय और
४. शास्त्राश्रय।

भामहकृत काव्य के इस चतुर्विभाग से दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि वह कला को काव्य से भिन्न मानता था, दूसरी यह कि कला सम्बन्धी बातें काव्य का विषय भी बन सकती थीं।

संस्कृत शैवागमों में कला का विवेचन बिल्कुल दूसरे प्रकार से ही किया गया है। उसमें छत्तीस तत्त्वों को मान्यता दी गई है। इन छत्तीस तत्त्वों में से कला भी एक है। वहाँ पर उसका अर्थ एक संकुचित कर्तृत्व-शक्ति से लिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं संस्कृत साहित्य में कला का विवेचन दो क्षेत्रों में हुआ है—एक कामक्षेत्र में और दूसरे दर्शन क्षेत्र में, दोनों क्षेत्रों में इसका प्रयोग बड़े संकुचित अर्थ में किया गया है।

कला के सम्बन्ध में कवीन्द्र रवीन्द्र का मत—श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी 'Personality' नामक पुस्तक के 'What is Art' शीर्षक लेख में कला पर अच्छा विचार किया है। यह विवेचन बहुत कुछ पाश्चात्य विद्वानों के कला सम्बन्धी दृष्टिकोणों से प्रभावित प्रतीत होता है। उन्होंने ज्ञान के दो पक्ष माने हैं—एक कला और दूसरा विज्ञान। इन दोनों के भेद को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—“In art man reveals himself and not his object. His objects have their place in books of information and science.”

अर्थात् कला में मनुष्य बाह्य वस्तुओं की नहीं स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करता है। उसके बाह्य विषयों का वर्णन सूचनाप्रधान ग्रन्थों में तथा विज्ञान के ग्रन्थों में किया जाता है। उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवीन्द्रकला में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को विशेष महत्त्व देते थे। अपने इसी निबन्ध में एक स्थान पर उन्होंने भावात्मक शक्तियों का मूलाधार सृजनात्मक शक्तियों को माना है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने कला में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर बहुत अधिक बल दिया है। वे लिखते हैं—“The principal object of art also being the expression of personality and not of that which is abstract and analytical.” अर्थात् कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है न कि सूक्ष्म और विश्लेषणप्रधान वस्तुओं की विवेचना करना। अपने इस निबन्ध में उन्होंने कला सम्बन्धी एक प्रचलित वाद का खंडन भी किया है। कुछ लोग कला का लक्ष्य केवल सौन्दर्य-विधान समझते हैं। किन्तु उनकी दृष्टि में सौन्दर्य-विधान कला का एक साधन मात्र है साध्य नहीं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—“This has lead to a confusion in our thought that the object of art is the production of beauty where as beauty in art has been a mere instrument and not its ultimate and complete significance.” अर्थात् इस बात ने कि कला का लक्ष्य केवल सौन्दर्य-विधान मात्र है बड़ा भ्रम पैदा कर दिया है। वास्तव में सौन्दर्य-विधान कला का एक साधन मात्र है साध्य नहीं। किन्तु उनके इन विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि वे कला में सौन्दर्य को विशेष महत्त्व ही नहीं देते थे। उनकी दृष्टि में सत्य और सौन्दर्य दोनों की ही प्रतिष्ठा कला में आवश्यक होती है। इसी निबन्ध में उन्होंने लिखा है—“This building of man's true world, the living world of truth and beauty, is the function of art.” अर्थात् कला का कार्य मानव के लिए सत्य और सौन्दर्य की एक सजीव सृष्टि करना होता है।

कवीन्द्र रवीन्द्र के उपर्युक्त मत की समीक्षा करने पर प्रगट हो जाता है कि वह मौलिक होते हुए भी पाश्चात्य कला सम्बन्धी दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित है। सच तो यह है कि उन्होंने पाश्चात्य दृष्टिकोण को भारतीय विचारधारा के सांचे में ढालकर एक अभिनव और मौलिक रूप दे दिया है।

कला के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों के विचार—पाश्चात्य विद्वानों ने कला के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से विचार किया है। यहाँ पर हम कुछ प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मतियों पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं। इन विद्वानों में निम्नलिखित प्रमुख हैं—

रस्किन—रस्किन ने कला के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—“All great art is the expression of man's great delight in God's work and not his own.” अर्थात् प्रत्येक महान् कला ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति है। उसे हम अपनी कृतिजनित आह्लाद की अभिव्यक्ति नहीं मान सकते।

रस्किन की इस परिभाषा में दो-तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात है अभिव्यक्ति वाली। वह कला को अभिव्यञ्जना मानता था। यह अभिव्यञ्जना मानव अनुभूतिमूलक आह्लाद की होती है। इससे प्रकट होता है कि कला को रस्किन आनन्दरूप भी मानता था। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि उसने मानव-कृति को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना ईश्वरीय कृति को। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि रस्किन के मतानुसार कला प्रकृति के सम्पर्क से उद्भूत मानव-हृदय में उत्पन्न होने वाले आनन्द की अभिव्यक्ति है।

गोथे—गोथे ने कला के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—*The highest problem of any art is to cause by appearance the illusion of a higher reality.*” अर्थात् किसी भी कला की सबसे बड़ी समस्या यह रहती है कि वह किस प्रकार महान् सत्य की प्रतिकृति प्रस्तुत करे। गोथे की परिभाषा पर विचार करने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उसके अनुसार कला वास्तव में सत्य की सजीव और साकार प्रतिकृति होती है। सत्य के अन्तर्गत प्रकृति और पुरुष दोनों ही आवेंगे। इस दृष्टि से कला को हम पुरुष और प्रकृति की मानव विरचित प्रतिकृति कह सकते हैं। इस मत के अनुसार कला सत्य की छाया ठहरती है सत्य नहीं।

शोपेनहार—शोपेनहार ने कला के स्वरूप का विवेचन तो नहीं किया है किन्तु उसकी मूल प्रेरणाओं और उत्पत्ति की ओर संकेत अवश्य किया है। उसका कहना है उपयोगी कला का जन्म आवश्यकता के कारण होता है। वह मानव-बुद्धि की उत्पत्ति होती है। ललित कलाओं का जन्म विलास और वैभव के कारण होता है। उसकी जन्मदायिनी प्रवृत्ति प्रतिभा कही जा सकती है। शोपेनहार ने इस प्रकार कला को बहुत कुछ बुद्धिमूलक सृष्टि ही मान लिया है। उसके मत से ऐसा आभास होता है कि कला में हृदय तत्त्व की मात्रा अधिक नहीं होती।

फ्रायड—फ्रायड ने कला को भी संकम या वासना के दृष्टिकोण से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उसके मतानुसार कला हृदय की दबी हुई वासनाओं का पर्युत्थान या उभरा हुआ रूप है। फ्रायड का मत बहुत प्रभावात्मक प्रतीत न होने हुए भी किसी अंश में सत्य है। जिन बातों को हम अपने दैनिक जीवन में संकोच के कारण व्यक्त नहीं कर पाते हैं उन्हें हम कला में निःसंकोच व्यक्त कर देते हैं।

डान्ते—डान्ते ने कला को प्रकृति की प्रतिकृति ध्वनित करने की चेष्टा की है। उसका कहना है कि कला प्रकृति का उसी प्रकार अनुकरण करती है जिस प्रकार शिष्य अपने गुरु का। जब तक उसमें प्रकृति के इस अनुकरण की वृत्ति पाई जाती है तब तक वह ऐसी प्रतीत होती है मानो कि ईश्वरागत वस्तु हो।

इलेगल—इलेगल ने कला के रूप पर तो विशेष विचार नहीं किया है किन्तु उसने कला में पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया है। उसका कहना है—*“All higher arts are divine & are essentially chaste.”* अर्थात् सभी महान् और दिव्य कलाएँ अवश्य ही पवित्र होती हैं।

जेम्स—जेम्स ने कला के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट विचार प्रकट किए हैं। उसके मतानुसार कला केवल कृति की बिम्ब-प्रतिबिम्ब प्रतिकृति ही नहीं बल्कि उससे कुछ ऊँची वस्तु है। सच्चा कलाकार अपनी कलाकृति प्रकृति के रूप को ज्यों का त्यों व्यक्त करते हुए भी प्रकृति के अन्तर्जगत् में प्रवेश कर उसके प्रच्छन्न सौन्दर्य की अनुभूति कर उसकी प्रतिष्ठा भी करता है।

माइकेल एञ्जिलो—माइकेल एञ्जिलो ने कला के सम्बन्ध में लिखा है—
“The true work of art is but a shadow of divine perfection.” अर्थात् सच्ची कलाकृति दिव्यपूर्णता की प्रतिकृति होती है। माइकेल एञ्जिलो का मत भी बहुत कुछ जेम्स साहब के मत से मिलता-जुलता है।

टॉल्स्टॉय—टॉल्स्टॉय ने ‘What is Art’ नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने कला सम्बन्धी विविध प्रचलित मतों की सम्यक् समीक्षा की है पुनश्च उन्होंने अपना मत प्रतिपादित किया है^१—उनके मतानुसार कला की प्रक्रिया अपने हृदय में उठी हुई भावनाओं की अनुभूति को क्रिया रेखा, वर्ण ध्वनि, शब्द आदि के सहारे दूसरे के हृदय तक पहुँचा देना ही है। कला के स्वरूप को टॉल्स्टॉय ने विधि-निषेधों के सहारे आगे और अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है। यहाँ पर उस पक्ष को उद्धृत कर देना अनुचित न होगा—

“कला जैसा कि अध्यात्मवादी कहते हैं, ईश्वर या सौन्दर्य के किसी रहस्यपूर्ण भाव की अभिव्यक्ति नहीं है, वह तत्त्व-वेत्ताओं के कथनानुरूप अपने एकत्रीभूत प्रोज के बाहुल्य का उपभोग कराने वाली क्रीड़ा भी नहीं है तथा उसे हम आनन्द भी नहीं कह सकते। वास्तव में उसका कार्य मनुष्यों को एक ही भाव में परस्पर बाँधना है तथा व्यक्ति और मानव की हित-नामना करना है।”^२

चार्ल्स विलियम—“भाव के हृदययोग में कला की स्थिति है।” संक्षेप में चार्ल्स विलियम का कला के सम्बन्ध में यही मत है।

१. “To evoke in ourself a feeling one has once experienced and having looked it in oneself, then, by means of movements, line, colours sounds or forms expressed in words so to transmit that feeling that is the activity of art.” —Tolstoy : ‘What is Art’.

२. “Art is not, as the metaphysicians say, the manifestation of some mysterious idea of Beauty or God; it is not, as the aesthetic physiologists say, a game in which man lets off his excess of stored up energy it is not the expression of man’s emotions by external signs. It is not, the pleasures but it is a means of union among men; joining them together in the same feelings, and indispensable for the life and progress towards well-being of individuals and of humanity.”

अरस्तू—अरस्तू की प्वाइटिक्स में कला का प्रत्यक्ष नाम तो नहीं दिया गया है किन्तु काव्य, नाटक, वेगुवादन, तंत्रीनाद आदि को अनुकरण कहा गया है।^१

ब्लाइबवेल—ब्लाइबवेल नामक विद्वान् ने कला का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—“कलाकार या कलाविदों का काम दर्शकों के मन में विशिष्ट भावना को जगा देना है।”

प्लेटो—प्लेटो ने प्रतीक व्यञ्जना को कला माना है। उन्होंने कला को केवल प्रतिकृति स्थापना मात्र नहीं माना है। वे उसे प्रकृति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब मानते थे।

प्लोटिनस—प्लोटिनस ने लिखा है कि कला जड़ प्रकृति से ऊँची वस्तु होती है। उन्होंने बताया कि प्रकृति दिव्य विचारों की जड़ अभिव्यञ्जना है। कला प्रकृति की अनुकृति है सही किन्तु उस अनुकृति में एक विशेषता होती है।

कुछ अन्य पाश्चात्य विचारक

स्लाइल क्रिसपस लीवजिज, वामागार्टन आदि विद्वानों ने भी कला को अनुकरणप्रधान ही सिद्ध करने की चेष्टा की है।

इटालियन विद्वान् पेगानो के मतानुसार कला प्रकृति के बिखरे हुए सौन्दर्य का चयन मात्र है।

चान्से (Schanase)—इस विद्वान् ने सबसे प्रथम यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि कला प्रकृति की अनुकृतिमात्र नहीं है। वास्तव में कला में वह विशेषता होती है जो प्रकृति में नहीं मिलती।

टकवेल—टकवेल ने अपने ‘Religion and Reality’ नामक ग्रंथ में लिखा है—“जिस प्रकार ब्रह्म की आत्मा का व्यक्तीकरण ही यह विश्व है उसी प्रकार कला-विदू की आत्मा का व्यक्तीकरण तथा उसकी मूर्ति ही उसका कार्य है।”

पारकर—पारकर नामक विद्वान् ने अपने ‘The Analysis of the Art’ नामक पुस्तक में कला को इच्छा का काल्पनिक व्यक्तीकरण माना है।

क्रोचे के कला सम्बन्धी विचार

कला के सम्बन्ध में क्रोचे के विचार बड़ा महत्त्व रखते हैं। क्रोचे अभिव्यञ्जनावादी विद्वान् था। उसका कला सम्बन्धी सिद्धान्त अभिव्यञ्जना पर ही आधारित है। वह अभिव्यञ्जना को ही सौन्दर्य मानता था। सौन्दर्य कला का प्राण है अतएव उसके कला सम्बन्धी विचारों को समझने के लिए उसके अभिव्यञ्जनावाद के सिद्धान्त को समझ लेना आवश्यक है। क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में मन को ही मूल सत्ता स्वीकार किया गया है। उनका दर्शन इसीलिए मन का दर्शन कहलाता है। उसके मतानुसार मन एक व्यापार रूप है। इसी मन को उसने परोक्ष सत्ता के रूप में भी ध्वनित करने

१. “Epic poetry, comedy, as far the most part the music of the flute and of the lyre, all these are, in the most general view of them, imitation.”

की चेष्टा की है। इस मनः-व्यापार के उसने स्थूल रूप से दो भेद माने हैं—

१. ज्ञान या प्रज्ञा—यह मन का सैद्धान्तिक पक्ष है।

२. क्रिया या संकल्पज्ञान—यह मन का व्यावहारिक पक्ष है। इस ज्ञान के भी ऋचे ने दो पक्ष माने हैं—

(क) कलात्मक ज्ञान या स्वयं प्रकाशज्ञान—यह ज्ञान मूर्तियों के माध्यम से प्रकट होता है। कला का सम्बन्ध इसी से है।

(ख) तार्किक ज्ञान या प्रमा—इसका सम्बन्ध तर्क और दर्शन से है।

कलात्मक ज्ञान—कलात्मक ज्ञान व्यष्टिमूलक और स्वतन्त्र होता है। यह व्यवस्त जगत् की नाना वस्तुओं की छाया से प्रभावित रहता है। उन्हीं नाना वस्तुओं की इस कलात्मक ज्ञान के साँचे में ढलकर निकली हुई अभिनव मूर्तिमयी अभिव्यक्ति को अभिव्यञ्जना कहते हैं। ऋचे अभिव्यञ्जना को उसके जनक मन के समान अमूर्त और सूक्ष्म मानता है। यही कारण है कि वह उसकी अभिव्यक्ति शब्दों में या चित्रों में आवश्यक नहीं ठहराता। उसके मतानुसार कलात्मक ज्ञान को कुछ अंग्रेजी में इन्ट्यूशन भी कहते हैं। बहुत से लोग इन्ट्यूशन और अभिव्यञ्जना को एक ही मान लेते हैं। इसी आधार पर बहुत से लोग अभिव्यञ्जना को वह साँचा मानते हैं जिसमें ढलकर कलात्मक ज्ञान अमूर्त से मूर्त कला का रूप प्राप्त करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ऋचे के मतानुसार मूर्त तथा अमूर्त अभिव्यञ्जना ही कला है।

पाश्चात्य विद्वानों के कला सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने पर निम्न-लिखित बातें दिखाई पड़ती हैं—

१. कला अभिव्यञ्जना का ही मूर्त रूप है।

२. कला में दिव्यता भी रहनी चाहिए।

३. कला सत्य की सजीव और स्वाभाविक अनुकृति है।

यह अनुकृति बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की न होकर प्रभावप्रधान होती है। अतएव कला में कभी-कभी वे बातें भी व्यञ्जित की जाती हैं जो उसकी सत्य प्रकृति से स्वतः स्पष्ट नहीं होतीं। किन्तु फिर भी उनसे उनकी व्यञ्जना होती है। कलाकार उस व्यञ्जना को अपनी कृति में अधिक मूर्त रूप देना चाहता है।

कला के सम्बन्ध में हिन्दी विद्वानों के मत

रामचन्द्र शुक्ल—शुक्ल जी के मतानुसार एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना यही कला का रहस्य होता है। —काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १०४

शुक्ल जी की उपर्युक्त कला सम्बन्धी परिभाषा से भी प्रकट होता है कि वे अभिव्यञ्जना तथा उसकी प्रेषणीयता को कला मानते थे।

गुप्तजी का कला सम्बन्धी मत—गुप्त जी ने साकेत के पंचम सर्ग में एक स्थल पर कला की परिभाषा इस प्रकार दी है—

“अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला”

उपर्युक्त पंक्ति के आधार पर स्पष्ट कहा जा सकता है कि गुप्त जी अभिव्यञ्जना को

ही कला मानते हैं।

गांधी जी—गांधी जी के मतानुसार कला आत्मा का ईश्वरीय संगीत है। वे उसकी आध्यात्मिकता में विशेष विश्वास करते थे। उनका दृष्टिकोण बिल्कुल वही है जो भारतीय मनीषियों का काव्य के सम्बन्ध में है।

समस्त मतों की आलोचना और निष्कर्ष

कला सम्बन्धी संस्कृत आचार्यों, पाश्चात्य पण्डितों तथा हिन्दी विद्वानों द्वारा दो गई परिभाषाओं से कई बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं।

१. संस्कृत आचार्यों का कला सम्बन्धी दृष्टिकोण पाश्चात्य पण्डितों और हिन्दी के विद्वानों के मत से सर्वथा भिन्न है। यह बात प्रसाद जी ने निम्नलिखित अवतरण में स्पष्ट रूप से स्वीकार की है—

“हमारे यहाँ इसका वर्गीकरण भिन्न रूप से हुआ। ‘काव्यमीमांसा’ से पता चलता है कि भारत के दो प्रचलित महानगरों में दो तरह की परीक्षाएँ अलग-अलग थीं। काव्यकार परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी। काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं की उपविद्या में। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ-साथ समस्या पूरण भी एक कला है; किन्तु वह समस्या-पूर्ति कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल मात्र समझी जाती थी। कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है वंसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।”

—काव्य और कला

२. पाश्चात्य तथा हिन्दी के अधिकांश विद्वान् कला को अभिव्यक्ति मानते हैं। केवल अन्तर अभिव्यक्ति के उत्पादन और स्वरूप में है। बहुत से विद्वान् आत्म-भाव की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। कुछ दूसरे विद्वान् स्वयं प्रकाश ज्ञान की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। एक वर्ग ऐसा भी है कि सत्य के अभिव्यक्त रूप की अभिव्यक्ति को कला कहता है। जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि अधिकांश विद्वान् कला को अभिव्यञ्जना मानने के पक्ष में ही हैं। अतएव हम अभिव्यञ्जना और कला पर स्वतन्त्र रूप से विचार करेंगे।

कला के सम्बन्ध में एक तीसरी बात भी ध्यान देने योग्य है। विद्वानों का एक वर्ग है जो उसे केवल अनुकरणमात्र मानता है। इस अनुकरण के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ उसे प्रकृति की अनुकृति मानते हैं और कुछ उसे कल्पनामूलक अनुकरण सिद्ध करते हैं। प्रकृतिमूलक अनुकरणवादी यथार्थवादी होते हैं और कल्पनामूलक अनुकरणवादी आदर्शवादी कहे जा सकते हैं। हमारी समझ में कला अनुकृति है किन्तु यह अनुकृति न तो प्रतिकृति ही कही जा सकती है और न प्रतिबिम्ब ही। वह प्रतिकृति और प्रतिबिम्ब होते हुए भी अभिनव होती है। यह नूतनता कवि की प्रतिभा के द्वारा लाई जाती है। इसी को कवि कलाकार की मौलिकता कहेंगे। कोई भी प्रतिकृति तभी कला कही जा सकेगी जब उसमें एक अनिवर्चनीय मौलिकता

होगी। इस अनिवर्चनीय मौलिकता से ही वह कला रूप नवीन प्रतीत होता है। यह नवीनता ही पाठक या दर्शकों में आनन्द आह्लाद का संचार करती है। इसी दृष्टि से कला को हम अनुकृति मान सकते हैं। कला को प्रकृति की जड़ अनुकृति मानने वालों के हम पक्षपाती नहीं हैं क्योंकि जब तक कला में नवीनता नहीं होगी तब तक उसमें सौन्दर्य नहीं होगा। जब तक उसमें सौन्दर्य नहीं होगा तब तक वह जड़ रहेगी। सजीव कला तो वास्तव में अनुभूत सौन्दर्य की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति होती है।

कला सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना है

सौन्दर्यानुभूति और आनन्द—भारतीय साहित्य का लक्ष्य आध्यात्मिक और दिव्य आनन्द की अभिव्यक्ति करना है। हम कई बार संकेत कर चुके हैं कि साहित्य या काव्य की मूल जननी तन्मयता की भावना है। यह तन्मयता सौन्दर्यानुभूति में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। जिस तन्मयता का सम्बन्ध सौन्दर्यानुभूति से होगा वह आनन्दमय अभिव्यक्ति और विधान में समर्थ हो सकेगी। यह आनन्दमय अभिव्यक्ति एकपक्षीय नहीं होती उसमें बाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ आन्तरिक सौन्दर्य भी निहित रहता है। कला का लक्ष्य इन्हीं बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य को अधिक से अधिक सजीव रूप में व्यक्त करना होता है। वास्तव में कला को अभिव्यञ्जना मानने वालों में भी जो भेद दिखाई पड़ता है उसका कारण उसकी एकपक्षता है। कुछ लोग केवल बाह्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को ही कला मान बैठते हैं। ऐसे ही लोग उसे प्रकृति की अनुकृति कहते हैं। इसके विपरीत कुछ दूसरे आदर्शवादी विद्वान् कला को अध्यात्म की अभिव्यक्ति मानते हैं। वास्तव में कला बाह्य सौन्दर्य और आन्तरिक सौन्दर्य दोनों की अधिक से अधिक सजीव अभिव्यक्ति कही जा सकती है।

ऊपर हमने कला को सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कहा है। इस सौन्दर्य के भी दो पक्ष माने हैं—बाह्य और आन्तरिक अथवा लौकिक और आध्यात्मिक। अब हम यहाँ पर सौन्दर्य के सम्बन्ध में कुछ दूसरे विद्वानों की सम्मतियों पर विचार कर लेना चाहते हैं।

जर्मन महाकवि गेटे ने एक स्थल पर लिखा है—“सौन्दर्य को समझना कठिन है। वह तरल भंगुर भासात्मक छाया-सा कुछ है।” इतना लिखते हुए भी वह सौन्दर्य की व्याख्या करने के लोभ को संवरण नहीं कर सका। उसने लिखा है—“A creation is beautiful when it has reached at the height of its natural development.” अर्थात् वही रचना सुन्दर हो जाती है जो अपने स्वाभाविक विकास की पराकाष्ठा पर होती है।

अरस्तू ने सौन्दर्य को सत्य और शिव से पृथक् नहीं माना है। शिक्षा और उपदेश को वह सौन्दर्य का एक प्रयोजन रूप मानता है। यह बात उसकी निम्नलिखित पंक्ति से प्रकट है—“I saw her shining there in the company of the celestial.” अर्थात् मैंने सुन्दरता को दिव्यता के साथ प्रकाशित होते देखा है।

प्लेटो ने दो प्रकार का सुख माना है—शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध सुख रूपात्मक सौन्दर्य से प्राप्त होता है जिसका प्रयोजन भौतिक नहीं आध्यात्मिक होता है। ऐसा सौन्दर्य ही प्लेटो के विचार से सत्य और मंगल का प्रतिष्ठापक है।

प्लेटो के समान ही हीगेल सौन्दर्य में आध्यात्मिकता की छाया देखता था। सौन्दर्य की परिभाषा उसने इस प्रकार दी है—“Beauty is the spiritual making itself known sensuously.”—अर्थात् सौन्दर्य आध्यात्मिकता का भावात्मक प्रकाशन है।

शेफ्ट्सबरी ने सौन्दर्य में आध्यात्मिकता को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उसकी दृष्टि में ईश्वर और सौन्दर्य में कोई भेद ही नहीं रह गया। उसने स्पष्ट लिखा है—

“Beauty and God are one and the same.”

क्रोट नामक विद्वान् ने सौन्दर्य को भाव की अभिव्यक्ति माना है। उसने लिखा है—

“All beauty is the expression of what may be generally called emotion.”

कीट्स ने सौन्दर्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—

“A thing of beauty is a joy for ever.”—अर्थात् शाश्वत आनन्द का विधान करने वाली वस्तु ही सौन्दर्य है। कीट्स ने सत्य और सौन्दर्य को एक कहा है—“Beauty is truth and truth is beauty.”

ह्यूम ने सौन्दर्य की परिभाषा तो कहीं नहीं दी है किन्तु एक स्थल पर इतना अवश्य लिखा है कि सौन्दर्य वस्तुओं का स्वभाव-संजात गुण नहीं है। उसका अस्तित्व चिन्ता करने वाले चित्त में ही होता है।

आत्मानन्द के उद्दीप्त होने पर बाह्य पदार्थों के माध्यम से कल्पना के सहारे जो रचना करता है उसी को बर्क ने सौन्दर्य-सृष्टि कहा है। वह सौन्दर्य-सृष्टि के लिए बाह्यानुभव और आन्तरिक आनन्द दोनों के उद्बोधन को आवश्यक मानता है।

बोसके ने अपने ‘History of aesthetic’ में यह बताने की चेष्टा की है कि जब वस्तु धर्म कल्पना से समन्वित होकर प्रकाशित होता है, तभी वह सुन्दर होता है। कैंट ने सौन्दर्य को एकचित्तावस्थामात्र माना है। कोई भी बाह्य रूप जब हमारी एक विशिष्ट अन्तश्चेतना के वशवर्ती होकर उसी विशिष्ट आकार में ढलकर प्रकट होता है उसी को कैंट ने सौन्दर्य कहा है। वामागार्टन ने कहा है, बाह्य वस्तु का सामञ्जस्य सुन्दर नहीं होता है। वह इस प्रकार आभ्यान्तरिक सौन्दर्य को भाषा द्वारा प्रकट करने में असमर्थ समझता है।

भारतीय विद्वानों के सौन्दर्य सम्बन्धी मत

कालिदास—कालिदास ने भी रूप में पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया है। कुमारसम्भव के पंचम सर्ग में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि रूप कभी भी विकार का

कारण नहीं होता। 'शकुन्तला' में भी एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि रम्य दृश्य या मधुर शब्द सुनकर सुखी मनुष्य भी उत्कण्ठित होता है, क्योंकि निश्चय ही वह जन्म-जन्मान्तर के सौहार्द को अनजान में स्मरण करता है। सौन्दर्य हमारे अन्तर के किसी न किसी आदर्श को पूर्ण करता है।^१

पंडितराज जगन्नाथ—पंडितराज जगन्नाथ ने सौन्दर्य या रमणीयता का रूप-निर्देश करते हुए लिखा है—

“रमणीयता च लोकोत्तराङ्गावात् ज्ञानगोचरता” अर्थात् अलौकिक आनन्द का ज्ञान-गोचर होना ही रमणीयता है।

भारवि—भारवि ने प्रतिपल विकसित होने वाले रूप को ही सौन्दर्य की संज्ञा दी है—उनकी “क्षरो क्षरो यन्मवतां उपैति तदेव रूपं रमणीयताया” वाली पंक्ति से कौन नहीं परिचित है।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ का मत—कवीन्द्र रवीन्द्र सौन्दर्य को केवल रूपप्रधान ही नहीं मानते थे उसमें वे शिव-तत्त्व की प्रतिष्ठा अपेक्षित समझते थे। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—“सौन्दर्य की मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है, और मंगल की मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।”

अज्ञित चक्रवर्ती—यह सौन्दर्य की असीमता को महान् कहते हैं। जब कोई वस्तु सीमित रहती है और अच्छी लगती है तब वह सुन्दर कहलाती है किन्तु वही जब पूर्ण होकर विश्वव्यापी और असीम हो जाती है तब महान् कहलाती है।

हिन्दी विद्वानों के सौन्दर्य सम्बन्धी मत

हिन्दी विद्वानों और कवियों से सौन्दर्य की कहीं भी अलग से स्वतन्त्र व्याख्या नहीं की है। फिर भी सौन्दर्य-प्रेमी कवियों से सौन्दर्य की अज्ञात रूप से व्याख्या हो ही गई।

विद्यापति—विद्यापति ने रूप को अनिवर्चनीय और नित्य नवीन माना है। उसकी इस पंक्ति से यही बात प्रगट होती है। “जनम जनम हम रूप निहारल तवपि न तिरपित भेलरे।”

जायसी—जायसी सौन्दर्य या रूप में आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा मानते थे। इस आध्यात्मिक आनन्द की सबसे प्रधान विशेषता आङ्गाद प्रदान करना है। इस रूप के प्रभाव से ज्ञानोदय होता है और अज्ञान का अन्धकार विदीर्ण हो जाता है। इनका यह भाव निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

“देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन हुई छावा ॥

१. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दात् ।

पयुंत्सुकी भवति यत् सुखिनोऽपि जगुः ॥

“तच्चेतसा स्मरति मूलम् अवोषपूर्वः ।

भावस्थिरानि जन्मान्तरं सौहृदानि ॥”

—शकुन्तला

गा अधियार रंनमसि छूटी । भामिनसार किरन रबी फूटी ॥
अस्ति अस्ति सब साथी बोले । अन्ध जो अहै नैन बिधि खोले ॥”

बिहारी—भारवि के समान बिहारी भी सौन्दर्य की नित्य-नवीनता में विश्वास करते थे । निम्नलिखित दोहे में उन्होंने सौन्दर्य की इसी विशेषता की ओर संकेत किया है—

“लिखन बंठि जाकी सबी गही गही जल गरूर ।
भए किते न जगत के घगुर चितेरे क्रूर ॥”

जयशंकर प्रसाद—प्रसाद जी सौन्दर्य की अवस्थिति समरसता में मानते थे । कामायनी के अंतिम पद से उनका यह दृष्टिकोण स्पष्ट प्रकट है—

“समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था ।
चेतनता एक बिलसती,
आनन्द अखंड घना था ।”

सब मतों की आलोचना और निष्कर्ष

सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त मतों की आलोचना करने पर प्रतीत होता है कि अधिकांश विद्वान् सौन्दर्य के आध्यात्मिक पक्ष में विश्वास करते हैं । इसका कारण सम्भवतः यह है कि विद्वान् लोग प्रायः सात्विक प्रवृत्ति के और आदर्शवादी होते हैं । इसीलिये उन्होंने सौन्दर्य के अध्यात्म पक्ष पर बहुत अधिक जोर दिया है । वास्तव में सच्चा सौन्दर्य तभी आता है जब बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्यों का सुन्दर सामञ्जस्य हो । कुछ रसिक विद्वानों और कवियों ने सौन्दर्य के बाह्य पक्ष पर जोर देने की चेष्टा की है । किन्तु सौन्दर्य का बाह्य पक्ष बहुत स्थूल और क्षणिक कहा जा सकता है । यदि हम बाह्य पक्ष को महत्त्व देना ही चाहें तो उसकी स्थूलता और क्षणिकता दूर कर उसमें नित्य नवीनता और शाश्वतता प्रतिष्ठित करनी पड़ेगी । ऐसा करने से सौन्दर्य बाह्य होते हुए भी आध्यात्मिक प्रतीत होगा । वास्तव में सच्चा सौन्दर्य भी वही होता है जिसमें बाह्य और आन्तरिक के सामञ्जस्य-विधान की चेष्टा देखी जाती है । इसीलिये हमें विद्यापति का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है । उनकी अतृप्ति वाली बात से सौन्दर्य की आनन्द विधायिनी प्रवृत्ति भी प्रकट होती है । सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा विवाद और प्रचलित है । कुछ लोग इसे केवल विषयी-प्रधान (Subjective) मानते हैं और कुछ लोग इसे विषयप्रधान सिद्ध करते हैं । सम्बन्धित (विषयी प्रधान) मानने वालों का कहना है कि सौन्दर्य व्यक्ति को आत्मगत अनुभूति है । बाह्य जगत् से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं होता । एक असुन्दर वस्तु भी उसे प्रिय लग सकती है । इस मत से हम बहुत सहमत नहीं हैं । इतना तो हम भी स्वीकार कर सकते हैं कि सौन्दर्यानुभूति के मूल में कुछ संस्कार काम करते हैं किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वे ही इसके एकमात्र उत्तरदायी हैं । हमारी धारणा यह है कि सौन्दर्यानुभूति बहुत कुछ देस काल और सौन्दर्य के मानदण्ड के अनुरूप रूप

को देखकर स्वतः ही होने लगती है। इस दृष्टि से भी यही स्पष्ट होता है कि सौन्दर्य का सच्चा स्वरूप आन्तरिक और बाह्य के सामञ्जस्य में ही निहित रहता है। सौन्दर्य का स्वरूप चाहे जैसा भी माना जाए किन्तु इतनी बात निर्विवाद है कि उससे हमें आनन्द की उपलब्धि होगी। इसी आनन्द की अभिव्यक्ति करना कला का लक्ष्य है। इसलिए हम अनुभूत सौन्दर्य के सजीव पुनर्विधान को ही कला कहेंगे। यह पुनर्विधान की प्रक्रिया ही अभिव्यञ्जना कही जाती है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि सच्चे सौन्दर्य में आन्तरिक और बाह्य का सुन्दर सामञ्जस्य पाया जाता है। इसी आधार पर विद्वान् लोग कला का वर्गीकरण भी करते हैं। जिन कलाओं में आन्तरिक सौन्दर्य की ही सच्ची अभिव्यञ्जना पाई जाती है वे कलाएँ सूक्ष्म कलाएँ कही जा सकती हैं। इसके विपरीत जिन कलाओं में स्थूल सौन्दर्य की ही प्रधानता होती है वे कलाएँ स्थूल कहलाती हैं।

हमने अनुभूत सौन्दर्य के पुनर्विधान को ही कला कहा है। यों तो सौन्दर्यलिप्सा और सौन्दर्यानुभूति की प्रवृत्तियाँ मानवमात्र में पाई जाती हैं किन्तु कलाकार की सौन्दर्यानुभूति दूसरे प्रकार की होती है। कलाकार का सहृदय होना नितान्त आवश्यक होता है। इस बात को प्राच्य और पाश्चात्य दोनों विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। प्लेटो ने लिखा है कि कलागत आनन्द के अधिकारी संस्कृत और शिक्षासम्पन्न व्यक्ति ही होते हैं। हमारे यहाँ दण्डी और आनन्दवर्धनाचार्य आदि ने भी कलाकार के सहृदयत्व पर बहुत जोर दिया है। इससे यह प्रकट होता है कि कलाकार की सौन्दर्यानुभूति साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और ऊँची होती है। कला में, वास्तव में, ऐसी ही सौन्दर्यानुभूति का पुनर्विधान पाया जाता है। उससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कला से जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह आनन्द साधारण लौकिक व्यक्तियों के आनन्द से भिन्न होता है। कलाकार और कला-प्रशंसक दोनों ही सामान्य मानव से थोड़ा ऊँचे होते हैं। इनमें से यदि प्रथम ऐसा न हुआ तो कला निष्कण्ट कोटि की होगी और दूसरा ऐसा न हुआ तो कला के सौन्दर्य की उसे अनुभूति ही न होगी। वास्तव में सौन्दर्यानुभूति और उसका पुनर्विधान दोनों ही सामान्य स्थिति से नहीं किये जा सकते। इस दृष्टि से हम कला को सामान्य व्यञ्जना नहीं कह सकते। वास्तव में कला मानव की उदात्त सौन्दर्यानुभूति का उदात्त पुनर्विधान है। यही कारण है कि कला के स्वरूप का जितना सम्यक् विकास हमें शिक्षित और सुसभ्य जातियों में दिखाई पड़ता है उतना असभ्य और पशुवृत्ति जातियों में नहीं।

हमारी अपनी धारणा है कि जब कलाकार सौन्दर्य का स्वयं अनुभव करता है तब उसकी अनुभूति में बाह्य बातों का प्रभाव अधिक रहता है किन्तु जब उस सौन्दर्य का वह पुनर्विधान करता है तो उसमें उसकी आत्मा भी बिखर पड़ती है। तभी लोक का साधारण-सा सौन्दर्य भी कला रूप में प्रसाधारण-सा लगने लगता है। उसमें एक विचित्र अनिर्बचनीय आकर्षण-सा आ जाता है। आनन्दवर्धन ने महाकवि की वाणी में जिस

अनिर्वचनीय सौन्दर्य की अवस्थिति का उल्लेख किया है।^१ उसका कारण आध्यात्मिक ही है। जब किसी भी कला में कलाकार की आत्मा प्रतिष्ठित हो जाती है तभी उसमें अनिर्वचनीयता, शाश्वतता, पवित्रता, सजीवता आदि का समावेश हो जाता है। क्योंकि आत्मा में ये सभी गुण पाए जाते हैं। कला रूप में उनकी ही अभिव्यञ्जना होती है। सम्भवतः यही कारण है कि बहुत से विद्वान् कला को आत्मा के सदृश अखण्ड भी मानते हैं। कुछ ऐसे विद्वान् भी हैं जो कला को आध्यात्मिक वस्तु मात्र समझते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है, कला अनुभूत सौन्दर्य की एक विशिष्ट प्रकार की अभिव्यञ्जना है।

कला और जीवन

कला जीवन की प्रतिच्छाया है। जीवन के सौन्दर्यात्मक और आनन्दात्मक पक्ष का उद्घाटन कला द्वारा ही होता है। किन्तु कुछ विद्वानों ने कला को बाह्य जगत् और जीवन से पूर्ण तटस्थ मानकर उसे अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति माना है। कला विषयक यह दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों में ब्रैडले का कला सम्बन्धी यह कथन उल्लेखनीय है—

“Its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world, but a world in itself, independent, complete, autonomous.” अर्थात् कला की प्रवृत्ति इस दृश्यमान जगत् के किसी अंग का प्रदर्शन करना या उसकी अनुकृति उपस्थित करना नहीं है बल्कि इससे भिन्न एक पूर्ण स्वतन्त्र सृष्टि का विधान करना है। क्लाइवेल ने भी इसी प्रकार कहा है—“To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions.” अर्थात् किसी कला-कृति का मूल्यांकन करने के लिए हमें जीवन से कुछ भी प्राप्त करना नहीं होता। जीवन के ज्ञान, उसके भावों, विचारों और कार्यों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

जीवन से कला की यह तटस्थता किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। कला के इस स्वयं विधायक पक्ष के अतिरिक्त उसका एक उपयोगी पक्ष भी है जो जीवन से उसका दृढ़ सम्बन्ध स्थिर करता है। कला के सम्बन्ध में स्वान्तःमुखाय की भावना केवल विषय-निर्वाचन और प्रतिपादन-शैली तक ही सत्य हो सकती है। उसका विषय जीवन और समाज ही होता है। पाश्चात्य देशों में कला के सैद्धान्तिक पक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। उसका सम्पर्क मानसिक वृत्तियों से अधिक माना गया है। क्रोचे ने मानसिक अभिव्यक्ति को ही कला माना है। भारत में कला के इस सैद्धान्तिक पक्ष का प्रभाव-सा है। यहाँ पर उसके व्यावहारिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। इस दृष्टि से यहाँ चौंसठ कलाएँ मानी गई हैं।

कला के उदय और विकास का सम्बन्ध जीवन से ही है। उसका उद्देश्य जीवन की व्याख्या करना ही नहीं है बल्कि जीवन के आदर्शों को भी स्थिर करना है। यथार्थ

१. “प्रतीयमानं पुनरप्येव वस्तुस्ति वाणीषु महाकवीनां,

एतत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभाति लाघव्यनिवाङ्मनासु।”—ध्वन्यालोक

और आदर्श के सम्मिश्रण से श्रेष्ठ कला का जन्म होता है। एक विद्वान् ने कला के लिए कहा है—“The presentation of the real in its mental aspect.” अर्थात् कला वास्तविकता का मानसिक दृष्टिकोण द्वारा प्रदर्शन है। दैनिक सत्य आदर्शात्मक रूप धारण कर कला के रूप में व्यक्त होता है। कला द्वारा इस आदर्शीकरण की भावना गुप्त जी ने भी व्यक्त की है—

“हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा—
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा,
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहा,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।”

संस्कृति और ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ कल्पना का भी विकास होता है। मानव की परिष्कृत रूचि-कला का रूप धारण करती है। इसकी अभिव्यक्ति मानव-जीवन को पशु जीवन से भिन्न कर देती है। सौन्दर्य-बोध मानव का स्वाभाविक गुण है। इसी प्रवृत्ति के द्वारा वह सुन्दरतम वस्तुओं का निर्माण करता है। कुशल कलाकार असुन्दर वस्तु में भी सुन्दर के दर्शन कर उसे कलात्मक रूप प्रदान करता है। कला और सौन्दर्य का यह सम्मिश्रण ही जीवन में नवीन आनन्द का विधान करता है।

प्रकृति और कला का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकृति का अनन्त स्वरूप सदैव ही मानव का सहचर रहा है। भावुक कवि अपनी अनन्त भावनाओं से प्रकृति में साम्य देखता है। अतः वह अपनी भावना को प्रकृति के आधार पर स्पष्ट करने के लिए कला का आश्रय लेता है। उसकी कर्तृत्व शक्ति कला के रूप में प्रगट होती है। कलाकार की कुशलता अपनी सृष्टि को स्वाभाविक बनाने में ही है जिससे वह जीवन के निकट आ सके।

कला द्वारा कलाकार अपनी अव्यक्त भावनाओं को व्यक्त करता है। वह मानवीय भावनाओं की झोतक है। इसके द्वारा आत्मगत भावों की तुष्टि होती है जो मानसिक शान्ति प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त विश्व-सम्बन्ध के प्रतीक रूप में भी कला का विकास हुआ है। मनुष्य एक दूसरे के जीवन से जिन अनुभूतियों का अनुभव करता है उन्हें कला द्वारा व्यक्त करता है। उसे हम विश्व सम्बन्ध की अभिव्यक्ति कह सकते हैं।

कला जीवन की अस्त-व्यस्तता और अन्यमनस्कता में व्यवस्था स्थापित करती है। जीवन के सुख-दुखपूर्ण द्वन्द्वों में एक अनुपात स्थिर करने की क्षमता रखती है। सुख के क्षणों में कला का आश्रय पाकर मानव मोहक मादकता और रमणीय रस में मग्न हो जाता है तथा दुख के क्षणों में उसी के आश्रय से अपने व्यथित और संतप्त हृदय को शीतलता प्रदान करता है। प्रसाद के नाटक ‘स्कन्दगुप्त’ की देवसेना की संगीतप्रियता में इसी तथ्य के दर्शन होते हैं।

कलाकार का व्यक्तित्व बाह्य जगत् और अन्तर्जगत दोनों की सत्ताओं से युक्त होता है। अतः उसकी कलाकृति के भी दो पक्ष होते हैं—एक आत्मिक और दूसरा

बाह्य । हम कला को एकपक्षीय नहीं कह सकते । दोनों पक्षों के अपने स्वतन्त्र क्षेत्र होते हैं। यद्यपि कला में कलाकार की आत्म-चेतना की ही प्रमुखता रहती है पर जीवन और जगत् से उसको विच्छिन्न नहीं किया जा सकता । वास्तव में उसकी आत्मिक चेतना और प्रतिभा जीवन और जगत् का संसर्ग पाकर ही विकसित होती है और स्वाभाविक और जनसम्बन्ध रूप धारण करती है । कलाकार की सफलता अपनी कृति को 'हृदय सम्बादि' रूप प्रदान करने में ही है । यह तभी सम्भव हो सकता है जब सब की भावनाएँ कलाकार की अपनी भावनाएँ बन जाएँ ।

अतः कला अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी जीवन से सम्बन्धित है । इसी सम्बन्ध को लेकर योरोप में 'कला जीवन के लिए' वाला वाद उठ खड़ा हुआ । आगे हम इस वाद पर विस्तार से विचार करेंगे । इस प्रसंग में वह भी पठनीय है ।

कला के लक्ष्य या प्रयोजन के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के मत

अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार आनन्दविधान ही कला का प्रधान लक्ष्य होता है । इसके लिए इन्होंने Pleasure, delight, joy, happiness आदि शब्दों का प्रयोग किया है । किसी ने कला का लक्ष्य 'Supreme happiness' माना है, किसी ने 'Joy for ever' को ही उसकी कसौटी ठहराया है, कोई 'Pure and elevated pleasure' को ही उसका लक्ष्य मानता है । एरिस्टोटिल ने तो एक ही स्थान पर इसी प्रकार के कई शब्दों का प्रयोग किया है । वह लिखता है—"The object of poetry as of all the fine arts is to produce an emotional delight a pure and elevated pleasure." इसके आगे वे फिर लिखते हैं—"It is a moment of joy complete in itself and belongs to the ideal sphere of supreme happiness." कला के प्रयोजन रूप इस आनन्द के लिए अरस्तू ने उपयुक्त शब्दों के अतिरिक्त "A sane and wholesome pleasure, noble emotional satisfaction, refined pleasure" आदि अभिधान भी दिए हैं ।

पाश्चात्य दार्शनिक वर्गों का मत भी अरस्तू से कुछ मिलता-जुलता है । उसके मतानुसार कला का लक्ष्य हमें एक ऐसी निष्ठुद मानसिक स्थिति में ले जाना है जहाँ हम भावानुभूति की जैसी की तैसी ही अनुभूति कर सकें ।

पाश्चात्य साहित्य में कला के लक्ष्य या प्रयोजन को लेकर बहुत से वाद उठ खड़े हुए हैं । संक्षेप में प्रसिद्ध वाद इस प्रकार हैं—

१. कला कला के अर्थ ।
२. कला जीवन के लिए ।
३. कला जीवन से पलायन के अर्थ ।
४. कला जीवन में प्रवेश के लिए ।
५. कला सेवा के अर्थ ।
६. कला आत्मानुभूति के अर्थ ।
७. कला आनन्द के अर्थ ।

का भ्रम उत्पन्न कर सकती है किन्तु वह एक सच्चे भक्त थे। लोक सुख ही उनका सुख और उसका दुख ही उनका दुख था। 'स्वान्तः सुखाय' में कोरा स्वार्थ ही न था। वल्कि उनका विश्वास था कि राम के यश गायन से वे सात्विक आनन्द का प्रसार कर स्वयं एक अनुपम सन्तोष प्राप्त करेंगे। तभी तो उन्होंने जनोपयोगी काव्य को ही सार्थक कहा है—

“कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सबकर हित होई ॥”

काव्य स्वरूप की ओर संकेत करते समय भी वे काव्यजनित आनन्द भावुक और भावक दोनों के लिए है इस बात को सदैव ध्यान में रखते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि उसके वास्तविक सौन्दर्य का उद्घाटन भावक ही करते हैं—

“मनि मानिक मुक्ता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ।

नृप किरोट तरुनी तनु पाई, लहि सकल शोभा अधिकारी ।

तैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं, उपजहि अनत—अनत छवि लहहीं ।”

बुधजन जिस प्रयास को आदर की दृष्टि से न देखें, तुलसी उसको व्यर्थ ही मानते हैं—

“जो प्रबन्ध बुध नहि आदरहीं, सो भ्रम बादि बाल कवि करहीं ।”

तुलसी के ये विचार पाश्चात्य कलाकारों के 'कला मेरे लिए' (Art for my sake) वाले सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। इनमें एक उदार व्यापकता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में कला को जीवन के लिए मानने वाले विद्वानों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उल्लेखनीय हैं। वह तुलसी के ही अनुयायी हैं। तुलसी के समान ही कला में काल्पनिक सौन्दर्य और जीवनगत सौन्दर्य दोनों के सामञ्जस्य को आवश्यक मानते हैं। 'चिन्तामणि' में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

“मन को अनुरंजित करना, उसे सुख और शान्ति पहुँचाना ही यदि कवि का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी एक विलास की सामग्री हो जायगी ।”

मंथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में कला को जीवन का उपकारक ही माना है—

“मानते हैं जो कला के अर्थ ही,

स्वाधिनी करते कला को व्यर्थ ही ।

वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,

चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये ।”

—साकेत : प्रथम सर्ग, पृ० २१

सच तो यह है कि निराशावादी, छायावादी कवि भी काव्य में जीवन का विस्मरण नहीं कर सके हैं—

“चुन चुन ले रे कन कन से जगती की सजग व्यथायें ।

रह जाएगी कहने को जन-रंजनकरी कथाएँ ॥

जगती का कलुष अपावन तेरी बिबरधता पावे ।

फिर निस्तर उठे निर्मलता यह पाप पुण्य हो जावे ॥” —प्रसादः आँसू

१. “सामञ्जस्य काव्य और जीवन की सफलता का मूल मन्त्र है ।”

—काव्य में रहस्यवाद : आ० शुक्ल

विविध कलाएँ और उनका वर्गीकरण

हम ऊपर बतला चुके हैं कि कला सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्य देशों की कला सम्बन्धी धारणा से बहुत भिन्न है। भारत में कला के विविध विभेद बतलाए गए हैं। उनके अध्ययन से पता चलता है कि कला सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण थोड़ा संकुचित था। भामह ने कला को 'कामाश्रय संश्रिता' कहकर उसे और भी स्पष्ट कर दिया है। प्राचीन भारत की संस्कृति में अर्थ, धर्म और मोक्ष के साथ-साथ काम का भी ऊँचा स्थान था। नागरिक जीवन में इसीलिए सम्भवतः कामाश्रया कलाओं को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था। 'कलाविलास' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि नागरिक जीवन के सभी क्षेत्रों में किसी न किसी कला को अनिवार्य-सा समझा जाता था। विविध कलाओं का विकास ही नागरिक जीवन का इतिहास था। नागरिक जीवन में विकसित होने वाली इन विविध कामाश्रया कलाओं के नाम और संख्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहाँ पर संक्षेप में हम उनका संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं—

कामशास्त्र के ग्रन्थों में वात्स्यायन का कामसूत्र बहुत प्रसिद्ध है। बहुत से विद्वान् इसका रचना-काल ६१७ ई० पू० मानते हैं। दूसरे विद्वानों का मत है कि इसकी रचना ३१२ ई० पू० में हुई थी। इस ग्रन्थ में ६४ कलाओं का वर्णन है। इसी आधार पर भारत में चौंसठ कलाओं को मान्यता दी गई है। विविध साहित्य ग्रन्थों में इसी के आधार पर चौंसठ कलाओं के नामों का उल्लेख किया गया है। कामसूत्र तथा साहित्य ग्रन्थों में उपलब्ध कलाओं की सूची इस प्रकार है—

गीतं, वाद्यं, नृत्यम्, आलेख्यम्, विशेषकण्ठेष्टं, तण्डुलकुसुमवलिविकाराः, पुष्पास्तरणं, दशनवसनाङ्गरागः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम्, उदकाछातः, चित्राञ्चयोगाः, माल्यग्रन्थनम्, विकल्पाः, शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगाः, कर्णपत्रमङ्गा, गन्धयुक्तिः, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजालाः, कौचुमाराश्चयोगाः, हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रियाः, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवानकर्माणि, सूत्र-क्रीडा, वीणाडमरुवाद्यकानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगाः, पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावेष्टनविकल्पाः, तक्षकमार्गितक्षणम्, वास्तुवद्या, रुप्यरत्नपरीक्ष, धातुवादः, माणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेघ-कुक्कुटप्लावकयुद्धविधिः, शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सावने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्, अक्षरमुष्टि काकघनम्, मलेच्छितविकल्पाद्, देशभाषाविज्ञानम्, पुष्पशकटिका, तिमिस्त-ज्ञानम्, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, साम्पाष्यम्, मानसीकाध्यक्रिया, अभिधानकोषः, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितकयोगाः, वस्त्रगोपनानि, छूतविशेषाः, आकर्षक्रीडा, बालक्रीडनकानि, वैनयिकानां वैजयिकीनां व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानम्, इति चतुष्पष्टिरङ्गविद्याकामसूत्रस्यावयवविन्दः ।

कुछ ग्रन्थ ग्रन्थों में कलाओं की संख्या तो चौंसठ ही दी हुई है किन्तु कामसूत्र में वर्णित चौंसठ कलाओं में कहीं-कहीं परिवर्तन दिखाई पड़ता है। 'शुक्नीति' में

वर्णित चौंसठ कलाएँ कामसूत्र में वर्णित कलाओं से थोड़ी भिन्न हैं।

कुछ अन्य ग्रन्थों में कलाओं की संख्या चौंसठ से भी अधिक बढ़ा दी गई है। 'प्रबन्धकोष' नामक ग्रन्थ में बहत्तर कलाओं का उल्लेख मिलता है। 'ललित विस्तार' नामक बौद्ध ग्रन्थ में कलाओं की संख्या छयासी तक पहुँचा दी गई है। क्षेमेन्द्र ने सैंकड़ों कलाओं के नाम गिनाए हैं। जिनमें चौंसठ जनोपयोगी, चौंसठ सुनार की और चौंसठ वेश्या की आदि प्रमुख हैं। सबसे अधिक मान्य मत चौंसठ कलाओं वाला ही है।

इन चौंसठ कलाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा भी प्रचलित है। कहते हैं कि ब्रह्मा जी की उत्पत्ति के पश्चात् सबसे प्रथम प्रजापति और ऋषि सम्भूत हुए। इनके बाद ब्रह्माजी ने सन्ध्या नामक एक कन्या की उत्पत्ति की। पुनश्च कामदेवता का जन्म हुआ। कामदेवता ने सबसे पहला आक्रमण ब्रह्माजी पर ही किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि वे संध्या पर आसक्त हो गए। उन दोनों के संयोग से साहित्य के उनचास भाव और चौंसठ कलाएँ उत्पन्न हुईं। यह कथा 'कालिका-पुराण' में दी हुई है। 'कालिकापुराण' बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। इसलिए इस कथा को हम कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं दे सकते।

शैवाग्रमों में कला छत्तीस तत्त्वों में से एक तत्त्व मानी गई है। शैवदर्शन में चैतन्य के पाँच सहज-धर्म बतलाए गए हैं। वे क्रमशः नित्यता, व्यापकता, पूर्णता, सर्व-ज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता हैं। जीवात्मा में उसके इस स्वरूप के पाँच प्रकाश माने गए हैं—काल, नियति, विद्या, राग और कला। यह पाँचों माया के आवरण माने जाते हैं। चैतन्य इन्हीं से आवृत्त रहता है।

पाश्चात्य विद्वानों का कला सम्बन्धी दृष्टिकोण भारतीय कला सम्बन्धी दृष्टिकोण से भिन्न था इसीलिए उनका कला सम्बन्धी वर्गीकरण भी भारतीय वर्गीकरण से भिन्न है। पाश्चात्य देशों के भिन्न-भिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित भिन्न-भिन्न रूपों में कला को वर्गीकृत करने की चेष्टा की है—

(क) विद्वानों का एक वर्ग कलाओं को निम्नलिखित दो भागों में बाँटता है—

१. Natural art—प्राकृतिक कला।

२. Art acquired by practice or knowledge—ज्ञान एवं अभ्यासगत कला।

(ख) कुछ दूसरे विद्वानों के मतानुसार कला के निम्नलिखित दो भेद माने गए हैं—

१. Popular art—सामान्य कलाएँ।

२. Cultural art—सांस्कृतिक कलाएँ।

(ग) अधिकांश विद्वानों को कला के निम्नलिखित दो वर्गीकरण मान्य हैं—

१. उपयोगी कला।

२. ललित कला।

(घ) हेगेल ने कलाओं के तीन भेद माने हैं—

१. प्रतीकात्मक ।

२. प्रबन्धात्मक ।

३. भावात्मक ।

हिन्दी के कुछ आधुनिक विद्वानों ने कलाओं का वर्गीकरण अपने ढंग पर करने की चेष्टा की है। उनमें नलिनीकान्त का मत उल्लेखनीय है, इन्होंने 'साहित्यिका' नामक पुस्तक में कलाओं का वर्गीकरण वर्ण-व्यवस्था के रूप में किया है। उन्होंने काव्य को ब्राह्मण, स्थापत्य और भाष्कर्य को क्षत्रिय, चित्र को वैश्य और संगीत को शूद्र कहा है।

कुछ विद्वान कलाओं का वर्गीकरण सफल और असफल, पूर्ण और अपूर्ण भेदों से भी करते हैं।

विद्वानों के एक वर्ग ने कलाओं का वर्गीकरण उसके दो प्रधान पक्षों—अनुभूति और रूप के आधार पर किया है। इस दृष्टि से कलाओं के चार भेद किए जा सकते हैं—

१. अनुभूति की कमी पर रूप की विशेषता ।

२. अनुभूति की तीव्रता पर रूप की कमी ।

३. अनुभूति और रूप दोनों की न्यूनता ।

४. अनुभूति तथा रूप का समन्वय ।

उपर्युक्त प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त और भी कई प्रकार से कलाओं का वर्गीकरण किया जाता है। कुछ लोग प्राचीन कला तथा आधुनिक कला नामक भेद करते हैं। कुछ लोगों ने धार्मिक कला और लौकिक कला नामक श्रेणी विभाग किये हैं।

कला को वर्गीकृत करने का प्रयत्न करने वाले इन विविध मतों के विरोध में क्रोचे का प्रसिद्ध मत भी उल्लेखनीय है। क्रोचे कला को अखण्ड अभिव्यक्ति मानता है। उसके मतानुसार कलाओं को किसी भी प्रकार वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। यह बात दूसरी है कि सुविधा के लिए व्यावहारिक दृष्टि से कलाओं के बाह्य भेद स्वीकार कर लिए जाएँ किन्तु तात्त्विक दृष्टि से कला अखंड अभेद्य अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं। किन्तु इन भिन्न-भिन्न रूपों को हम अलग-अलग कला नहीं कहेंगे। यह सभी रूप किसी न किसी प्रकार की अभिव्यक्ति हैं, अभिव्यक्ति का दूसरा नाम ही कला है। अतएव यह प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न दिखलाई पड़ने पर भी अखंड और एकरूप हैं।

उपयोगी और ललित कलाएँ

ऊपर हम विविध विद्वानों द्वारा किए गए कलाओं के विविध वर्गीकरणों का निर्देश कर चुके हैं। इन समस्त वर्गीकरणों में ललित कलाओं और उपयोगी कलाओं वाला वर्गीकरण बहुत प्रसिद्ध और मान्य समझा जाता है अतएव हम उस पर विस्तार

से विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं। पाश्चात्य विद्वानों को यही वर्गीकरण सबसे अधिक मान्य है। जीवन में भी हम देखते हैं कि बहुत सी वस्तुएँ उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती हैं और बहुत सी सौन्दर्य की दृष्टि से। इसी आधार पर कलाएँ दो भागों में बाँटी गई हैं—उपयोगी कलाएँ और ललित कलाएँ।

उपयोगी कलाएँ—कला के स्वरूप का विवेचन करते हुए हम बतला चुके हैं कि अनुभूत सौन्दर्य का पुनर्विधान ही कला है। मनुष्य संसार में बहुत सी वस्तुओं को देखता है। उनमें से कुछ वस्तुओं को वह अपने उपयोग के अनुरूप ढालने की चेष्टा करता है। उपयोगी कलाओं की जननी यही चेष्टा है। हम जब अनुभूत सौन्दर्य का पुनर्विधान अपने स्वार्थ और उपयोग को दृष्टि में रखकर करते हैं तभी उपयोगी कला का विकास होता है। मानव के स्वार्थों का न कोई स्वरूप है न सीमा ही। यही कारण है कि उपयोगी कलाओं का न तो कोई निश्चित स्वरूप ही है और न सीमा ही। जितने प्रकार से मानव अपने स्वार्थ के अनुरूप रूप विधान कर सकता है उतने ही प्रकार की उपयोगी कलाएँ हो सकती हैं। इसीलिए इनके अन्तर्गत वे तमाम कारीगरी के कार्य आते हैं जिनका हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में उपयोग होता रहता है। कुम्हार की मिट्टी के बर्तन बनाने की कला से लेकर बड़े-बड़े हवाई जहाज बनाने तक की कलाएँ उपयोगी कलाओं के अन्तर्गत ही आवेंगी।

ललित कलाएँ—अनुभूत सौन्दर्य के जिस पुनर्विधान से हमारी आत्मा का विकास हो, हमारे मन का रंजन हो, हमारी चेतना सजीव हो, वही ललित कला के नाम से अभिहित किया जा सकता है। ललित कला शब्द का प्रयोग संस्कृत के विशाल साहित्य में केवल रघुवंश में ही एक स्थल पर 'ललिते कलाविधौ' वाक्यांश में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इस सम्बन्ध में भी विद्वानों के दो मत हैं। कुछ लोग तो उपर्युक्त वाक्यांश में ललित कला का संकेत नहीं पाते हैं; क्योंकि समास की दृष्टि से यह ठीक नहीं है। इसके विपरीत दूसरे विद्वान् कहते हैं कि महाकवि ने इस स्थल पर ललित कला का संकेत किया है। हमारी दृष्टि में प्रथम मत ही अधिक समीचीन है। ललित कला वास्तव में पाश्चात्यों के 'फाइन आर्ट' शब्द का हिन्दी अनुवाद है। पाश्चात्यों ने पाँच ही कलाएँ प्रमुख मानी हैं। उनके नाम क्रमशः काव्य कला, संगीत कला, मूर्ति कला, वास्तु कला और स्थापत्यकला हैं। वर्सफील्ड नामक विद्वान् ने इन पाँच के अतिरिक्त नाट्य कला, नृत्य कला और व्याख्यान कला नाम की तीन कलाएँ अपने 'जजमेंट इन लिटरेचर', नामक ग्रन्थ में और परिगणित की हैं। हेगेल ने ललित कलाओं के स्थूल रूप से दो भेद किए हैं—मूर्त्त आधारवाली और अमूर्त्त आधारवाली। उसके मतानुसार चाक्षुष, प्रत्यक्ष तथा स्थूल भौतिक पदार्थों के सहारे से व्यक्त की जाने वाली कलाएँ अमूर्त्त कहलाती हैं। प्रमुख कलाएँ इस प्रकार हैं—

काव्य-कला—भारतवर्ष में काव्य को कला से भिन्न समझा जाता था। भर्तृहरि ने 'साहित्यसंगीत कला विहीनः' लिखकर यही बात ध्वनित की है। 'काव्य-तार' में कुछ ऐसी ही व्यंजना मिलती है। उसमें कला को काव्य का ही एक अंग

माना गया है —

“न स शब्दो न तद्वाच्यम् न सन्यायो न सा कला
जायते यन्नकाव्याङ्गमहीभारः महान् कवेः”

कला सम्बन्धी ग्रन्थों में इसके विपरीत काव्य के कुछ अंगों को भी कला के अन्तर्गत समेट लिया गया है। ‘ललित विस्तर’ नामक ग्रंथ में छयासी कलाओं का उल्लेख है। इनमें काव्य से संबंधित कलाएँ निम्नलिखित हैं—

१. काव्यलिपि ।
२. काव्य व्याकरण ।
३. ग्रन्थ रचित ।
४. गीत पठित ।
५. क्रिया कल्पः (काव्यालंकार) ।

वात्स्यायन ने अपने ‘कामसूत्र’ में क्रियाकल्प और काव्य क्रिया इन्हीं काव्य सम्बन्धी क्रियाओं का उल्लेख किया है। ‘प्रबंधकोष’ नामक संस्कृत ग्रन्थ में काव्यलिपि नामक कला का ही उल्लेख है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय आचार्यों ने काव्य को अपनी सम्पूर्णता में कला नहीं माना है। उसके कुछ अंगों को ही वे कला के अंतर्गत लेते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों का मत भारतीय मत से भिन्न है। वे काव्य कला को एक प्रमुख कला मानते हैं। काव्य कला का आधार भाषा है। इसकी अनुभूति हमें चक्षु-इन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के सहारे होती है। काव्य कला की सहायिका संगीत कला भी है। चित्रकला ने भी इसको अनुग्रहीत किया है। चित्र काव्य बहुत कुछ चित्र-कला से ही संबंधित रहता है। मूर्तिकला का भी प्रभाव इसपर दिखाई पड़ता है। मूर्तिविधान करना या बिम्ब ग्रहण करना काव्य-कला की प्रमुख विशेषता है। इस प्रकार काव्यकला सभी कलाओं से समन्वित और प्रभावित प्रतीत होती है। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है। इसीलिए काव्यालंकार में भामह को कहना पड़ा था कि महाकवि की कविता में कोई भी ऐसा शब्द नहीं, जो उसका अंगभूत बनकर उस में समाविष्ट नहीं। इसीलिए काव्यकला अन्य कलाओं की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

संगीत कला—यह कला बहुत ही प्राचीन है। प्राचीन काल में गंधर्व और किन्नर इस कला के विशेषज्ञ माने जाते थे। गंधर्वों में अधिक प्रचार होने के कारण इसे गंधर्व विद्या या गंधर्व वेद भी कहा गया है। इस कला का शास्त्रीय विवेचन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त कर्लीनाथकृत संगीत रत्नाकर, संगीत पारिजात, संगीत दर्पण आदि उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

मूर्तिकला—प्राचीन भारत में कला का बहुत बड़ा सौन्दर्य मूर्तियों के रूप में प्रस्फुटित हुआ था। इस मूर्तिकला के प्राचीन भारत में बहुत से सम्प्रदाय थे, जैसे गांधार सम्प्रदाय, मथुरा सम्प्रदाय, अमरावती सम्प्रदाय आदि।

वास्तुकला—गृहस्तूप, स्तंभ, चैत्य और मन्दिर आदि की निर्माण कला को वास्तुकला कहते हैं। प्राचीन भारत में इस कला का बहुत सुन्दर विकास हुआ था।

नाट्यकला—भारत में नाट्यकला बहुत प्रतिष्ठित कला समझी जाती थी। इसे षष्ठम वेद की संज्ञा दी जाती थी। भरत मुनि का कहना था कि ऐसी कोई कला नहीं है, जिसका समावेश नाट्यकला में न हो।

नृत्यकला—नृत्यकला भी बहुत ही प्राचीन कला है। ऋग्वेद के प्रथम और छः मंडलों में नृत्य कला प्रवीण स्त्रियों का उल्लेख आया है। रामायण में भी नृत्य और गीत कलाओं की चर्चा की गई। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में लिखा है कि राज्य भवन में नृत्यशालाएँ होती थीं। इस कला का शास्त्रीय विवेचन भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में किया गया है।

व्याख्यानकला—हमारे यहाँ व्याख्यानकला का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है। पाश्चात्य देशों में विशेष करके १७ वीं शताब्दी में इस कला का अच्छा विकास हुआ।

चित्रकला—प्राचीन भारत में चित्रकला का भी अच्छा प्रचार था। सुरगुजरा रियासत में बहुत प्राचीन भित्तिचित्र मिले हैं। अजन्ता आदि गुफाएँ और अनेक प्राचीन मन्दिरों में चित्रित चित्र इस कला के विकास की साक्षी देते हैं। प्राचीन भारत में यह कला कितनी अधिक विकसित हुई इस सम्बन्ध में एक कथा है। मिथिला नरेश कुंभ जाति के पुत्र मल्लदिक्ष ने अपने लिए सुन्दर चित्रशाला बनवाई थी। उस चित्रशाला में एक चित्रकार ने राजकुमारी मल्लिका का केवल अंगूठा देखकर उसका पूरा चित्र खींच दिया था। इस कला का शास्त्रीय वर्णन विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्र सूत्र नामक अध्याय में किया गया है।

काव्य

महत्त्व—

काव्य वाङ्मय का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के बिना प्राणी समस्त अवयव और रूपाकार के होते हुए भी निर्जीव और कांतिहीन होता है उसी प्रकार काव्य से विरहित वाङ्मय सर्वथा निष्प्रभ और लावण्यहीन होता है। कुछ लोग नाटक को वाङ्मय का श्रेष्ठ स्वरूप मानते हैं। इसके प्रमाण में वे 'काव्येष नाटकं श्रेष्ठम्' वाली उक्ति उद्धृत करते हैं। किंतु कुछ आचार्य इस कथन को अर्थवादात्मक मानते हैं और काव्य को नाटक से वरीयस सिद्ध करते हैं। आचार्य भोज ने स्पष्ट लिखा है—
“अभिनेतृभ्यः कवीन् एव बहुमन्यामहे अभिनयेभ्यः काव्य वेत्ति” अर्थात् मैं अभिनेताओं से कवियों को, और नाटक से काव्य को वरीयस मानता हूँ। आचार्य भट्टतीत ने आचार्य भोज के उपर्युक्त कथन के पोषण में तर्क देते हुए लिखा है—“दर्शनात् वर्णनाच्चार्यं रुढा लोके कविः श्रुतः” अर्थात् काव्य में दर्शन और वर्णन का समन्वय रहता है अतः वह अभिनय या नाटक से जो केवल चाक्षुस्प्रेत्यक्ष मात्र होता है सर्वथा उत्तम है।

कवि शब्द की व्याख्या—व्याकरण से कवि शब्द की सिद्धि कुङ् धातु 'अच ईः' इस उणादिसूत्र (४।१३८) के द्वारा 'इ' प्रत्यय के संयोग से व्युत्पन्न मानी जाती है।

राजशेखर ने कवि शब्द को कवृ वर्णे धातु से निष्पन्न बताया है।

अमर कोष में भी कवि शब्द को 'कवृ वर्णे' से व्युत्पन्न व्यञ्जित किया गया है क्योंकि उसमें कवि की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है।

“कवते सर्वं जानाति वर्णयति वा कविः” अर्थात् सब विषयों के ज्ञाता या वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं।

भट्ट गोपाल ने कवि की व्युत्पत्ति और ही प्रकार से दी है। वह लिखते हैं—
“कौति शब्दायते विमृशति रसभावान् इति कविः” अर्थात् रस और भावों के विमर्श-कर्त्ता को कवि कहते हैं।

जिस प्रकार कवि शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ उपलब्ध हैं उसी प्रकार उसका प्रयोग भी कई अर्थों में मिलता है। वैदिक साहित्य में वह मनीषी वाचक है “कवि-मनीषी परिभूस्वयम्भू” (शुक्ल यजुर्वेद ४०।८)। पुराण ग्रंथों में इसका प्रयोग ब्रह्मा जी के अर्थ में किया गया है। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा जी की वन्दना 'आदि कवि' के अभिधान से मिलती है। साहित्य में कवि शब्द प्रतिभाशाली वर्णन निपुण और रचनाकार के अर्थ में मिलता है। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों में उस का इसी

अर्थ में प्रयोग पाया जाता है। आचार्य भट्टतीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं—

“प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता
तदनुप्राणनाजीवद् वर्णनानिपुणः कविः
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम् ।” भट्टतीत

काव्य शब्द कवि शब्द से ही व्युत्पन्न हुआ है जैसा कि भट्टतीत की उपर्युक्त पंक्तियों से प्रकट है। अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक लोचन टीका में ‘कविनीयं काव्यं’ लिखकर काव्य की व्याख्या की है। विद्याकर ने अपनी एकावली टीका में “कव-यति इति कविः तस्य कर्म काव्यम्” लिखकर काव्य की व्याख्या की है। मेदिनी कोष में काव्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी हुई है—

“कवेरिदम् काव्यं भावोवा इति काव्यम्”

इस प्रकार काव्य शब्द को संस्कृत आचार्यों ने विषय रूप से समझाने की चेष्टा की है।

काव्य और साहित्य में अंतर—यूँ तो संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में काव्य प्रयोग साहित्य के पर्याय के रूप में किया गया है। किन्तु दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं। साहित्य काव्य की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ का वाचक है। इसे हम वाङ्मय का पर्यायवाची कह सकते हैं। साहित्य शब्द की सर्व प्रसिद्ध व्युत्पत्ति है “साहित्यो शब्दार्थयो भावः साहित्यम्” अर्थात् शब्द और अर्थ के सार्थक समन्वय विधान को साहित्य कहते हैं। आचार्य कुन्तक ने साहित्य और काव्य की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। उन दोनों परिभाषाओं के अध्ययन से साहित्य और काव्य का अंतर सरलता से समझ में आ जाता है। उन्होंने साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

साहित्यमनयोः शोभा शालितां प्रति काव्यसौ ।

अन्यूनानतिरिक्तत्वं—मनोहारिष्ववस्थिति ॥

—व० जी० १।१७, पृ० २७

अर्थात् साहित्य उस रचना को कहते हैं जिसमें शब्द और अर्थ की परस्पर स्पर्धामय मनोहारिणी स्थिति रहती है। उपर्युक्त परिभाषा के भाव को यदि हम सरल-तम शब्दों में रखना चाहें तो कहेंगे कि—साहित्य शब्द और अर्थ का सुषमामय समन्वित स्वरूप होता है। उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि साहित्य की परिधि अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है।

काव्य शब्द का प्रयोग साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित, संकुचित और पारिभाषिक अर्थ में मिलता है। वक्रोक्तिकार की काव्य परिभाषा से यह बात प्रकट है—

शब्दार्थौ सहितौवक्रकवि व्यापार शालिनि ।

ब्रह्मे व्यवस्थितौ काव्यं तद् विवाह्यावकारिणि ॥

—व० जी०

अर्थात् सहृदय को आह्लादित करने वाली वक्रकवि व्यापार युक्त रचना व्यवस्थित शब्द और अर्थ के सार्थक सम्बन्ध से समुद्भूत होकर काव्य का अभिधान धारण करती है। यहाँ पर आचार्य ने केवल शब्द और अर्थ के सहित रूप साहित्य से काव्य की विलक्षणता प्रकट की है और उससे उसका भेदीकरण कर दिया है। भेदक तत्त्व हैं 'वक्रकवि व्यापार'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साहित्य के वक्रोक्ति विशिष्ट स्वरूप को ही काव्य कहेंगे। वक्रोक्ति को हम साधारणतया रसमय चमत्कार का वाचक मान सकते हैं। इस प्रकार चमत्कार विशिष्ट साहित्य को ही काव्य की संज्ञा दी जाती है।

हिंदी के प्रसिद्ध आचार्य डा० श्यामसुन्दर दास जी ने भी काव्य को साहित्य की अपेक्षा संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने लिखा है—भिन्न-भिन्न काव्य कृतियों का समष्टि संग्रह ही काव्य है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि साहित्य काव्य का समष्ट्यात्मक रूप है। उसका प्रयोग काव्य की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में किया जाता है। या यूँ कह सकते हैं कि काव्य साहित्य की अपेक्षा—कहीं अधिक संकुचित या पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त होता है। साहित्याचार्यों द्वारा निरूपित किसी भी प्रकार के रसमयचमत्कार से विशिष्ट शब्दार्थ विधान को काव्य कहेंगे।

भारत में काव्य या साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन होता रहा है। संस्कृत साहित्याचार्यों की परिभाषाओं पर यदि हम विचार करेंगे तो स्पष्ट हो जावेगा कि उन्होंने काव्य पर दो दृष्टियों से विचार किया है—एक काव्य के शरीर की दृष्टि से, दूसरे उसके प्राण की दृष्टि से। काव्य शरीर से सम्बन्धित मत दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—एक शब्दनिष्ठ सम्बन्धी और दूसरा शब्द और अर्थ उभय निष्ठ सम्बन्धी। शब्दनिष्ठ वालों का कहना है—“श्रीतत्कत्सु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः” इस मीमांसा सूत्र से शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। अतएव काव्य को शब्दनिष्ठ कहने से उसकी अर्थनिष्ठता स्वयं प्रकट हो जाती है। शब्दार्थवादी काव्य में शब्द और अर्थ को व्यासज्यवृत्ति से सम्बन्धित मानते हैं।

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में प्राचीन साहित्याचार्यों में बड़ा मतभेद है। कुछ रस को काव्य की आत्मा मानते थे तथा कुछ अलंकार को। कुछ औचित्य को प्राणभूत उपादान सिद्ध करते थे। कुछ की दृष्टि से काव्य का प्राण रीति था। वक्रोक्तिवादी, चमत्कारवादी और भोगवादी क्रमशः वक्रोक्ति, चमत्कार और भोग को काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में थे। इस प्रकार काव्य के प्राण को लेकर संस्कृत साहित्य में निम्नलिखित सम्प्रदाय उदय हो गए थे—

- | | |
|----------------------|-------------------------|
| (१) रस सम्प्रदाय | (५) वक्रोक्ति सम्प्रदाय |
| (२) अलंकार सम्प्रदाय | (६) औचित्य सम्प्रदाय |
| (३) ध्वनि सम्प्रदाय | (७) चमत्कार सम्प्रदाय |
| (४) रीति सम्प्रदाय | (८) भोग सम्प्रदाय। |

इन सम्प्रदायों का विस्तृत विवेचन तथा काव्य का व्यापक स्वरूप निरूपण इसी ग्रन्थ में आगे किया जाएगा। पहले यहाँ पर काव्योत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य राजशेखर ने जो पौराणिक कथा दी है, उसकी चर्चा कर देना चाहते हैं।

काव्योत्पत्ति के सम्बन्ध में पौराणिक कथा—प्राचार्य राजशेखर ने काव्योत्पत्ति के सम्बन्ध में एक प्राचीन और रोचक पौराणिक कथा का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है—

एक बार देव गुरु बृहस्पति के शिष्यों ने अपने गुरु से पूछा—“गुरुदेव! सरस्वती के पुत्र काव्य पुरुष कौन हैं !” इस पर गुरुदेव ने काव्योत्पत्ति की कथा इस प्रकार कही—“प्राचीन काल में पुत्र प्राप्ति की कामना से सरस्वती ने हिमालय पर्वत पर जाकर तपस्या प्रारम्भ की। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा जी ने कहा—‘हे वीणा-वादिनी ! मैं तेरे हित के लिए पुत्र उत्पन्न करूँगा ।’ इसके कुछ दिनों पश्चात् सरस्वती ने काव्य पुरुष को जन्म दिया। उस काव्य शिशु ने उत्पन्न होते ही माता को प्रणाम करते हुए कहा—

यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूल्या विवर्तितम् ।

सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब ! पादौ वन्देयतावको ॥

‘अर्थात् हे माता ! जिसका शरीर इस समस्त विश्व का वाङ्मय है, तथा जो अर्थ रूप से विवर्तित है, वही काव्य पुरुष मैं आपके चरणों की वन्दना करता हूँ ।’

सरस्वती इस प्रकार छन्दोबद्ध वाणी को सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और बोली—‘हे पुत्र ! यद्यपि मैं समस्त वाङ्मय की माता हूँ, परन्तु तूने इस प्रकार की सुन्दर छन्दोबद्ध भाषा से आज मुझ पर विजय प्राप्त कर ली है ।’ इतना कहकर माता ने काव्य पुरुष के अंगों का इस प्रकार वर्णन किया—

शरीर—शब्दार्थ, मुख—संस्कृत, बाहु—प्राकृत, जघन—अपभ्रंश, पाद—पंशाच, उर—मिश्रभाषा, गुण—सम, प्रसाद, माधुर्य, ओज, वाणी—उत्कृष्ट, रोम—छन्द, तेरे प्रश्नोत्तर—पहेली, वाग्विनोद—समस्यापूर्ति, अलंकार—अनुप्रास, उपमा आदि ।

इस प्रकार उस बालक के अंग-प्रत्यंगों की व्याख्या करके सरस्वती देवी आकाश गंगा में स्नान करके चली गई। उस अनाथ बालक को उशनस मुनि उठा ले गए। उस काव्य बालक की प्रेरणा से उस ऋषि के मुख से काव्यमयी वाणी प्रस्रवित हो उठी। तभी से उन्हें कवि कहा जाने लगा। पुनश्च उशनस ऋषि उस बालक को वाल्मीकि मुनि के यहाँ ले गए। उसकी प्रेरणा से ऋचवध के अवसर पर उनके मुख से भी छन्दोमयी वाणी फूट निकली। तब से वे लोक के आदि कवि तथा उनका त्रिष्टुप् आदि काव्य कहा जाने लगा।^१ एक बार सरस्वती देवी ब्रह्मलोक चली गई। वह काव्य रूपी बालक एकाकी रह गया। उसे एकाकी देख कर पार्वती जी ने साहित्य वधू को उत्पन्न किया। बाद में दोनों का परिणय हो गया। दोनों देश-विदेशों में घूमते हुए रमण करने लगे। जिन जिन देशों में ये दोनों गए, वहाँ के निवासियों ने उमा की पुत्री साहित्यवधू के वेष का इच्छानुसार अनुसरण किया। जो अनुसरण वहाँ की स्त्रियों ने किया, उस वेष-प्रवृत्ति का नाम रौद्रमागधी पड़ा। उन जनपदों के निवासी पुरुषों ने भी उस काव्य पुरुष के कुछ अभ्यवस्थित से वेष का अनुसरण किया। इस वेष की रचना प्रवृत्ति का नाम भी रौद्रमागधी पड़ा। साहित्य वधू ने इस देश में

नृत्य गान आदि का जो प्रदर्शन किया, उसका अनुकरण स्त्रियों ने किया, उसका नाम भारती वृत्ति पड़ा। इसी प्रकार रीतियों का जन्म हुआ। काव्य में रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियों के प्रादुर्भाव का क्रम यही है।”

अत्यन्त संक्षेप में यह आचार्य राजशेखर वर्णित काव्योत्पत्ति कथा है। इस कथा के सहारे आचार्यों ने काव्य और साहित्य का सम्बन्ध और उनसे उत्पन्न होने वाले तत्त्वों का संकेत किया है। उपर्युक्त प्रसंग में साहित्य का प्रयोग साहित्यिकता के अर्थ में हुआ है। पहले काव्य सरल, स्वाभाविक था। बाद में साहित्यिकता रूपी बधू से उसका परिणय हो गया, जिसके फलस्वरूप प्रवृत्ति, वृत्ति और रीतियों का जन्म हुआ।

हिन्दी विद्वानों द्वारा काव्य स्वरूप निरूपण

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों ने काव्य की परिभाषा देते समय प्रायः संस्कृत आचार्यों की परिभाषाओं का छायानुवाद सा कर दिया है। उदाहरण के लिए चिन्तामणि त्रिपाठी की निम्नलिखित परिभाषा ले सकते हैं—

सगुन अलंकारन सहित दोषरहित जो होई ।

शब्द अर्थ वारो कवित बिबुध कहत सब कोई ॥

उपर्युक्त परिभाषा में स्पष्ट रूप से मम्मट की परिभाषा की पुनरुद्धरणी करने की चेष्टा की गई है। किन्तु फिर भी वह निर्जीव रह गई है। उसमें वह प्राणवत्ता नहीं, जो आचार्य मम्मट की मूल परिभाषा में है। रीतिकाल के अन्य आचार्यों की परिभाषाएँ भी इसी प्रकार पिष्ट-पेषण मात्र हैं। रीति युग के कुछ प्रहिद्ध आचार्यों की काव्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

कुलपति द्वारा दी गई परिभाषा—

“जग ते अब्धुत सुख सदन शब्दर अर्थ कवित्त ।

यह लच्छन मैने किया समझ प्रेथ बहु चित्त ॥”

देवकृत परिभाषा—

सबव जीव तिहि अरथ मन रसमय सुजस सरीर ।

चमत वहै जुग छंद गति अलंकार गम्भीर ॥

×

×

शब्द सुभाति मुक्त ते कहे लं पद वचननि अर्थ ।

छन्द भाव भूषण सरस सो कहि काव्य समर्थ ॥

×

×

काव्य सार शब्दार्थ का रस तेहि काव्य सुसार ॥

श्रीपति द्वारा दी गई परिभाषा—

शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान ।

ताको काव्य बखानिए श्रीपति परम सुजान ॥

आचार्य सोमनाथ की काव्य परिभाषा—

सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध ।

भूषण जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध ॥

भिखारीदास की परिभाषा—

व्यंग्य जीवन कहि कवित को, हृदय सुधुनि पहचानि ।

शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषण भूषण जानि ॥

आधुनिक विद्वानों द्वारा दी गई काव्य परिभाषाएँ—आधुनिक युग के हिन्दी विद्वानों द्वारा दी गई काव्य परिभाषाओं पर अंग्रेजी और संस्कृत दोनों में पाई जाने वाली परिभाषाओं की छाया दिखाई पड़ती है। आधुनिक आचार्यों में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने अपने 'काव्य और कविता' शीर्षक लेख में काव्य के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—“जब मनोभाव शब्दों का रूप धारण कर लेते हैं, तब वही कविता कहलाने लगते हैं, चाहे वह पद्यात्मक हो या गद्यात्मक।” एक दूसरे स्थल पर उन्होंने उसके गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है—“सादगी, असलियत और जोश यदि यह तीन गुण कविता में हैं तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एकाध गुण की कमी पाई जाती है।” आचार्य जी ने यह शब्द मिल्टन की काव्य परिभाषा से लिए जान पड़ते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने चिन्तामणि में “कविता क्या है” शीर्षक लेख में काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—“जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं, और कर्मयोग तथा ज्ञान-योग के समकक्ष मानते हैं। इस प्रकार शुक्ल जी ने काव्य में रस तत्त्व को महत्त्व दिया है। यह प्राचीन रसवादी आचार्यों के अनुयायी प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत द्विवेदी जी चमत्कारवादी थे। ‘रसज्ञ रंजन’ में उन्होंने लिखा है—

“शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना परमावश्यक है। चमत्कार अलंकारमूलक हो सकता है, वह अभिव्यक्तिमूलक एवं औचित्यमूलक भी हो सकता है।”

जयशंकर प्रसाद जी काव्य को आत्मा की मूल ‘संकल्पात्मक अनुभूति’ मानते हैं—ऐसी संकल्पात्मक अनुभूति जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं होता है। मूल संकल्पात्मक अनुभूति से उनका तात्पर्य क्या है, यह समझते हुए उन्होंने लिखा है—“आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण कर लेती है, काव्य में मूल संकल्पात्मक अनुभूति कही जायगी।” संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भवभूति ने भी अपने नाटक ‘उत्तर रामचरित’ के प्रारम्भ में ही वाङ्मय को आत्मा की अनिश्वर कला ‘अमृतामात्मनः कलाम्’ कह कर

उसकी प्राप्ति की प्रार्थना की है। वदाचित् प्रसाद और भवभूति दोनों ही बृहदारण्यकोपनिषद् के 'अयं आत्मा वाङ्मयः' से प्रभावित रहे हों। उपनिषदों के प्रकाण्ड पण्डित तो वे दोनों थे ही।

आधुनिक युग की श्रेष्ठ कवयित्री महादेवी वर्मा ने भी काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वह इस प्रकार है—“कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे बँसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती हैं।” यह परिभाषा साधारणीकरण की प्रक्रिया को लक्ष्य करके लिखी हुई जान पड़ती है जो केवल रसमय काव्य के सम्बन्ध में ही लागू होती है।

उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द जी काव्य को जीवन की आलोचना मानते थे। उनके इस मत का उल्लेख हम साहित्य के प्रसंग में विस्तार से कर चुके हैं। उनके ऊपर सम्भवतः मॅथ्यू आर्नल्ड का प्रभाव पड़ा था। क्योंकि दोनों की परिभाषाएँ बहुत कुछ समान ही हैं। दोनों ही काव्य को जीवन की आलोचना मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी विद्वानों में प्रधान रूप से दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं—एक तो वह जिस पर पाश्चात्य काव्य स्वरूप निरूपण का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है और दूसरा वह जो भारतीय काव्य सम्बन्धी मत का अनुयायी है। महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रथम वर्ग के प्रतिनिधि विद्वान् माने जाते हैं। शुक्ल और प्रसाद आदि द्वितीय वर्ग के पोषक प्रतीत होते हैं। काव्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें पाश्चात्य काव्य तत्त्वों और भारतीय काव्य तत्त्वों दोनों से परिचित होना चाहिए। अतएव यहाँ पर हम पाश्चात्य विद्वानों के काव्य सम्बन्धी मत पर एक दृष्टि डाल कर पाश्चात्य काव्य तत्त्वों की मीमांसा करेंगे।

हिन्दी आचार्यों द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत आचार्यों की उक्तियों का निष्प्राण पिष्टपेषण किया है। उनमें मौलिक चिन्तना का स्फुलिंग कहीं नहीं दिखाई पड़ता है।

(२) हिन्दी के आधुनिक विद्वानों ने यद्यपि अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को प्रतिध्वनित करने का प्रयास किया है किन्तु फिर भी उनकी विचारधारा में मौलिक चिन्तन का उन्मेष दिखाई पड़ता है।

संस्कृत में काव्य का स्वरूप निरूपण—विश्व के आदि ग्रंथ ऋग्वेद में एक स्थल पर काव्य के स्वरूप को व्यंजित करने की चेष्टा की गई है। दृष्टा कहता है—“मैं अपने कवित्व को बादलों में से फूटकर बाहर आने वाली पावस की धारा समझता हूँ। (ऋग्वेद ७।६।१)। यहाँ पर दृष्टा ने निर्बाध और प्रवेगपूर्ण अभिव्यक्ति को ही काव्य का सर्वस्व व्यंजित किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में वाङ्मय तप के अन्तर्गत दी गई काव्य की परिभाषा भी

विचारणीय है—

“अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यासनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥”—गीता १७।१५

इस परिभाषा के आधार पर हम उसी वाक्य को काव्य कहेंगे जो किसी के लिये उद्वेगकर न हो तथा जिसमें सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई हो । यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस सत्यं, शिवं और सुन्दरम् को काव्य के लिये लोग पाश्चात्य की देन मानते हैं उसका श्रीगणेश श्रीमद्भगवद्गीता से ही हुआ है ।

संस्कृत काव्याचार्यों ने काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है । सबसे प्रथम भरतमुनि की काव्य की परिभाषा विचारणीय है । नाट्यशास्त्र में उन्होंने लिखा है—

“मृदुललितपदवायं गूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्तुल्योज्यम् ।

बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ।”

—नाट्यशास्त्र १६।११८

अर्थात् जो कोमल और ललित पदों से युक्त, गूढ़ शब्द और अर्थ से विरहित, सर्वग्राह्य, सबको सुख देने वाला, नृत्य में प्रयुक्त किये जाने योग्य, रस की विविध धाराएँ प्रवाहित करने वाला, सन्धियों के सन्धान से युक्त हो, वही सर्वश्रेष्ठ काव्य कहा जाता है ।

अग्निपुराण में शास्त्र, इतिहासादि से काव्य को भिन्न बतलाते हुए उसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

“संक्षेपाद्वाक्यामष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणबद्दोषवर्जितम्”

—अग्निपुराण (३३।६-७)

अर्थात् जिसमें संक्षिप्त वाक्यों द्वारा अभीष्ट अर्थ की व्यञ्जना हो, अविच्छिन्न पदावली हो तथा जो अलंकार और काव्य गुणों से युक्त तथा दोषों से रहित हो उसी रचना को काव्य कहेंगे ।

भामह ने काव्य में शब्द और अर्थ की अवस्थिति को ही महत्त्व दिया है—

“शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्”

—काव्यालंकार १।१६

दण्डी की काव्य परिभाषा अग्निपुराण की काव्य परिभाषा से बहुत मिलती-जुलती है । अन्तर केवल इतना ही है कि उसमें ‘संक्षेपाद्वाक्यं’ के स्थान पर ‘शरीरं’ रख दिया गया है—

“शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली”

—काव्यादर्श १।१०

वामन ने काव्य-लक्षण बतलाते समय अलंकारों को ही काव्य-सौंदर्य कहा है। इसके काव्यालंकार में दिये हुए काव्य सम्बन्धी यह तीन सूत्र दृष्टव्य हैं—

‘काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ।’ ‘सौन्दर्यमलङ्कारः’ ‘सदोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्’

—काव्यालङ्कार सूत्र १।१।१-२-३

अर्थात् अलंकारयुक्त काव्य ही ग्राह्य होता है, सौन्दर्य ही अलंकार है। काव्य तथा सौंदर्य काव्य के दोष रहित और गुण और अलंकार से युक्त होने पर ही निर्भर है। इससे स्पष्ट है कि वामन काव्य में गुण और अलंकार को आवश्यक मानते हैं—

“काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोःशब्दार्थयोर्वर्तते”

रुद्रट ने एक प्रकार से भामह की परिभाषा दोहरा दी है—

“ननु शब्दार्थौ काव्यम्”

किन्तु आगे काव्य का विवेचन करते हुए उसने काव्य में रस की स्थिति आवश्यक मानी है।

ध्वनिकार और आनन्दवर्धनाचार्य ने ‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति’ कहकर ध्वनि-काव्य को श्रेष्ठ काव्य कहा है।

आचार्य कुन्तक वक्रोक्तिवादी थे, उन्होंने काव्य को वक्रोक्तिगर्भित शब्दार्थ कहा है—

“शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदालहादकारिणि”

—वक्रोक्तिजीवित १।७

इसके पश्चात् संस्कृत की जो सबसे प्रसिद्ध काव्य परिभाषा आती है वह है—
आचार्य मम्मट की। उन्होंने काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—**“सदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वाऽपि”**—प्रर्थात् शब्द और अर्थ का वह समन्वित रूप जो दोष रहित हो और गुण अलंकार सहित हो तथा कहीं अलंकार स्पष्ट भी न हों, काव्य होता है। अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने इसका ही अनुकरण किया है। साथ ही जयदेव, विश्वनाथ और जगन्नाथ आचार्यों ने इसकी कटु आलोचना भी की है। ‘शब्दार्थौ’ पर आक्षेप करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि काव्य सर्वदा दोष-शून्य कभी नहीं हो सकता। इसके प्रमाण में उन्होंने ध्वन्यालोक में दिये गए एक श्लोक को उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि उसमें अभिधेयाविमर्ष दोष है किन्तु ध्वनिकार ने उसे श्रेष्ठ काव्य कहा है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मम्मट ने ‘दोष’ शब्द का प्रयोग उद्देश्य प्रतीति के प्रतिबन्ध के अर्थ में किया है। यदि काव्य की लक्ष्य-सिद्धि में बाधा न पड़ती हो तो दोष उसके काव्यत्व में बाधक नहीं हो सकते। शब्दार्थौ पर पंडितराज जगन्नाथ ने आपत्ति प्रकट की है। उनका कहना है कि लोक में प्रायः ऐसा सुना जाता है कि काव्य पदा किन्तु समझ में नहीं आया। इससे स्पष्ट है कि काव्य से उसका अर्थ भिन्न होता है।

मम्मट के अनुयायियों ने इसका खंडन महाभाष्य के “वह अध्ययन किया जाता है और समझा भी जाता है” इस वाक्य से किया है। इससे काव्य शब्द और अर्थ उभयगत सिद्ध हो जाता है। ‘सगुणौ’ पर विश्वनाथ की आलोचना है। उनका तर्क है कि मम्मट गुणों को रस का धर्म मानते हैं। फिर उन्होंने इसे शब्दार्थों का विशेषण क्यों बनाया? अतः ‘सगुणौ’ का प्रयोग यहाँ पर अनुचित है। उनके इस भ्रम का निराकरण प्रदीपकार ने किया है। उसने स्पष्ट लिखा है कि आचार्य ने ‘सगुणौ’ का प्रयोग गुणव्यञ्जक शब्दार्थ के लिये किया है। “अनलंकृती पुनः क्वापि” पर जयदेव, विश्वनाथ और जगन्नाथ तीनों ने आपत्ति की है। किन्तु मम्मट ने “अनलंकृती” का प्रयोग अस्फुट अलंकारों के अर्थ में किया है अलंकारों के अभाव के अर्थ में नहीं। इनमें से कोई भी आचार्य मम्मट का खंडन दृढ़ और स्पष्ट रीति से नहीं कर सका। मम्मट के टीकाकारों ने इन सभी आचार्यों के आक्षेपों का खंडन कर दिया है। मम्मट का मत इतना मान्य था कि उनके परवर्ती अधिकांश काव्याचार्यों ने उनकी परिभाषा का ही अनुसरण किया है। हेमचन्द्र, विद्यानाथ, वाग्भट्ट प्रथम और द्वितीय आदि की काव्य परिभाषाएँ मम्मट से बहुत मिलती-जुलती हैं।

मम्मट के बाद जयदेव का काव्य लक्षण उल्लेखनीय है। नाट्यशास्त्र के समान जयदेव ने भी काव्य लक्षण में लम्बे-चौड़े शब्दों का प्रयोग किया है। चन्द्रालोक में वे लिखते हैं—

“निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणोभूषिता

सालंकाररसानेक वृत्तिर्वाक्याव्यनामभाक्” —चन्द्रालोक १।७

अर्थात् वह वाणी जो दोष रहित हो, लक्षणों से युक्त हो, रीति और गुण से विभूषित हो, अलंकार और रस तथा वृत्तियों से विशिष्ट हो, काव्य की संज्ञा प्राप्त कर सकेगी। इस परिभाषा में जयदेव ने काव्य के सभी तत्त्वों का समावेश कर दिया है।

संस्कृत में विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा भी बहुत प्रसिद्ध है। वे रसवादी थे इसलिए उन्होंने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है—

“वाक्यं रसात्मकं काव्यं”

—साहित्यदर्पण १।३

पण्डित जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है—

“रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्”

—रसगंगाधर

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में काव्य के स्वरूप पर बड़े विस्तार से विचार किया गया है। उपर्युक्त परिभाषाओं के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि संस्कृत आचार्यों ने काव्य के शरीर, आत्मा और उनकी विशेषताओं पर बड़ा विषद अध्ययन किया था।

पाश्चात्य विद्वानों के मत—पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। वे अन्य कलाओं के सदृश कविता को भी अनुकृत मानते थे। एरिस्टाटिल ने उसे छन्दोबद्ध अनुकृति कह कर ही परिभाषाबद्ध किया है। होरेस ने आर्ट आफ पोयट्री नामक रचना में कवि कर्म को चित्रकार के कार्य के सदृश, कहा

है। शेक्सपीयर ने *Mid Summer Night's Dream* में कविता को कल्पना की दुहिता व्यंजित किया है। उसने लिखा है—

"The poet's eye, in a fine frenzy rolling
Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven
And as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes, and gives to airy nothing
A local habitation and a name."

वर्डस्वर्थ ने काव्य में कल्पना के स्थान पर भावना को महत्त्व दिया है।

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotion recollected in tranquillity."

अर्थात् कविता उत्कट भावनाओं का सहजोद्रेक है। इसकी उत्पत्ति शान्ति में संचित अनुभूतियों से होती है। मिल्टन ने काव्य में राग और वासनात्मक प्रवेश को महत्त्व दिया है। वह उसकी प्रसादात्मकता और सरलता में भी विश्वास करता है। 'Essay on Education' में एक स्थल पर उसने लिखा है—

"Poetry should be simple, sensuous and passionate."

कॉलरिज काव्य में भावनाओं की क्रमिक अभिव्यक्ति को सुन्दर शब्दों द्वारा सजाने के पक्ष में है। उसने लिखा है।

"Poetry, the best words in the best order."

काव्य को वह अनुपम बरदान मानता है जो प्रत्येक वस्तु के आवृत्त सौन्दर्यान्वेषण की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न करता है—

'Poetry has been to me its own exceeding great reward, it has given me the habit of wishing to discover the good and beautiful in all that meets and surrounds me.'

शेली ने सरस काव्य में कष्टना को आवश्यक माना है—"Our sweetest songs are those that tell of the saddest tale." उसने काव्य को विषाद के क्षणों की ही अभिव्यक्ति कहा है—"They learn in suffering what they teach in song."

ड्राइडेन ने कविता में संगीत तत्त्व को महत्त्व दिया है। उसके अनुसार कविता व्यक्त संगीत है।

"Poetry is articulate music"—Dryden.

कार्लाइल ने काव्य को संगीतमय विचार कहा है—

"Poetry we will call musical thought."

मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य में कल्पना के स्थान पर जीवन और विचारात्मक व्याख्या को महत्त्व दिया है—

"Poetry is at bottom a criticism of life."

हडसन ने काव्य जीवन की व्याख्या, कल्पना और मनोवेग तीनों का समन्वय किया है—

“Poetry is interpretation of life through imagination and emotion.”

डा० जॉनसन ने भी कहा है—“कविता सत्य और आनन्द के मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।”

“Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason.”

मेकॉले काव्य को शब्दों की चित्रकला मानते हैं—

“By poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination the art of doing by means of words, what the painter does by means of colours.”

राबर्टसन ने कवि और रहस्यवादी के अन्तर को बतलाते हुए कहा है—

“How different is the poet from the mystic—the former uses symbols, knowing they are symbols; the latter mistakes them for realities.”

बैली (Bailey) नामक विद्वान् ने कविता को महान् सत्य की अभिव्यक्ति कहा है—

“Poets are all who love and feel great truths, and tell them.”

मिल ने काव्य में भावना को ही प्रधान माना है। प्रो० विल्सन ने बुद्धि और भावना का मिश्रण किया है—

“Poetry is the intellect coloured by feelings.”

हेजलिट् ने अपने ‘Lectures on English Poets’ में काव्य को कल्पना की भाषा कहा है।

एडगर एलन सौन्दर्यवादी थे। इसलिए उन्होंने काव्य को सौन्दर्य की संगीतात्मक सृष्टि कहा है।

पाश्चात्य विद्वानों के उपर्युक्त मतों का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो हम देखेंगे कि उनमें कई सम्प्रदाय हैं। संक्षेप में उन्हें हम इस प्रकार निदिष्ट कर सकते हैं।

१. काव्य में कल्पना को प्रधानता देने वाला वर्ग या कल्पनावेदी सम्प्रदाय।

२. काव्य में भावना राग तत्त्व और सौन्दर्य तत्त्व को महत्त्व देने वाला सम्प्रदाय या भाववादी वर्ग।

३. काव्य में बुद्धि तत्त्व और भाव तत्त्व दोनों को समान रूप से महत्त्व देने वाला वर्ग। इस वर्ग के अन्तर्गत ही हम सत्यवादी वर्ग को भी लेंगे। काव्य को जीवन की व्याख्या मानने वाले भी इसी के अन्तर्गत आवेंगे।

४. काव्य में कला एवं चित्रविधायिनी शक्ति को महत्त्व देने वाले कवि ।

इन वर्गों में भी हमें दो प्रकार के वर्ग दिखाई पड़ते हैं— एक तो वे जो कविता को जीवन से अलग करके देखना चाहते हैं, दूसरे वे जो कविता को जीवन की ही अभिव्यक्ति या आलोचना मानते हैं । प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ वर्ग तो कलावादी वर्ग के अन्तर्गत रखे जायेंगे । तृतीय वर्ग जीवन से सम्बन्धित वर्ग माना जा सकता है । संक्षेप में पाश्चात्य विद्वानों में से किसी ने कल्पना तत्त्व को महत्त्व दिया है, किसी ने भाव तत्त्व को, किसी ने बुद्धि तत्त्व को और किसी ने शैली तत्त्व को । वास्तव में सुन्दर काव्य वही होगा जिसमें चारों का सुन्दर सामञ्जस्य विधान होगा ।

पाश्चात्य दृष्टि से काव्य के तत्त्व—उपर्युक्त परिभाषाओं से एक बात और स्पष्ट हो जाती है वह यह कि पाश्चात्य दृष्टि से काव्य के चार तत्त्व ही माने जा सकते हैं—

१. बुद्धि तत्त्व
२. भाव तत्त्व
३. कल्पना तत्त्व
४. कला या शैली तत्त्व

बुद्धि तत्त्व

हम कहीं कह चुके हैं कि काव्य बुद्धि तत्त्व और हृदय तत्त्व की समन्वयात्मक सृष्टि है । इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य में इनके अतिरिक्त और कोई तत्त्व होते ही नहीं । हमारे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि काव्य के मूलाधार यही उपादान हैं । इनमें से यदि एक भी काव्य से निकाल दिया जाय तो काव्य काव्य नहीं कहला सकता । भाव यदि काव्य के कलित कलेवर का विधान करते हैं तो बुद्धि तत्त्व अस्थिपिण्ड के सदृश उस कलेवर को अवलम्ब देता है । इसके अभाव में काव्य का कलेवर खड़ा ही नहीं हो सकता । इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य में दोनों की ही अवस्थिति अनिवार्य होती है । यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि इन दोनों में भी कौन प्रधान है । यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो काव्य में भाव तत्त्व की ही प्रधानता प्रतीत होती है, बुद्धि तत्त्व का स्थान गौण होता है । बुद्धि तत्त्व के अभाव में काव्य का कोई न कोई रूप अवश्य सम्भव है, वह चाहे अस्थिहीन मांस के शिथिल इलथ के सदृश ही क्यों न हो । किन्तु केवल बुद्धि तत्त्व कभी काव्य का विधान नहीं कर सकता । वह तो शुष्क, नीरस और भयावह अस्थिपिण्ड के सदृश ही प्रतीत होगा । इसलिए काव्य में बुद्धि तत्त्व सदैव ही भावाश्रित रहता है । इसी बात को मेरी (Merry) नामक पाश्चात्य विद्वान् ने इस प्रकार लिखा है—

“In literature there is no such thing as pure thought, thought is always the handmaid of emotion.”

—The Problem of Style; page 73

अर्थात् साहित्य में बुद्धि अपने शुद्ध रूप में नहीं रहती । वह सदा ही भावना की

अनुगामिनी भूत्या के रूप में आती है।^१

काव्य क्षेत्र में बुद्धि तत्त्व अपना कार्य निम्नलिखित रूपों में करता है—

१. भावों की आधारभूमि के रूप में ।
२. भावों को स्पष्टतर करने के लिए ।
३. लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप निर्माण के रूप में ।
४. भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में ।
५. भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में ।

भावों की आधारभूमि के रूप में—भावनाओं का उदय और विकास विचारों के आधार पर ही होता है। जीवन में विविधरूपिणी जटिल परिस्थितियाँ आती हैं। ये परिस्थितियाँ विविध प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं और धीरे-धीरे विचारों का रूप धारण कर लेती हैं। मनुष्य की परवर्ती अनुभूतियाँ और भावधाराएँ इन्हीं विचारात्मक प्रतिक्रियाओं पर अवलम्बित रहती हैं। कवि अपने काव्य का सृजन भी इन्हीं विचार या बुद्धि प्रेरित भावानुभूति के सहारे करते हैं। अतः विचार भावों की आधारभूमि कहे जा सकते हैं। एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) ने भावों की इस आधारभूमि को मानसिक पृष्ठभूमि (Mental hinterland) कहा है। किन्तु इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे का मत इसके विपरीत है। उनके मतानुसार कवि पहले कल्पना और भावना द्वारा मूर्त विधान करते हैं, उसके बाद विचार या बुद्धि की सहायता से उन निर्मित मूर्तियों की समीक्षा द्वारा उनका स्थान निर्धारित करते हैं। अतः क्रोचे ने विचारों को काव्य सर्जना में मन की पहली क्रिया न मानकर दूसरी क्रिया कहा है। उनके मतानुसार भावना और विचार प्रत्येक मनुष्य के जन्मजात गुण होते हैं इसीलिये मानव स्वभाव से ही कलाकार और दार्शनिक दोनों होता है। पहले वह कवि या कलाकार होता है उसके बाद कलात्मक ज्ञान के सहारे विचार शक्ति का विकास होने पर दार्शनिक भी हो जाता है। किन्तु क्रोचे की यह धारणा अधिक तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती। हमारी समझ में मनुष्य पहले दार्शनिक होता है और बाद में कवि। विचार दर्शनशास्त्र का प्रमुख अंग है। दर्शनशास्त्र तर्कप्रधान होता है। कवि यदि भावोदय के पश्चात् बुद्धि द्वारा उन भावनाओं की समीक्षा करते होते तो उनका काव्य मधुर काव्य न रहकर तर्कप्रधान हो जाता। वास्तव में विचारात्मक निर्णय के पश्चात् उनके अनुरूप ही भावना का उदय होता है। विचार भावना के मिश्रण से काव्योचित रूप धारण कर सरस हो जाते हैं। साथ ही साथ भावना को संयत और क्रमबद्ध रूप प्रदान करते हैं।

भावों को स्पष्टतर करने के लिए—काव्य क्षेत्र में बुद्धि का एक दूसरा

१. अपने 'काव्यकला' शीर्षक निबन्ध में महादेवी बर्माने इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है। इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचने ज्ञानी विशेष विचार पद्धति।"

—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य; पृ० २०

महत्त्वपूर्ण कार्य भावना को एक निश्चित और स्पष्ट रूप प्रदान करना है। भावानुभूति सभी को हुआ करती है किन्तु प्रत्येक मनुष्य में उनको काव्य रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं रहती। कवियों में एक विशेष प्रकार की बौद्धिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती रहती है जिसके माध्यम से वे अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। विचार शक्ति के सहारे उच्चकोटि के कवियों की अभिव्यञ्जना इतनी प्रभावाभिव्यञ्जक हो जाती है कि सहृदय पाठक उनकी अनुभूतियों का स्पष्ट चित्र सा अनुभव करने लगते हैं। कवि और पाठक की भावनाओं में पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। इतना ही नहीं प्रायः पाठक कवि द्वारा व्यक्त चित्र को उससे अधिक स्पष्ट रूप में समझ लेते हैं जिस रूप में स्वयं कवि ने उन्हें अनुभव किया था। एक संस्कृत कवि ने लिखा भी है—

“कविता रस माधुर्यं कविर्वेत्ति नतत्कविः

भवानी भुक्नुदीभंगं भवो वेत्ति न भूषरः”

कवि की अभिव्यक्ति को ऐसा सौन्दर्यशाली और प्रभावात्मक रूप विचार-शक्ति ही देती है। इसी धारणा को स्पष्ट करते हुए मेरी (Merry) ने लिखा है—

“A great satirist like Swift uses the intellect not to reach rational conclusions but to expound and convey in detail a complex of very violent emotional reactions.” —The Problem of Style.

अर्थात् स्वीफ्ट जैसे व्यंग लेखकों ने बुद्धि का उपयोग तर्कपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए नहीं किया बल्कि तीव्र प्रतिक्रियाओं के संघात को प्रकट करने के लिए किया है।

लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप निर्माण के रूप में—प्रत्येक लेखक अपना एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। उसकी प्रत्येक रचना में इस दृष्टिकोण की प्रतिच्छाया अवश्य दिखाई पड़ती है। अतः इस दृष्टिकोण या सिद्धान्त को वह अपनी विचारात्मक रचि के अनुसार ही स्थिर करता है। हिन्दी के श्रेष्ठ कवि ‘प्रसाद’ भारत के प्राचीन साहित्य और दर्शन से इतने अधिक प्रभावित थे कि उनके साहित्य में भी प्राचीन सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। उनकी कोई भी रचना ऐसी नहीं है जिस पर शैव-दर्शन या बौद्ध-दर्शन का प्रभाव न पड़ा हो। इसके अतिरिक्त ‘प्रसाद’ एक आदर्शवादी लेखक हैं। आदर्शवादी दृष्टिकोण से समन्वित होने के कारण उनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य की उच्चतम निधि हैं। अतः सत् या असत् काव्य की रचना भी बहुत कुछ विचारों के आश्रित है। जिसके जैसे विचार होते हैं उसमें वैसी ही भावनाएँ उदित होती हैं जो साहित्य में ज्यों की त्यों प्रतिष्ठित हो जाती हैं। गीत काव्य तो व्यक्तिगत भावनाओं की मामिक व्यञ्जना के लिए प्रसिद्ध ही है। यह व्यक्तिगत भावनाएँ बुद्धिज व्यापार का ही परिणाम होता है। महात्मा तुलसीदास ने भी उत्तम रचना के लिए श्रेष्ठ भावगाम्भीर्य और मधुर वाणी के अतिरिक्त वर विचार के हेतु अपनी तीव्र आकांक्षा प्रगट की है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

“हृदय सिन्धु मति सीप समाना, स्वाती सारव कहहिं मुजाना ।

जो वरसहि वर वारि विचारु, होहि कवित मुक्तामणि चारु ।”

इन पंक्तियों में ‘मति सीप समाना’ और ‘वर वारि विचारु’ द्वारा भाव सिन्धु में सुन्दर मुक्तामणि रूपी कवित्त-निर्माण-कार्य का सम्पन्न होना कहकर काव्य में बुद्धि-तत्त्व की उपादेयता की ओर ही संकेत किया गया है ।

भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में—भावनाओं में व्यवस्था स्थापित करने का कार्य भी बुद्धि व्यापार द्वारा ही होता है । साहित्य में भावों का शृंखलाबद्ध होना अनिवार्य है अन्यथा रचना में प्रवाह लाना असम्भव हो जाता है । लेखक के हृदय में उत्पन्न भावनाएँ अव्यवस्थित होती हैं । भावनाओं का तीव्र आवेग उन्हें असंयत बना देता है । बुद्धि ही भावों की इस अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करती है । अतः कवि बुद्धि तत्त्व की अवहेलना कर ही नहीं सकते । बिना व्यवस्था के भाव सफल काव्य का निर्माण नहीं कर सकते । बुद्धि के इस व्यापार को मेरी ने विशेष प्रकार से स्पष्ट किया है ।^१

भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में—काव्य में चमत्कार की योजना उसके बाह्याकार को मनोरम रूप प्रदान करने के लिए की जाती है । अनेक संस्कृताचार्यों ने तो चमत्कार रहित काव्य को काव्य ही नहीं माना है । महाकवि क्षेमेन्द्र ने ‘रसज्ञ-रञ्जन’ में लिखा है—

‘न हि चमत्कार विरहितस्य कवेः कवित्वं, काव्यस्य वा काव्यत्वम्’ अर्थात् कवि की चमत्कार रहित कविता में काव्यत्व नहीं होता है । भाव को चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त करने का कार्य बुद्धि करती है । काव्य का कला-पक्ष बहुत कुछ बुद्धि या विचार शक्ति पर ही आश्रित रहता है । केशव आदि चमत्कारवादी हिन्दी विद्वानों ने चमत्कार शब्द को पाण्डित्य प्रदर्शन के रूप में ही ग्रहण किया है । किन्तु इस शब्द के व्यापक अर्थ को लेने पर चमत्कार का सम्बन्ध केवल भाषा से ही नहीं बल्कि भाव से भी प्रगट होता है । भाषागत चमत्कार काव्य के बाह्य रूप को अलंकृत करता है किन्तु भावगत चमत्कार भावों को सहज एवं मधुर रूप प्रदान करते हैं । सम्पूर्ण ध्वनि काव्य में भावगत चमत्कार ही दृष्टिगोचर होता है । दोनों प्रकार के चमत्कार बुद्धि प्रेरित होते हैं । चमत्कार के अन्तर्गत शैली की समस्या प्रमुख रूप से सामने आती है । इसीलिए

१. “The thought that plays a part in literature is systematised emotion. Emotion becomes the habitual till it attains the dignity of conviction. The fundamental brain-work of a great play or a great novel is not performed by the reason pure or practical, even the scientific essayist is trying to get his emotions on to paper the most austere psychological analyst like Stendhal, really imagined he was exercising la-lo-gigue, is only attempting to get some order into his own instinctive reactions.”

—The Problem of Style; page 74

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में बुद्धि तत्त्व से भिन्न शैली को एक स्वतन्त्र तत्त्व ही मान लिया गया है।

भाव तत्त्व

काव्य के विधायक तत्त्वों में भाव तत्त्व का सर्वप्रथम स्थान है। मनोवेग जिन्हें साधारणतः भाव ही कहा जाता है, काव्य के भाव-पक्ष के प्राण हैं। कवि की संस्कारजन्य प्रतिभा जीवन के विविध वातावरणों के मार्मिक चित्रों को आत्मसात् करती रहती है। मनोवेगों के किसी विशेष उद्रेक द्वारा यह एकत्रित चित्र वाग्धारा के माध्यम से काव्य का निर्माण करते हैं। काव्य के कल्पना तत्त्व, बुद्धि तत्त्व और शैली तत्त्व यह तीनों तत्त्व भाव तत्त्व पर आश्रित हैं।

भाव की परिभाषा—भाव के स्वरूप को स्पष्ट कर उसे परिभाषाबद्ध करने का प्रयास अनेक आचार्यों ने किया है। भावों का उदय अनुभूति से होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि के 'भाव या मनोविकार' शीर्षक लेख में भाव की परिभाषा इस प्रकार दी है—“नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बंध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के जो भिन्न-भिन्न योग संगठित होते हैं वे भाव या मनोविकार कहलाते हैं।”

शुक्ल जी के मतानुसार निश्चयात्मिका बुद्धि विकास के साथ-साथ अनुभूतियों की अनेकरूपता का भी विकास होता है। छोटे बच्चों में निश्चयात्मिका बुद्धि का अभाव रहता है अतः वे विषयों का बोध भी सामान्य रूप में ही करते हैं। उनकी अनुभूतियाँ भाव दशा को नहीं पहुँचतीं। भाव तो वे ही मनोविकार कहलाते हैं जिनमें विविधरूपिणी अनुभूतियों का योग होता है। श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने भी भाव के सम्बन्ध में लिखा है—

“मनुष्य के हृदय में बाह्य जगत् की संवेदनाओं के कारण विकार उठते हैं, वे परस्पर मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।” — ‘जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त’

गुलाबराय जी अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में लिखते हैं—

“साहित्य के भाव मनोविज्ञान के भावों से भिन्न होते हैं। ये भाव मन के उस विकार को कहते हैं जिसमें सुख-दुखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती है।” मनोविकारों को शाब्दिक, मानसिक या शारीरिक किसी भी क्रिया द्वारा प्रगट हो जाने पर ही भाव की संज्ञा दी जाती है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने भाव को संस्कृत आचार्यों के अनुसार समझाने की चेष्टा की है। उन्होंने भाव की परिभाषा इस प्रकार दी है—

“देव आदि विषयक रति सामग्री के अभाव में उद्बुद्ध-मात्र अर्थात् रस रूप को अप्राप्त रति आदि स्थायी भाव और प्रधानता से व्यञ्जित निर्वेदादि सञ्चारी इनकी भाव संज्ञा है।” यह परिभाषा विश्वनाथ की परिभाषा से मिलती-जुलती है।

साहित्यदर्पण में उन्होंने लिखा है—

“संचारिणीः प्रधानानि देवादिविषयारतिः

उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥”

अर्थात् जहाँ निर्वेदादि संचारी भाव स्थायी भाव के ग्रंथ न होकर प्रधान रूप से व्यक्त किये गए हों; देव, पुत्र, मित्र, गुरु आदि विषयक रति हो, जहाँ स्थायी भाव रस रूप में पुष्ट न होकर उद्बुद्ध मात्र रहते हैं वहाँ भाव की स्थिति रहती है।

इस परिभाषा से भाव के अन्तर्गत तीन प्रमुख तत्त्व आते हैं—

१. देवादिविषयक रति।

२. उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव अर्थात् वे स्थायी भाव जो अनुभाव-विभाव आदि से पुष्ट न हों।

३. प्रधान रूप से व्यक्त किये गये संचारी भाव।

हमारी दृष्टि में भाव हमारे हृदय के वे उद्बुद्ध मनोविकार होते हैं जो जीवन और जगत् के सम्पर्क से उत्पन्न होकर हमारे हृदय में प्रसुप्तावस्था में घनीभूत होते रहते हैं।

भाव के दो पक्ष और उसके विविध भेद—भावना का सम्बन्ध मन से होता है। मन अन्तरात्मा की कार्यकारिणी शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा परिचालित मनोविकार भाव रूप में परिणत होते हैं। विशेष रूप से यह परिचालन-क्रिया द्विरूपिणी होती है—सुखात्मिका और दुःखात्मिका। सुख और दुःख ही दो मूल भाव हैं। वैशेषिक सूत्र में इन्हीं दोनों भावों को राग और द्वेष कहा गया है। वात्स्यायन ने मोह नामक एक तीसरा भाव भी माना है। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं-कहीं उदासीन नामक भाव का भी उल्लेख मिलता है किन्तु प्रधान रूप से भाव के सुख और दुःख पक्ष ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों के बीच सम भावों का भी परिचालन होता है। भावों का सम्बन्ध मन की इच्छाओं से होता है। इच्छाएँ अनन्त हैं। उन्हीं इच्छाओं के अनुसार भाव भी अनन्त होते हैं। स्थूल रूप से इन सभी भावों को तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है :

१. इन्द्रियजनित भाव।

२. प्रज्ञात्मक भाव।

३. गुणात्मक भाव।

इन्द्रियजनित भाव—इन्द्रियजनित भावों का सम्बन्ध स्थूल शरीर से होता है। शरीर के माध्यम से ही अन्तरात्मा सर्वप्रथम अपनी क्रिया आरम्भ करती है। बाह्य पदार्थों की अनुभूति भी सबसे पहले इन्द्रियों द्वारा होती है। इन अनुभूतियों से उत्पन्न भावों को ही इन्द्रियजनित भाव कहते हैं। जीभ द्वारा किसी स्वादिष्ट भोजन के आस्वादन से हमें जिस भाव की अनुभूति होती है वह इन्द्रियजनित ही है। इन भावों को ही सामान्य भाव भी कहते हैं।

प्रज्ञात्मक भाव—प्रज्ञात्मक भाव वे हैं जो मन की अनुभव प्राप्त करने वाली शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। इन्द्रियजनित भाव मन-व्यापार शक्ति की प्रथम क्रिया सद्यः प्राप्त प्रतिफल है किन्तु प्रज्ञात्मक भाव उस क्रिया प्रतिक्रिया से पुष्ट ज्ञान का परिणाम है। दोनों प्रकार के भावों में यही अन्तर है। इन्द्रियजनित भाव सीधे इन्द्रिय ज्ञान से प्राप्त होते हैं और प्रज्ञात्मक भाव भूत, भविष्य और वर्तमान के अनुभवों द्वारा

उन इन्द्रियजनित भावों को पुष्टतर करते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कोई व्यक्ति अपनी नेत्र ज्योति खो देता है, उसे चक्षु विहीन होने का जो दुःख हुआ वह इन्द्रियजनित कहलाएगा। किन्तु यदि वह यह चिन्ता करे कि अब वह अपने जीवन को किस प्रकार व्यतीत करेगा तब यह चिन्ताजनित भाव प्रज्ञात्मक भाव कहलाएगा। प्रज्ञात्मक भावों का सम्बन्ध भूत, भविष्य और वर्तमान से अधिक होता है। भविष्य को सोचकर चिन्ता का और भूत को सोचकर विषाद का भाव उत्पन्न होता है। साधारणतया काव्य में यही भाव संचारी भाव कहलाते हैं और कभी-कभी स्थायी भाव का रूप भी धारण कर लेते हैं।

गुणात्मक भाव—तीसरे प्रकार के भाव गुणात्मक भाव कहलाते हैं। इन भावों का सम्बन्ध मनोमुग्धकारी सौन्दर्य-बोध से होता है। किसी व्यक्ति के या वस्तु के विषय में जानने की प्रवृत्ति मन में होती है। इस इच्छा को पूर्ण करने वाली वृत्ति प्रज्ञात्मक भाव कहलाती है किन्तु जब हम किसी सुन्दर वस्तु या गुणवान व्यक्ति को देखते हैं तो उसके प्रति मन में एक आदर्श की भावना उदित होती है। हम उसको प्राप्त करने या उसके अनुकूल होने की इच्छा करते हैं। इसी भाव को सौन्दर्य विवेकी भाव कहते हैं जिसका गुणात्मक भावों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इन्द्रियजनित और प्रज्ञात्मक भावों से गुणात्मक भाव अधिक व्यापक और तीव्र होते हैं। इन्द्रियजनित भाव सामान्य भाव की कोटि में आते हैं। गुणात्मक भावों को उद्दीप्त भावों की संज्ञा दी जा सकती है। प्रज्ञात्मक इन सामान्य और उद्दीप्त भावों में सम्बन्ध स्थिर करने वाले साधन हैं। गुणात्मक भाव ही रागात्मक सम्बन्ध का प्रसार करते हैं। किसी के गुणों को देखकर उद्दीप्त हुआ मन अपनी शक्ति को उन गुणों को ओर प्रेरित करता है। अतः गुणात्मक भावों में आलम्बन विशेष की आवश्यकता रहती है। यह आलम्बन जड़ की अपेक्षा चेतन होने पर अधिक उद्दीपक होता है; क्योंकि एक अन्तरात्मा दूसरी अन्तरात्मा के रागात्मक सम्बन्ध का परस्पर अनुभव कर सकती है।

भावानुभूति और रस—काव्य का लक्ष्य रस परिपाक होता है। रस परिपाक में भाव महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने लिखा है—

‘न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः’

रस की निष्पत्ति भावों के विविध स्वरूपों के सम्मिश्रण से होती है। ‘विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगात् रसनिष्पत्तिः’ भरत मुनि के इस रस सूत्र में विभाव, अनुभाव व्यभिचारी-भाव आदि शब्द भाव के ही विविध रूपान्तर हैं। भाव ही रस से पुष्ट होकर विभाव अनुभाव आदि का रूप धारण करते हैं। इन्हीं के उचित सम्मिश्रण से काव्य में हृदय सम्वादी गुण का विकास होता है। एक के हृदय का दूसरे के हृदय के अनुरूप होना ही हृदय सम्वाद कहलाता है। आलोचकों ने हृदय सम्वाद और साधारणीकरण को पर्यायवाची माना है। साधारणीकरण रसानुभूति की पराकाष्ठा है। इसी स्थल पर आकर कवि की भावधाराएँ सर्वसाधारण की भावनाएँ हो जाती हैं। कवि की भावनाओं का

यथार्थरूप में अनुभव होने पर रसानुभूति होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भाव जब रसावस्था को प्राप्त होते हैं तभी साधारणीकरण की स्थिति होती है। बूचर ने इसी को 'Purification of Passions' कहा है। चार्ल्स विलियम ने भी भाव के हृदययोग में ही कला की स्थिति मानी है। कला रस रूप आनन्द का प्रसार तभी करती है जब उसमें सभी की भावनाओं से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता हो। बूचर ने लिखा है कि प्रत्येक सुकुमार कला की भाँति काव्य का उद्देश्य भी समुचित आनन्द की सृष्टि करना है। वर्डस्वर्थ ने आनन्द के लिए Passion का, कीट्स ने Joy का, और क्रोचे ने Pure Poetic Joy का प्रयोग किया है। यही आनन्द भारतीय धर्म साधना और साहित्य साधना का लक्ष्य है और रसरूप से प्रसिद्ध है। उपनिषदों में 'रसो वै सः' कहकर आनन्दरूप ब्रह्म को रसमय कहा है। साहित्य का आनन्द या रस भी ब्रह्मानन्द के समकक्ष^१ माना गया है। हेमचन्द्र ने लिखा है कि आनन्द रसास्वाद से उत्पन्न होता है। रसास्वाद कवि की भावनाओं का ही किष्पा जाता है। आत्मा की मनन क्रिया ही जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, साहित्य कहलाती है। काव्य या साहित्य मानवीय अनुभवों को अभिव्यक्त करने की कला है। इस प्रकार भाव और रस परस्पर सम्बन्धित तत्त्व हैं। आनन्द या रस हृदय पक्ष या भाव पक्ष का अनन्य विधि है। जिस काव्य में यह विधि वर्तमान रहती है वही श्रेष्ठ काव्य होता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने महाकवि की वाणी की विशेषता का संकेत करते हुए उसमें जिस ललना लावण्य सदृश अनिर्वचनीय तत्त्व की अवस्थिति बताई है; हमारी समझ में वह हृदय पक्ष या भाव पक्ष-प्रधान कविता में ही रहती है।

भावानुभूति और रसानुभूति में बहुत कम तात्त्विक भेद है। भावानुभूति की स्थिति कलाकार में मानी जाती है और रसानुभूति पाठक या श्रोता को होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि कलाकार रसानुभूति से और पाठक काव्यानुभूति से वंचित रहते हैं। दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप हैं। कवि में विधायक कल्पना की अपेक्षा रहती है और पाठक में ग्राहक की। सौन्दर्यानुभूति भावों को जन्म देती है। भाव के उदय होने पर कलाकार अपने काव्य की सृष्टि करते हैं। पाठक या श्रोता काव्य रूप में परिणत इन्हीं भावों की रसानुभूति करते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-भावना काव्यानुभूति की जननी सिद्ध हुई और काव्यानुभूति रसानुभूति की। कवि की भावना के यथार्थ सौन्दर्य का रसास्वादन वास्तव में सहृदय पाठक ही करते हैं। इसी बात को एक संस्कृत कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

“कवितारसमाधुर्यं कविवेत्ति न तत्कविः

भवामीभ्रकुटीभङ्गं भवो वेत्ति न भूधरः”

अर्थात् कविता के रस माधुर्य को अन्य कवि या सहृदय जन ही जान सकते हैं न कि उसका रचयिता कवि जैसे भवानी के भ्रूविलासों को भवानीभर्ता भव ही जानते हैं उनके जनक हिमालय नहीं जान सकते।

इस प्रकार कवि की भावानुभूति की अपेक्षा रसानुभूति का अधिक महत्व है। पाश्चात्य विद्वान विचेस्टर ने भावों को तीव्र कर रस दशा को पहुँचाने वाले निम्न-लिखित पाँच तत्त्व माने हैं—

१. भावना का औचित्य (Propriety) ।
२. वर्ण्य विषय को स्पष्ट करने की शक्ति (Vividness) ।
३. मनोवेग या भावनाओं का स्थायित्व (Steadiness) ।
४. भावनाओं की व्यापकता और विविधता (Range and variety) ।
५. गुणों की व्यापकता (Rank of quality) ।

भावोद्भावन शक्ति या प्रतिभा—पाश्चात्य साहित्य में कल्पना पर प्रधान रूप से विचार किया गया है। भारतीय आचार्यों ने कल्पना के स्थान पर प्रतिभा का विश्लेषण किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावना और कल्पना को पर्यायवाची कहा है। दोनों को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

“जो वस्तु हम से अलग है हम से दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्य वाले इसी को ‘भावना’ कहते हैं और आजकल के लोग ‘कल्पना’।”

कवि की भावना जनसाधारण की भावना से भिन्न होती है। कवि किसी मूर्ति के सापीप्य का अनुभव मात्र ही नहीं करते बल्कि उन भावनाओं के सम्मिश्रण से नवीन चित्रों की उद्भावना भी करते हैं। इस नवीन उद्भावना के लिए उनमें एक शक्ति विशेष होती है जिसे भारतीय आचार्यों ने प्रतिभा कहा है। आचार्य भामह ने कवि-कर्म विधान का नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा ही पूर्ण होना कहा है—

“प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता

तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णननिपुणः कविः ।”

इसी प्रतिभा के सहारे कवि पदार्थों को अपने मनोनुकूल रूप और आकार देते हैं। असामान्य अलौकिक पदार्थ भी उनकी कल्पना के सहारे सत्य और प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेते हैं। ‘अग्निपुराण’ के रचयिता वेदव्यास जी ने कवि को काव्य संसार का प्रजापति कहा है—

“अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः

यथात्मं रोचते विद्मं तथेवं परिवर्तते ॥”

डा० के० सी० पाण्डेय ने प्रतिभा के सम्बन्ध में लिखा है—“The power of clear visualisation of the aesthetic image in all its fulness and life is technically called Pratibha.” (Indian Aesthetics; page 151) अर्थात् किसी सौन्दर्यात्मक पदार्थ के स्पष्ट अन्तर्दर्शन करने वाली शक्ति को प्रतिभा कहते हैं।

इस विशिष्ट प्रतिभा (Genius) से युक्त होने पर कवि की भावनाएँ मूर्त विधान करने के लिए प्रेरित होती हैं। सौन्दर्यबोध से भावनाएँ उदीप्त होती हैं और

बुद्धिज व्यापार द्वारा इन भावनाओं में व्यवस्था, क्रम और मर्यादा स्थापित होती है । काव्य-सृजन की इन सभी क्रियाओं में प्रतिभा ही प्रमुख कार्यकारिणी शक्ति है । मम्मट के प्रसिद्ध काव्य हेतु 'शक्ति, निपुणता, लोकशास्त्र' आदि में शक्ति से प्रतिभा का ही तात्पर्य है । काव्य प्रयोजन का सर्वप्रथम कारण प्रतिभा ही है । आनन्दवर्चनाचार्य महाकवि की प्रतिभा की अभिव्यक्ति उनकी रचना के प्रतीयमान अर्थ से ही मानते हैं—

“सरस्वती स्वाबु तदर्थवस्तु निःष्यन्वमाना महतां कवीनाम्
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्”

अर्थात् काव्य के आस्वादनीय अर्थ तत्त्व को स्फुरित करने वाली महाकवियों की वाणी उनकी अलौकिक असामान्य प्रतिभा विशेष को प्रकट करती है—वे विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न महान् कवियों में कालिदास आदि पाँच-छः कवियों को ही स्थान देते हैं । ऐसे कवियों में प्रतिभा संस्कारजन्य ही होती है । महिम भट्ट ने प्रतिभा को ही काव्य-सर्वस्व माना है—

रसानुकूल शब्दार्थ चिन्तास्तिमित चेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रभंव प्रतिभा कवेः ॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ॥
येन साक्षात्करोतीत्येव भावस्त्रैलोक्यवर्तिनः ।

अर्थात् रसानुकूल शब्द और अर्थ की चिन्तना से लीन एकाग्रचित्त कवि की प्रज्ञा जब क्षण भर के लिए पदार्थ के सच्चे स्वरूप का स्पर्श करती हुई उद्बुद्ध होती है तब वह प्रतिभा कहलाती है । वही भगवान् का तृतीय नेत्र है । उसी के द्वारा त्रैलोक्य-वर्ती भावों का साक्षात्कार करता है । इसी को पाश्चात्य काव्य शास्त्र में दिव्य और सुन्दर विशेष आदि कहा गया है । आचार्य रुद्रट ने दो प्रकार की प्रतिभा का उल्लेख किया है—सहजा और उत्पाद्या । सहजा प्रतिभा कवि को जन्मसुलभ वरदान के रूप में प्राप्त होती है किन्तु उत्पाद्या किसी पूर्वं पुण्य के प्रभाव से या देवता के प्रसाद आदि से उत्पन्न होती है । राजशेखर के अनुसार, कवि की कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के अतिरिक्त पाठक में भी प्रतिभा रहती है । काव्य के मर्म को समझने वाले सहृदय पाठक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न ही होते हैं ।

कल्पना तत्त्व

पाश्चात्य काव्य जगत् में कल्पना का विशेष महत्त्व है । काव्य के आवश्यक तत्त्वों में कल्पना को सर्व-प्रमुख तत्त्व माना गया है । महाकवि शेक्सपियर ने लिखा है—

“The lunatic, the lover and the poet are of imagination all compact.”

अर्थात् उन्मत्त, प्रेमी और कवि इन तीनों का कल्पना से अविरल सम्बन्ध है । इस पंक्ति से यह स्पष्ट है कि शेक्सपियर ने कल्पना को कवि का प्रधान गुण माना है ।

ड्यूगल्ड स्ट्यूवर्ट (Dugald Stewart) नामक विद्वान् ने भी इसी प्रकार लिखा है—

“An uncommon degree of imagination constitutes poetical genius.”

अर्थात् असाधारण कल्पना ही काव्य निर्माण की शक्ति उत्पन्न करती है ।

कल्पना के सम्बन्ध में दार्शनिक कान्ट का मत

सर फिलिप मॅगनस (Sir Phillip Magnus) ने अपनी ‘English Studies’ नामक पुस्तक में पृष्ठ ८६ पर कान्ट द्वारा विवेचित कल्पना के स्वरूप का संक्षिप्त पर सुन्दर निदर्शन किया है । मॅगनस ने लिखा है कि कान्ट ने तीन प्रकार की कल्पना निर्धारित की है—

१. The reproductive imagination अर्थात् पुनर्निर्माण करने की शक्ति रखने वाली कल्पना । कॉलरिज (Colridge) ने इस शक्ति को ‘fancy’ कहा है । यह शक्ति मनःक्षेत्र में वर्तमान विविध अव्यवस्थित तत्त्व संघातों को पुनःप्रतिष्ठित (Reproduce) करती है ।

२. The productive imagination अर्थात् उद्भावना करने वाली कल्पना शक्ति । कॉलरिज की ‘Primary imagination’ बहुत कुछ इसी से मिलती है । इसके द्वारा मन विविध अव्यवस्थित तत्त्व संघातों की पुनःप्रतिष्ठित सामग्री से नवीन रूपों की योजना करता है ।

३. Aesthetic imagination अर्थात् सौन्दर्य बोध कराने वाली कल्पना । कान्ट के मतानुसार इस कल्पना का सम्बन्ध बुद्धि (understanding) से अधिक रहता है । इस सम्बन्ध को उसने स्पष्ट भी किया है । उसने दो प्रकार के विचार बताए हैं—

१. Rational ideas या तर्कप्रधान विचार ।

२. Aesthetic ideas या अनुभूतिमूलक विचार ।

अनुभूतिप्रधान विचारों की योजना वह सौन्दर्यबोधात्मक कल्पना (Aesthetic imagination) से ही मानता है ।

कॉलरिज का कल्पना सम्बन्धी मत

कॉलरिज के कल्पना सम्बन्धी मत को समझने के लिए संघातवाद (Associationism) के सिद्धान्त को समझ लेना आवश्यक है । इस मत के अनुयायी तत्त्व को निर्जीव अणुओं का संघात मानते हैं जो कि एक निश्चित गतिनियम (Law of motion) के अनुरूप चलता रहता है । काव्य में भी मन को यन्त्रवत् सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । इत्थर प्रकृतिविज्ञानवादी न्यूटन ने भी मानव मन के व्यापारों को प्रकृति विज्ञान के सहारे यन्त्रवत् सिद्ध करने का प्रयास किया है । अतः संघातवादी और प्रकृति विज्ञानवादी दोनों ने ही मन को विचारों का निष्क्रिय प्राप्ता (Passive recipient) कहा है ।

कॉलरिज ने इसके विरुद्ध मन को सक्रिय माना है । उसका दृढ़ निश्चय था—

“To make perception possible there is needed an active power of mind itself.” अर्थात् दर्शनानुभूति के लिए मन का स्वयं सक्रिय होना आवश्यक है। कॉलरिज ने ‘इमेजिनेशन’ (कल्पना) को ‘फैन्सी’ (Fancy) से भिन्न माना है। उसके मतानुसार ‘फैन्सी’ वह प्रवृत्ति है जो चित्र संघातों को उत्पन्न करती है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मेगनस ने इस प्रकार लिखा है—

“The fancy, according to him, is the faculty which produces compound images. It simply constitutes new arrangements of past sense experience and its products are purely the result of an associative and not a creative process.”

अर्थात् कॉलरिज के अनुसार ‘फैन्सी’ वह प्रकृत शक्ति है जिसके द्वारा चित्र-संघातों की उत्पत्ति होती है। यह पूर्व परिचित तथ्यों से ही नवीन चित्रों की उद्भावना करती है। यह उद्भावनाएँ समन्वय द्वारा होती हैं।

कल्पना को उसने उत्पादक शक्ति कहा है। इस कल्पना के दो भेद किए हैं—

१. “Primary imagination which acting upon the raw materials of sensation enables us to have perception.” अर्थात् प्राथमिक कल्पना जो स्वभाव उत्पन्न करने वाले तत्त्वों के सहारे दर्शनानुभूति की शक्ति देती है।

२. Secondary imagination — गौण कल्पना।

उसके मतानुसार काव्य-क्षेत्र में यही कार्य करती है। कॉलरिज द्वारा किए गये कल्पना के इन दोनों विभागों के अन्तर को मेगनस ने इस प्रकार प्रकट किया है—

“It is like primary imagination in kind and differs only in degree and in the mode of its operation. The difference would seem to mean that it acts in accordance with the will. The primary imagination is involuntary. We perceive whether we wish or not.” अर्थात् दोनों प्रकार की कल्पना का स्वरूप तो एक ही होता है। स्थिति में अन्तर है। सेकण्डरी इमेजिनेशन (Secondary imagination) की योजना इच्छा-शक्ति पर निर्भर है किन्तु प्राइमरी इमेजिनेशन (Primary imagination) अपने-आप उदित होती है और अपना कार्य करती है।

संक्षेप में कॉलरिज की कल्पनाविषयक धारणा यही है।

क्रोचे का कल्पना सम्बन्धी मत

क्रोचे (Benedetto Croce) इटली के विख्यात दार्शनिक और साहित्यिक थे। इन्होंने अपने दर्शन को ‘Philosophy of Spirit or Mind’ अर्थात् मन का दर्शन कहा है। इस दर्शन के चार भाग किए हैं—

१. सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetic as science of Expression and General Linguistic)।

२. तर्कशास्त्र (Logic as the science of pure concept) ।

३. व्यवहार दर्शन (Philosophy of Practice, Economics and Ethics) ।

४. इतिहास का सिद्धान्त (The Theory and History of History)

सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत क्रोचे ने कल्पना का विवेचन किया है। कल्पना के द्वारा ही मानव सौन्दर्यानुभव करता है। सौन्दर्य और कल्पना के सम्बन्ध को उसके मन के विविध व्यापारों को स्पष्ट करते हुए समझाया है। उसके विवेचन का सार इस प्रकार है—

“मन एक व्यापार है। उसके मतानुसार इस मनः व्यापार के यद्यपि बहुत से रूप हैं किन्तु वे अलग-अलग नहीं किए जा सकते। विल्डन कार (Wildon Carr) ने अपनी ‘The Philosophy of Benedetto Croce’ में क्रोचे के इस मत को स्पष्ट किया है—

“Every form which reality assumes or can assume for us has its ground within mind. There is not and there cannot be a reality that is not mind. This mind which is reality or this reality which is mind is an activity the forms of which we may distinguish but we cannot separate them.”

अर्थात् प्रत्येक कृति जो सत्य है या सत्य कही जा सकती है मस्तिष्क की ही उपज होती है। ऐसा कोई सत्य नहीं है जिसकी स्थिति मन में न हो। यह मन ही सत्य है या सत्य ही मन है। यह एक क्रिया है जो अखण्ड है। उसके भिन्न-भिन्न रूपों को देखा जा सकता है किन्तु इन रूपों को एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते।

मन ही अपने विविध व्यापारों द्वारा वह वस्तु निर्मित करता है जिसे सत्ता कहते हैं। मनः व्यापार के स्थूल रूप से दो स्वरूप हैं—

१. ज्ञान या प्रज्ञा—अर्थात् किसी भी विषय का बोध होना। यह पक्ष संज्ञा-न्तिक या तात्त्विक है। यह मनःव्यापार की प्रथम स्थिति है।

२. क्रिया या संकल्प—बोध व्यापार के पश्चात् उसके आधार पर या उसके अनुरूप क्रिया करना। यह पक्ष व्यावहारिक है। यह मनःव्यापार की दूसरी स्थिति है।

ज्ञान और क्रिया इन दोनों मनःव्यापारों के भी भेदोपभेद किये गये हैं। ज्ञान के दो रूप बताए हैं—

१. स्वयं प्रकाशज्ञान (Intuition)—इसे कलात्मक ज्ञान भी कहते हैं। इसके सहारे हमें किसी विशिष्ट वस्तु के विशिष्ट गुण का ज्ञान होता है। इस ज्ञान का उदय कल्पना द्वारा होता है।

२. प्रभा या तर्क ज्ञान (Concept)—इसके द्वारा भिन्न प्रतीत होने वाली वस्तुओं के अस्पर सम्बन्ध का ज्ञान होता है। यह ज्ञान निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है।

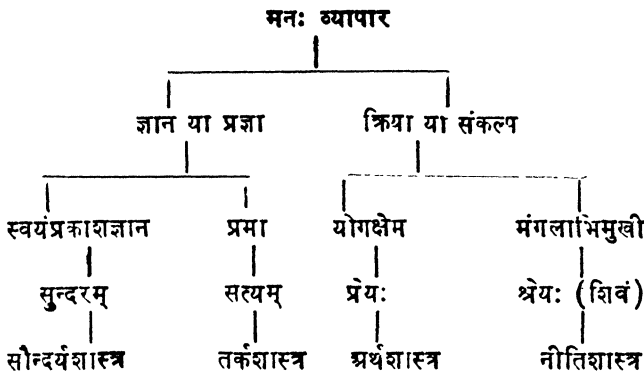
मानस व्यापार की दूसरी स्थिति क्रिया या संकल्प के भी दो भेद किए हैं—

१. योगक्षेम की भावना द्वारा की गई क्रिया (Economic activity) ।
२. मंगल भावना से की गई शास्त्रानुमत क्रिया (Ethic activity) ।

इस प्रकार मानस व्यापार रूपी सत्ता के चार विभाग या श्रेणियाँ हैं जिनके अनुरूप ही वह चित्रों की सृष्टि करता है । वे श्रेणियाँ निम्नलिखित हैं—

१. सुन्दरम् (Beauty) ।
२. सत्यम् (Truth) ।
३. प्रेय (Usefulness) ।
४. श्रेय (Goodness) ।

पं० बलदेवप्रसाद उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में उपर्युक्त मनःव्यापार के विभिन्न रूपों को तालिका द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया है—



सौन्दर्यशास्त्र या कला का सम्बन्ध क्रोचे ने स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) से माना है । उसके अनुसार यही सबसे पहला मानस व्यापार है, इसमें कल्पना का महत्त्व अधिक और बुद्धि का बहुत कम है । क्रोचे द्वारा विवेचित कल्पना के स्वरूप, व्यापार और स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर उसके स्वयंप्रकाश ज्ञान का श्री बलदेव उपाध्यायकृत संक्षिप्त विवेचन द्रष्टव्य है—

स्वयंप्रकाशज्ञान—स्वयंप्रकाशज्ञान को प्रतिभाज्ञान भी कह सकते हैं । इसी के सहारे कला-कृतियों का निर्माण होता है । 'स्वयंप्रकाश' का अर्थ है मन में सहजानुभूति द्वारा स्वतः विकसित हुई भावनाएँ । इन भावनाओं का सौन्दर्यानुवेष्टित मूर्त-विधान कल्पना द्वारा होता है । तद्वशात् विचार (प्रमा) द्वारा इन मूर्तियों का जाति-ज्ञान होता है । कल्पना ही मानव मतिष्क का सौन्दर्य बोधात्मक व्यापार (Aesthetic activity) है । यह आत्मा की निजी क्रिया है जो दृश्य जगत् के नाना रूपों तथा व्यापारों को आत्मसात् कर उसके सौन्दर्यात्मक पक्ष का उद्घाटन किया करती है । कलाकार की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है । क्रोचे के अनुसार, "प्रत्येक मनुष्य

स्वभाव से ही कलाकार होता है। सर्वप्रथम वह कवि या कलाकार बनता है तदनन्तर वह कवि होने के कारण ही दार्शनिक हो जाता है। मनुष्य जगत् को समझता है और वही उसे बदलता भी है। जानता है और इसलिए वह बदल सकता है। यह कार्य मनुष्य ज्ञान के सहारे ही कर सकता है। यह ज्ञान दो प्रकार का है—कल्पना (Imagination) और विचार (Thought)। 'कल्पना शक्तिसौन्दर्य बोधात्मक व्यापार है इसी के कारण मनुष्य कलाकार बनता है। विचार शक्ति के द्वारा वह तत्त्ववेत्ता बनता है।'।

उपयुक्त अवतरण में उपाध्याय जी ने क्रोचे के कल्पना सिद्धान्त की निम्न-लिखित बातों पर विशेष बल दिया है—

१. कल्पना का स्वयंप्रकाशज्ञान (Intuition) से सीधा सम्बन्ध है।
२. कल्पना मानव-मस्तिष्क की सौन्दर्यबोधात्मक प्रवृत्ति की प्रक्रिया है।
३. ज्ञान को उसने संसार के समस्त संकलों का मूल कारण माना है। यह ज्ञान उसके मतानुसार दो प्रकार का है—कल्पनारूप (स्वयं प्रकाश) और विचाररूप (प्रमा)।

“कल्पना वस्तुओं के सहज और वास्तविक रूप को ज्यों का त्यों ग्रहण करती है। विचार वस्तुओं के रूप का ग्रहण बुद्धि के माध्यम से करता है।”

४. कल्पना मूर्त विधायिनी शक्ति है। यह शक्ति विचार-शक्ति की प्रथम भूमिका कही जा सकती है। कवि कल्पना के सहारे सहज रूपों की सहज ढंग से अभिव्यक्ति करता है। आलोचक विचार-शक्ति के सहारे उनकी विवेचना करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रोचे के मत में कल्पना-शक्ति विचार-शक्ति से बिल्कुल भिन्न होती है।

भारत में कल्पना पर विचार

भारत में कल्पना को काव्य का एक स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया है। प्राचीन आचार्यों ने इसका संकेत भावना या प्रतिभा के अंतर्गत किया है। अभिनवगुप्त पहला भारतीय दार्शनिक है जिसने कल्पना पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। उसने कल्पना को अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ-प्रज्ञा (अपूर्ववस्तुनिर्माण-क्षमा प्रज्ञा) माना है। पंडितराज जगन्नाथ ने इसे 'काव्य घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति, (काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति—रसगंगाधर) कहा है।

रामचन्द्र शुक्ल का कल्पना सम्बन्धी मत—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कल्पना पर मनोवैज्ञानिक रीति से विचार किया है। उन्होंने प्रतिभा और भावना को उसका पर्यायवाची माना है। उनके अनुसार धर्मक्षेत्र में जो स्थान उपासना का है साहित्य क्षेत्र में वही स्थान कल्पना का है। उन्होंने लिखा है—“जो वस्तु हम से अलग है, हम से दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना उपासना है। साहित्य वाले इसे भावना कहते और आजकल के लोग कल्पना।

जिस प्रकार भक्ति के लिए ध्यान और उपासना आवश्यक होती है उसी प्रकार भावों के प्रवर्तन के लिए भावना या कल्पना अपेक्षित होती है ।”

(चिन्तामणि; भाग २, पृष्ठ २१६)

उपर्युक्त अवतरण से प्रगट है कि शुक्ल जी ने कल्पना को मन की क्रिया माना है । यही क्रिया वस्तुओं के विशेष रूपाकारों को हमारे मनःचक्षु के समक्ष प्रस्तुत कर अनुभवगम्य बनाती है ।

उन्होंने लिखा है—

“कल्पना है काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष जिसका विधान हमारे यहाँ के रसवादियों ने भाव के योग में ही अन्तर्भूत माना है ।” (इन्दौर वाला भाषण; पृ० २०)

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी कल्पना को भाव से ही सम्बन्धित मानते हैं । इस क्षेत्र में वे रिचर्ड्स से प्रभावित कहे जा सकते हैं । कल्पना और भाव के सम्बन्ध को स्थिर करते हुए वे कहते हैं—

“अतएव काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो । सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त्त रूप भावप्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी है ।” (इन्दौर वाला भाषण)

इसी भाव को उन्होंने अपनी सूरदास वाली आलोचना में और भी स्पष्ट कर दिया है—

काव्य जगत् की रचना करने वाली कल्पना इसी को कहते हैं । किसी भावोद्ब्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट-छांट कर सामने रखने लगती है तब उसे एक सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं ।

उसी स्थल पर आगे फिर वे लिखते हैं—

“भावोद्ब्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक काव्य मीमांसक ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझकर कह दिया है—कल्पना आनन्द है ।

—सूरदास; पृ० २८-२९

उपर्युक्त अवतरणों से एक बात और स्पष्ट होती है वह यह कि शुक्ल जी कल्पना को काव्य का प्रमुख साधन मानते थे साध्य नहीं । उन्होंने यह बात एक स्थल पर स्पष्ट भी कर दी है ।

“यूरोपीयन साहित्य मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है । है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन—पर साधन है साध्य नहीं ।”

शुक्ल जी ने कल्पना के दो रूप माने हैं—

१. विधायक कल्पना अर्थात् मूर्त्त विधान करने की शक्ति ।
२. ग्राहक कल्पना अर्थात् इन चित्रों को ग्रहण करने या समझने की शक्ति । उनके मतानुसार विधायक कल्पना कवि में होती है और ग्राहक कल्पना श्रोता

या पाठक के लिए अधिक अपेक्षित होती है। यहाँ पर शुक्ल जी स्पष्ट ही राजशेखर से प्रभावित जान पड़ते हैं। उसके द्वारा किये गये प्रतिभा के कारयित्री और भावयित्री विभेद ही शुक्ल जी में विधायक और ग्राहक कहे गये हैं। आचार्य शुक्ल और ऋचे के कल्पना सम्बन्धी सिद्धान्तों में जो अन्तर है उनका निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है।

ऋचे ने कल्पना को ज्ञानक्षेत्र की वस्तु माना है, किन्तु शुक्ल जी उसके विपरीत कल्पना को भावक्षेत्र की वस्तु मानते थे किन्तु बुद्धिक्षेत्र से भी उसका थोड़ा बहुत सम्बन्ध बनाये रखते हैं। वास्तव में शुक्ल जी तुलसी के समान सामञ्जस्यवादी थे। काव्यक्षेत्र में भी उन्होंने बुद्धिक्षेत्र और भावक्षेत्र दोनों का सामञ्जस्य विधान कर कल्पना को उन दोनों से सम्बन्धित किया है। किन्तु भारतीय रसवादी आचार्य होने के कारण वे उसे कहीं भावक्षेत्र से अधिक सम्बन्धित कह गए हैं।

शुक्ल जी के मतानुसार कल्पना काव्य के प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों की योजना में सहायक होती है। प्रस्तुत पक्ष में यह रूपविधान करती है और अप्रस्तुत पक्ष के अन्तर्गत यह अलंकार योजना करती है। उन्होंने लिखा है—

“प्रस्तुत पक्ष का रूपविधान भी कवि की प्रतिभा द्वारा ही होता है।”

—इन्दोर वाला भाषण; पृ० ७४

एक दूसरे स्थल पर वे लिखते हैं—

“अलंकार विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है।”

डा० श्यामसुन्दरदास का मत

डा० श्यामसुन्दरदास ने कल्पना परभिन्न रूप से ही विचार किया है। उन्होंने दार्शनिकों के अनुकरण पर ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं—परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान। परिज्ञान के सहारे वस्तुओं के प्रत्यक्ष रूप का ज्ञान प्राप्त होता है। स्मरण ज्ञान के सहारे पूर्व-परिचित या पूर्व-अनुभव की हुई वस्तु का मनश्चक्षु के सम्मुख पुनःसाक्षात्कार होता है। उन दोनों ज्ञानों के मिश्रित प्रयास से नवीन रूपों की सृष्टि की जाती है। वह नवनिर्माण करने वाली मानसिक प्रक्रिया को कल्पना कहते हैं। उन्होंने कल्पना के दो भेद ध्वनित किए हैं—

१. साधारण कल्पना

२. मन की तरंग

साधारण कल्पना को वे मन की तरंग से पूर्व की वस्तु मानते हैं।

मन की तरंग कल्पना की दूसरी अवस्था है। इसमें मनोरागों की स्थिति रहती है। उनके मतानुसार इन्हीं रागों की उत्तेजना से कल्पना का उद्भव और विकास होता है। काव्य में यही कल्पना मधुर और ध्वन्यात्मक शब्दों के अभिवधान से परिवेष्टित होकर आनन्द का उद्रेक करती है। कल्पना की पराकाष्ठा तभी समझी जाती है जब यह कल्पना उत्तेजित होकर नव विग्रहों की उद्भावना करती है। कवि और लेखक की सफलता मौलिक उद्भावना में ही होती है। यह कल्पनाजनित आनन्द द्विविध होता है।

एक बार तो पदार्थों के वास्तविक अवलोकन से आनन्द मिलता है और दूसरी बार पूर्व-परिचित पदार्थों के स्मरण से वही आनन्द पुनः अनुभूत होता है। डा० श्यामसुन्दरदास का यह मत मनोविज्ञान के आधार पर विकसित हुआ है।

गुलाबराय का कल्पना सम्बन्धी मत

गुलाबराय जी ने भी कल्पना पर विचार किया है। उन्होंने कल्पना की परिभाषा इस प्रकार दी है—‘कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं।’

—सिद्धांत और अध्ययन; पृ० ६७

उन्होंने संघातवादियों (Associationists) और कॉलरिज इन दोनों के मतों को स्वीकार-सा किया है। संघातवादियों के समान वे कल्पना को असंकल्पित (Passive) मानते हैं और कॉलरिज के अनुसार वे कल्पना को संकल्पित (Active) भी कहते हैं। इस प्रकार उन्होंने कल्पना दो प्रकार की मानी है—

१. Passive या असंकल्पित—यह कल्पना ही दिवास्वप्न (Day dreams) या स्वच्छन्द कल्पना (Fancy) का प्रतिरूप है।

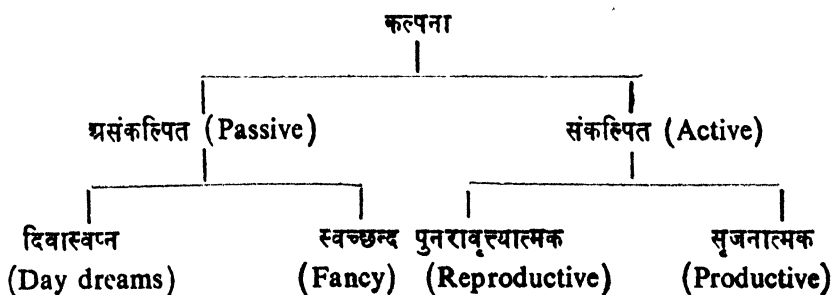
२. Active या संकल्पित—

संकल्पित कल्पना के भी दो भेद किए हैं—

१. पुनरावृत्त्यात्मक (Reproductive)—जब पिछले दृश्य ज्यों के त्यों मनश्चक्षु के समक्ष आते हैं।

२. सृजनात्मक (Productive)—जब पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना द्वारा लाए हुए चित्रों के सहारे अभिनव चित्र विधान किए जाते हैं।

प्रतिभा को गुलाबराय जी ने असाधारण प्रकार की कल्पना कहा है। उसको असंकल्पित और संकल्पित कल्पना के बीच की वस्तु कहा है तथा काव्यक्षेत्र में दिवास्वप्न, स्वच्छन्द कल्पना, पुनरावृत्त्यात्मक और सृजनात्मक चारों प्रकार की कल्पनाएँ आवश्यक मानी हैं। इस प्रकार गुलाबराय के कल्पना सम्बन्धी भेदोपभेदों को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—



गुलाबराय जी ने भी कल्पना का विवेचन मनोविज्ञानशास्त्र के आधार पर किया है। मनोविज्ञानशास्त्र में भी कल्पना के दो भेद किए गए हैं—'Passive' और 'Active'। डा० सिन्हा ने 'A manual of psychology' में लिखा है—

"In passive imagination the mind is comparatively passive. It does not exert itself. It does not make any effort of the will to picture any images. The images come of themselves to the mind and are combined automatically by the suggestive forces. This easy approach of imagination is called passive imagination. In active imagination mind exerts itself to picture an image. Here the images are not automatically combined by suggestive forces. The combination of images is affected by the effort of the will."

अर्थात् असंकल्पित कल्पना में मन अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहता है। वह क्रियाशून्य रहता है। वह इच्छा-शक्ति द्वारा किसी भी प्रकार के चित्रों के विधान को प्रेरणा नहीं देता। चित्र मन-पटल पर स्वयंमेव आते हैं और ध्वन्यात्मक शक्तियों से समन्वित हो जाते हैं। कल्पना का सरल और स्वाभाविक रूप असंकल्पित रूप कहलाता है। संकल्पित कल्पना में मन चित्र विधान के लिए स्वयं प्रवर्तित होता है। यहाँ चित्र ध्वन्यात्मक शक्तियों से समन्वित हो जाते हैं। चित्रों की एकता इच्छा-शक्ति से सम्पन्न होती है।

श्री अरविन्द घोष—उन्होंने भी कल्पना के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। उनकी 'The Future Poetry, Style and Substance' नामक रचना में लिखा है कि कल्पनाएँ दो प्रकार की होती हैं—संकल्पित (Subjective) और असंकल्पित (Objective)। संकल्पित कल्पना दृढ़ता के साथ उन समस्त मानसिक और भावात्मक संस्कार चित्रों के प्रत्यक्षीकरण में समर्थ होती है जो जीवन और जगत् के संकल्प से हमारे मन-पटल पर अंकित होते रहते हैं। असंकल्पित कल्पना का कार्य केवल जीवन और वस्तुओं के बाह्यरूपों तक ही सीमित रहता है।

उपर्युक्त समस्त मतों की आलोचना और सार

कल्पना पर प्रमुख रूप से तीन क्षेत्रों में विचार हुआ है—दर्शनशास्त्र, मनो-विज्ञानशास्त्र और साहित्यशास्त्र। अतः विद्वानों ने इन्हीं तीनों क्षेत्रों के आधार पर कल्पना के स्वरूप को समझने की चेष्टा की है। कुछ विद्वानों ने उसे दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है। कुछ उसे साहित्यिक दृष्टिकोण से व्यक्त करते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों ने तीनों क्षेत्रों के समन्वित सिद्धान्त के आधार पर अपना मतबाद प्रगट किया है। इन विद्वानों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक वर्ग—इस वर्ग में पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट तथा अन्य मनोवैज्ञानिक आते हैं। हिन्दी विद्वान् डा० ग्यामसन्दरदास तथा गुलाबराय भी इसी वर्ग में आयेंगे।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण रखने वाले विद्वान्—इस क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वान् कॉलरिज और भारतीय विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विशेष उल्लेखनीय हैं ।

सामञ्जस्यवादी वर्ग—क्रोचे सामञ्जस्यवादी था। उसने दर्शनिक दृष्टिकोण से साहित्य की विवेचना की है। उसका मत था कि प्रत्येक मनुष्य जन्म से कवि होता है और कवि होने के बाद दार्शनिक भी होता है। कल्पना मन के सहज-स्वाभाविक ज्ञान की प्रक्रिया है। इसी के सहारे अभिव्यञ्जना के साँचे में ढलकर साहित्य और काव्य में मूर्तियाँ निर्मित की जाती हैं।

विशिष्ट वर्गों के अनुयायी होते हुए भी सभी विद्वानों के मतों में कुछ समान मान्यताएँ हैं—

१. सभी विद्वानों ने मूर्त विधान करना कल्पना का आवश्यक व्यापार माना है किन्तु यह मूर्तविधान व्यावहारिक और साहित्यिक दो प्रकार का हो सकता है। साहित्यिक मूर्तविधान वही हो सकता है जो शुक्ल जी के शब्दों में किसी भाव या अन्तर्वृत्ति से परिचालित होगा। कॉलरिज भी इसी प्रकार कल्पना के जड़ स्वरूप (Passivity) में विश्वास नहीं करता। इसीलिए यह लोग कवियों की दिवास्वप्न (Day dreaming) के विरोधी हैं। शुक्ल जी के छायावाद के विरोध का मूल कारण छायावादी कवियों की स्वच्छन्द कल्पना और उनका स्वप्न जगत् ही है। छायावादी कवियों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे कल्पना के जड़रूप (Passivity) में विश्वास करते हैं। महादेवी वर्मा ने एक स्थल पर लिखा है—“कवि को वास्तविक द्रष्टा के साथ स्वप्नद्रष्टा भी होना चाहिए।” इससे स्पष्ट है कि कल्पना के क्षेत्र में भी दो वर्ग हैं—एक आदर्शवादी और दूसरे यथार्थवादी। कल्पना के शुद्ध साहित्यिक स्वरूप तथा उसको संकल्पित मानने वाले विद्वान् आदर्शवादी कहे जा सकते हैं तथा कल्पना के व्यावहारिक पक्ष में विश्वास करने वाले यथार्थवादी कहे जा सकते हैं।

२. सभी विद्वानों ने कल्पना को ग्राहक और विधायक दोनों माना है।

साधारणतया किसी कवि की कल्पना-शक्ति का विवेचन करते समय हमें कल्पना-शक्ति के निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक पक्षों का विश्लेषण करना चाहिए—

१. कल्पना व्यापार के विधि स्तरों की व्यवस्था—इसके अन्तर्गत कल्पना द्वारा निर्मित विविध मूर्तियों की व्यवस्था और विभेद आदि पर विचार किया जाना चाहिए।

२. स्मरण-शक्ति—किसी कवि की कल्पना-शक्ति को समझने के लिए उसकी स्मरण-शक्ति का स्वरूप जानना भी आवश्यक होता है क्योंकि विधायक कल्पना के लिए एक विशेष प्रकार की शक्ति की आवश्यकता होती है।

३. कवि की सम्बन्ध भावना—प्रत्येक व्यक्ति विधि सम्बन्धों से बँधा रहता है। कल्पना पर इन सम्बन्धों का पूरा प्रभाव पड़ता है। कवि के कल्पना स्वरूप को समझने के लिए उन सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है।

४. कल्पना में भावों की प्रक्रिया—यह कल्पना का आवश्यक पक्ष है। कौन

सी कल्पना किस भाव से प्रेरित है इसे स्पष्ट करना भी आवश्यक है। वास्तव में कल्पना को क्रियात्मक रूप देने वाले भाव ही होते हैं। इस सम्बन्ध में एडवर्ड एर्मस्ट्रोंग (Edward A. Armstrong) ने 'Shakespeare's Imagination' नामक पुस्तक में इस प्रकार लिखा है—

"While the day-dreamer is motivated primarily by feeling and by effective influences the creative literary artist is inspired through the influence of emotion under the direction of reason and will. Often indeed the influence of will may not be very evident at the time of inspiration but in artistic creation it is always present to supplement and to give effectiveness to the contribution of emotion." (Page 133)

अर्थात् दिवा-स्वप्नों में विचरण करने वाले की कल्पना तीव्रानुभूति से प्रभावित होती है किन्तु सृजनात्मक साहित्यिक कलाकार की कल्पना संकल्पात्मक और विचारात्मक भावों से प्रेरित होती है। प्रायः अनुभव के समय इच्छा का प्रभाव स्पष्ट नहीं रहता लेकिन कलात्मक सृष्टि रूप से वर्तमान रहती है।

अतएव किसी कवि की कल्पना को स्पष्ट करते हुए यह दिखाना चाहिए कि कौनसा चित्र किस भाव से प्रेरित है।

५. अन्त में उस कवि की कल्पना के महत्त्व पर प्रकाश डालना चाहिए।

कल्पना और रस तत्त्व

कल्पना का इतना विवेचन करने के पश्चात् हम रस तत्त्व से उसका जो सम्बन्ध है उस पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहते हैं। वैसे तो हमारे यहाँ कल्पना पर उस रूप में विचार नहीं किया गया है जैसा कि पाश्चात्य साहित्य में मिलता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे यहाँ कल्पना तत्त्व की, जो काव्य का प्रमुख उपादान है उपेक्षा की गई थी। जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं हमारे यहाँ कल्पना के पर्याय के रूप में प्रतिभा और भावना शब्द प्रचलित थे। प्रतिभा का दूसरा नाम शक्ति भी था। संस्कृताचार्यों ने शक्ति या प्रतिभा को ही काव्य का प्रमुख उत्पादक हेतु माना है। इस शक्ति या प्रतिभा का स्वरूप विवेचन करते हुए ब्रद्रेट ने लिखा है—

"मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधा यस्य
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।"

काव्यालंकार; १।१५

अर्थात् शक्ति कवि की वह विशेषता होती है जिसके सहारे उसके मन में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ स्फुरित होते हैं और कठिनता-रहित पदों की अभिव्यक्ति होती है। प्रतिभा का यह कार्य बहुत कुछ कल्पना के कार्य से मिलता-जुलता है। अनेक प्रकार के वाक्यार्थों का स्फुरण कल्पना से ही होता है। इसी भाव को एक दूसरे आचार्य ने 'नवनवोन्मेषशालिनीशक्ति प्रतिभा मता' कहकर व्यक्त किया है। यह नवनवोन्मेष केवल

वाक्यार्थों का ही नहीं भावों, चित्रों आदि का भी हो सकता है। कल्पना में वैसे भी भाव की प्रधानता रही है। वाक्यार्थ भी तो भाव ही प्रकट करते हैं। प्रतिभा या शक्ति भावों की अभिव्यक्ति करने वाली जननी है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि शक्ति के सहारे ही भावों का संचालन, उनकी योजना और विधान होता है। शुक्ल जी ने कल्पना की परिभाषा देते हुए इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं—

“किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गड़कर और काट-छाँटकर सामने रखने लगती है।”

कल्पना की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि पहले प्रतिभा या शक्ति के सहारे भावोद्रेक अर्थात् नए भावों का उदय होता है। नए भाव ही हमारी अन्तर्वृत्ति को परिचालित करते हैं। इस प्रकार परिचालित अन्तर्वृत्ति ही कल्पना का कार्य करती है अर्थात् नए रूपविधान करती है। इससे प्रकट है कि कल्पना के मूल में भाव रहते हैं और यह भाव प्रतिभा के सहारे उदय होते हैं। भाव ही रस का आधार भी माने जाते हैं। भाव रस के पारस्परिक सम्बन्ध को दिखलाते हुए भरत मुनि ने लिखा है—
‘न भावहीनोस्ति रसः न रसहीनोस्ति भावः।’

अर्थात् भाव रस के बिना नहीं स्थिर रह सकता और रस भाव के बिना नहीं स्थिर रह सकता। रससूत्र में रस का स्वरूप निरूपण करते हुए रस के अंग के रूप में विविध प्रकार के भाव ही लाए गए हैं। प्रतिभा इन भावों को उत्पन्न करती है। ये भाव ही अन्तर्वृत्ति को परिचालित कर रूपविधान करते हैं अतएव इन रूपविधानों में रमणीयता और रसात्मकता का होना अनिवार्य होता है। सच तो यह है कल्पना विनिमित्त कोई भी चित्र नीरस नहीं हो सकता। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने तो इस बात को स्पष्ट करने के लिए ‘कल्पना ही आनन्द है’ तक कह डाला है। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य कल्पना तत्त्व का हमारे रस तत्त्व से कोई विरोध नहीं है। सच्ची कल्पना की पहचान यही है कि उसमें रसात्मकता की पूरी प्रतिष्ठा हो। रसात्मकता के अभाव में कल्पना कल्पना न कहलाकर बुद्धि का व्यायाम मात्र कही जाएगी। सच्ची कल्पना का वास्तव में रस से कोई विरोध नहीं हो सकता।

शैली तत्त्व

काव्य का शैली तत्त्व मनोगत भावों को मूर्तरूप प्रदान करने वाला सहज साधन है। शैली काव्य के बाह्य रूप को अलंकृत करने के अतिरिक्त उसके भावगत रूप को भी विकसित करती है। भावों के पोषक उपादान के रूप में यह रस संचार करने में भी सहायक होती है। भाव-सौन्दर्य की सार्थकता शैलीगत सौन्दर्य पर ही निर्भर है। सुन्दर शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य भी विकृत हो जाता है। प्रत्येक लेखक की अन्तर्तम भावनाओं और व्यक्तित्व के अनुसार शैली अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। इस प्रकार शैली के मुख्य रूप से दो तत्त्व हुए—एक व्यक्तित्व तत्त्व और दूसरा वस्तु तत्त्व। एक आन्तरिक है दूसरा बाह्य। पाश्चात्य और प्राच्य दोनों साहित्यशास्त्रों में इन

पर विस्तार से विवेचन हुआ है। यहाँ पर हम क्रमशः इस विवेचन पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया शैली का विवेचन

पाश्चात्य साहित्य में शैली शब्द का प्रयोग साधारणतया निम्नलिखित तीन अर्थों में होता है। मरे ने 'The Problem of Style' में इन तीनों अर्थों पर विस्तार से विचार किया है—

१. अभिव्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताएँ जिनसे किसी लेखक विशेष को सरलता से पहचाना जा सके 'The personal idiosyncrasy of expression by which we recognise a writer'।

२. अभिव्यञ्जना के विधान 'The technique of expression.'

३. साहित्य की उच्चतम निधि 'Style as the highest achievement of literature'।

किन्तु शैली के उपर्युक्त तीनों अर्थ एकांगी प्रतीत होते हैं। वास्तव में इन तीनों अर्थों से समन्वित परिभाषा ही श्लाघनीय शैली की ओर संकेत कर सकती है क्योंकि श्रेष्ठ शैली में यह तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं। काव्य आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति होने के कारण लेखक के व्यक्तित्व से भी अवश्य प्रभावित रहता है। शैली में लेखक की वैयक्तिक विशेषताएँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित रहती हैं। शैली का वैधानिक पक्ष भी उपेक्षणीय नहीं है। अभिव्यञ्जना-शक्ति पर ही काव्य की सफलता निर्भर है। अभिव्यञ्जना की विविध प्रणालियाँ और शैलियाँ प्रचलित हैं। शैली का तीसरा अर्थ भी साहित्य में शैली के महत्त्व की ओर संकेत कर रहा है। उचित गुणों से युक्त शैली ही रचना को साहित्यिक रूप प्रदान करती है। अतः शैली पर निम्नलिखित तीन शीर्षकों से विचार करना उपयुक्त होगा—

१. शैली और व्यक्तित्व।

२. शैली की वैधानिक विशेषताएँ।

३. शैली के विकास की स्थितियाँ।

शैली की इन तीन विशेषताओं को हडसन ने क्रमशः वैयक्तिक पक्ष (Personal side), कला पक्ष (Art side) और ऐतिहासिक पक्ष (Historical side) कहा है।

शैली और व्यक्तित्व (Personal side)—लेखक की व्यक्तिगत विशेषताएँ जो शैली में प्रतिबिम्बित होती हैं उन्हें हडसन ने तीन कोटियों में नियोजित किया है—

१. Intellectual Element या बौद्धिक तत्त्व।

२. Emotional Element या भाव तत्त्व।

३. Aesthetic Element या सौन्दर्यात्मक तत्त्व।

इन तीनों कोटियों से स्पष्ट है कि शैली लेखक के बुद्धि, भाव और कल्पना तीनों तत्त्वों को प्रदर्शित करने का महनीय कार्य करती है।

शैली का बौद्धिक तत्त्व (Intellectual Element)—प्रत्येक रचना में बुद्धि तत्त्व का प्रयोग उसे जनसाधारण की रुचि के अनुकूल वैधानिक रूप प्रदान करने के लिए किया जाता है। बुद्धि के कुछ प्रमुख गुण होते हैं जो प्रत्येक उच्चकोटि की रचना के विधायक अंग हैं। इन में से तीन आवश्यक गुण हैं—

१. Precision—यथार्थता।

२. Lucidity—स्पष्टता (प्रसादगुण)।

३. Propriety उपयुक्तता (श्रीचित्य)।

हडसन ने इन तीनों गुणों की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

“There are the intellectual elements—the precision which arises from the right use of right words; the lucidity which results from the proper disposition of such proper words in the formation of sentences, propriety or the harmony which should exist between the thing said and the phrasing of it.”

अर्थात् शैली में अनेक बौद्धिक तत्त्व होते हैं—जैसे यथार्थता जो कि भावानुरूप शब्दों के उचित प्रयोग से आती है, स्पष्टता जो कि वाक्य-विन्यास में उपयुक्त शब्द-योजना से आती है, उपयुक्तता या सुषमा जो काव्य विषय और उसके विन्यास दोनों के सामञ्जस्य में निहित रहती है।

इन तीनों बौद्धिक विशेषताओं में से मरे ने ‘The Problem of Style’ में यथार्थता (Precision) को सबसे अधिक महत्त्व देते हुए शैली में इसकी अवस्थिति आवश्यक मानी है। शैली में यह बुद्धिगत यथार्थता कई रूपों में प्रविष्ट हो सकती है—

१. Precision of Communication of emotions and thoughts.

अर्थात् भावों और विचारों की यथार्थ प्रेषणीयता—इस सम्बन्ध में मेरी के यह शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

“Style is a quality of language which communicates precisely emotions or thoughts peculiar to the author.”

अर्थात् शैली भाषा की वह विशेषता है जिसके सहारे लेखक भावों और विचारों का यथार्थ प्रेषण करने में समर्थ हो सके। इस प्रकार शैली में उपयुक्त प्रेषण विधान आवश्यक गुण है।

२. Precision of emotional suggestion अर्थात् भावात्मक अभिव्यक्ति की उपयुक्तता—इस भावात्मक अभिव्यक्ति को उपयुक्त रूप देने का कार्य लेखक कलात्मक मूर्तविधान या चित्रविधान के सहारे किया करते हैं। इस कलात्मक मूर्त-विधान को मेरी ने ‘Crystallisation’ कहा है। मरे ने भावात्मक अभिव्यक्ति की यथार्थता को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है।

“The essential quality of style was precision—that this

precision was not intellectual, not a precision of definition but of emotional suggestion that there are various methods of achieving it but that they could be grouped together under the term crystallisation."

अर्थात् यथार्थता शैली का अनिवार्य गुण है। यह यथार्थता बुद्धिगत या परिभाषागत नहीं बल्कि भावगत होनी चाहिए। भावगत यथार्थता का समावेश करने की अनेक रीतियाँ हैं। इन सभी रीतियों को मूर्त-विधान के अन्तर्गत रख सकते हैं।

यथार्थ मूर्त-विधान की योजना के लिए कवि अप्रस्तुत विधान का प्रयोग करते हैं। यह अप्रस्तुत विधान कई रूपों में किया जा सकता है। इनमें से दो रूप प्रधान हैं—

१. अलंकार रूप में

२. प्रतीक रूप में

अप्रस्तुत योजना द्वारा मूर्त-विधान (crystallisation) कई प्रकार का होता है जैसे वस्तु या विषय का मूर्त-विधान, चारित्रिक मूर्त-विधान और पात्रों की भाषा से सम्बन्धित आदि। उच्चकोटि के लेखक भावों के यथार्थ रूप को प्रस्तुत करने के लिए अपनी शैली में इन सभी गुणों पर ध्यान रखते हैं।

३. Precision of language—अर्थात् भाषागत यथार्थता या उपयुक्तता—हडसन ने यथार्थता (Precision) पर विचार करते हुए भाव को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए शब्दों के उपयुक्त प्रयोग पर ही बल दिया है। उपयुक्त शब्द चयन द्वारा ही शैली में उसके अन्य गुणों का विकास देखा जा सकता है। शैली में शब्दों के स्थान और महत्त्व का स्पष्टीकरण इन पंक्तियों से भी हो जाता है—

'Poetry alone can tell her dreams

With the fine spell of words alone can save

Imagination from the sable chain

And dumb enchantment."

शब्दों की उपयुक्त योजना के लिए पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य में रूपविधायिनी शक्ति (Plasticism) को विशेष महत्त्व दिया है। शैली की इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए चैहोव (Tchegov) नामक विद्वान् ने गोर्की को लिखा था—

You are an artist, you feel superbly, you are plastic that is when you describe a thing you see it and touch it with your hands; that is real style."

अर्थात् तुम एक सच्चे कलाकर हो, तुम्हारी अनुभूति बड़ी तीव्र है। जब तुम अपनी अनुभूति का वर्णन करते हो तो उसको मूर्तिमान बना देते हो। उस समय ऐसा

लगता है कि तुम वर्ण्य वस्तु को अपने चक्षुओं से देखते हो, और ऐसे स्पर्श करते हो।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि वर्ण्य विषय को प्रत्यक्षानुभूति के योग्य बनाना ही कुशल कलाकार का कार्य होना चाहिए। काव्य में इस कार्य की सफलता सुन्दर और उपयुक्त शब्द-विधान पर बहुत कुछ अवलम्बित है।

भाव तत्त्व (Emotional Element)—काव्य में उपर्युक्त निर्देशित बुद्धि-मूलक तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ हृदयमूलक तत्त्व भी होते हैं। हडसन ने 'Emotional Element' और 'Aesthetic Element' को इसी हृदयमूलक तत्त्व के अन्तर्गत रक्खा है। कवि की भावनाएँ कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त होने पर ही सफल मूर्त विधान कर सकती हैं। भावना पर भी व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है अतः भाव को सौम्य रूप प्रदान करने के लिए भावाभिव्यञ्जन में निम्नलिखित विशेषताएँ आवश्यक हैं—

१. Force—प्रवेश।
२. Energy—शक्ति।
३. Suggestiveness—ध्वन्यात्मकता।

सौन्दर्य तत्त्व (Aesthetic Element)—काव्य एक कला है अतः कवि में सौन्दर्यानुभूति भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। सौन्दर्य के विविध स्तर होते हैं। उच्चकोटि की सौन्दर्य सृष्टि के लिए हडसन ने सौन्दर्य तत्त्व की निम्नलिखित विशेषताएँ ध्वनित की हैं।

१. Music (rhythm) —संगीतात्मकता।
२. Grace—ग्रान्तरिक सौन्दर्य।
३. Beauty—बाह्य सौन्दर्य।
४. Charm—आकर्षण।

शैली में आयोजित बुद्धि तत्त्व, भाव तत्त्व और सौन्दर्य तत्त्व इन तीनों का सम्बन्ध लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व से होता है। लेखक की वैयक्तिक विशेषताओं के अनुरूप ही इन तत्त्वों का रूप विधान होता है। हडसन ने इस बात को इस प्रकार लिखा है—

“For us the intellectual, emotional and aesthetic qualities of any man's writings will relate themselves at Bottom to all the personal qualities of his genius and character and thus the technical study of his style become an aid of the individuality embodied in his work.”

अर्थात् शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं से प्रच्छन्न रूप से संयुक्त रहती हैं। अतः शैली का वैधानिक अध्ययन लेखक के व्यक्तित्व के अध्ययन में भी सहायक होता है।

इससे स्पष्ट है कि शैली के विधान और लेखक के व्यक्तित्व में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मरे ने इसीलिए शैली को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“Style is the direct expression of the individual mode of experience.”

अर्थात् शैली व्यक्तिगत अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यञ्जना है। प्रत्येक लेखक की अनुभूति भिन्न कोटि की होती है। उसके अनुसार ही उसकी रचना का स्वरूप भी होता है। इस प्रकार शैली में व्यक्तित्व की छाया शैली का एक सहज स्वाभाविक गुण है।

इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक शैली में व्यक्तित्व की प्रधानता होनी ही चाहिए। श्रेष्ठ शैली में व्यक्तित्वहीनता और व्यक्तित्वप्रधानता दोनों को महत्त्व दिया गया है। वास्तव में दोनों के सामञ्जस्य द्वारा उत्तम शैली का निर्माण किया जा सकता है। उसमें व्यक्तित्व का आभास मात्र ही यथेष्ट होता है। मरे ने व्यक्तित्वहीनता और व्यक्तित्वप्रधानता के सम्बन्ध में लिखा है—

“For the highest style is that where in the two blend. It is the combination of the maximum of personality with the maximum of impersonality, on one hand it is a concentration of peculiar and personal emotion on the other hand it is complete projection of personal emotion into the created thing.”

अर्थात् शैली की पराकाष्ठा व्यक्तित्व के अति प्रतिबिम्बन और अति अप्रतिबिम्बन के समन्वय में देखी जाती है। उसमें व्यक्तिगत और विचित्र भावों का सम्मिश्रण होता है। वास्तव में शैली में व्यक्तिगत अनुभवों का ही मूर्तरूप दिखाई पड़ता है।

पाश्चात्यों द्वारा शैली तत्त्व की समीक्षा—शैली में व्यक्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ वैधानिक विशेषताएँ भी होती हैं। काव्य की अभिव्यञ्जना या शैली एक विशेष प्रकार की होती है। शैली काव्य की सार्थकता उसके अन्तर्भूत भाव का बिम्बांकन करने में है। यह बिम्बांकन पर ही आधारित है। शैली के सजीव बनाने के लिए लेखक अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न शैलियों का अनुगमन करते हैं। शैली के इन विभिन्न रूपों पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों का विवेचन इस प्रकार है—

प्लेटो—प्लेटो ने शैलियों के तीन भेद बताए हैं—सहज प्रसादात्मक, विचित्र और मिश्र। प्लेटो के मत में तृतीय कोटि की शैली ही श्रेष्ठ है। यह व्यक्तित्ववादी थे। इनका मत था कि शैली लेखक के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया होती है।

सिसरो—इन्होंने प्लेटो के व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट और प्रवेग-पूर्ण शब्दों में प्रतिपादित किया था। यह शैली को व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया मानते थे। व्यक्तित्व के अतिरिक्त इन्होंने शैली के नियमन में परिस्थिति (वर्ण-विषय) और प्रयोजन का भी योगदान स्वीकार किया है। इन्होंने शैली के प्रमुख तत्त्व भी

निर्दिष्ट किये हैं। वे तीन हैं—

श्रौचित्य, पूर्णशब्द चयन, प्रसादात्मकता तथा सफल प्रबन्धत्व। इन्होंने शैलियों के भेदों का परिगणन भी किया है। प्रमुख रूप से इन्होंने सरल अलंकृत भेद से दो प्रकार की शैलियाँ निर्दिष्ट की हैं।

एरिस्टोटिल (Aristotle) ने वैधानिक रूप से दो प्रकार की शैलियाँ मानी हैं—

साहित्य शैली (Literary Style); और वादात्मक शैली (Controversial Style)। इस शैली के भी दो भेद हैं—

(१) राजनैतिक शैली (Political Style)—इस शैली में काव्यगत शैली की रमणीयता नहीं होती। इसका रूप बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक और शुष्क-सा होता है।

(२) उग्र शैली (Forensic Style)—इसके स्वरूप में विषयगत उग्रता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

एरिस्टोटिल ने शैली में दो गुण और चार प्रकार के दोषों का भी निर्देशन किया है। यह गुण क्रमशः प्रसाद (Perspicuity) और श्रौचित्य (Propriety) हैं। संस्कृताचार्य कुन्तक ने भी श्रौचित्य को रीति का सामान्य गुण माना है। अरस्तू द्वारा निर्देशित शैली के चार दोष इस प्रकार हैं—

१. समासों का प्रयोग।
२. अप्रचलित शब्दों का प्रयोग।
३. अनौचित्यपूर्ण विशेषणों का प्रयोग।

४. भारतीय आलंकारिकों के समान ही अरस्तू ने भी शैली का वर्ण्य-विषय से घनिष्ठ संबंध माना है।

डायोनीसियस—यह भी व्यक्तित्ववादी आचार्य थे। इनका स्पष्ट मत था कि शैली किसी यान्त्रिक क्रिया का फल नहीं है। वह लेखक के व्यक्तिगत वैशिष्ट्यों का शब्दमय चित्र है। व्यक्तित्व के अतिरिक्त शैली में ये भाव और वस्तु शैली का महत्त्व भी स्वीकार करते थे। इन्होंने शैली में शुद्धता, स्पष्टता, समस्त पदों के प्रयोग आदि गुणों का होना भी आवश्यक बताया है। इन्होंने भी शैलियों के तीन भेद माने हैं—सरल, उदात्त और मिश्र। इन्हीं के आधार पर रचना के भी तीन भेद किये हैं—गम्भीर (austere), सरल स्वाभाविक (smooth) और मिश्र (mixed)।

डिमीट्रियस (Demetrious)—यह ग्रीक के प्रसिद्ध आलंकारिक हैं। इन्होंने चार प्रकार की श्रेष्ठ शैलियाँ मानी हैं—

१. प्रसन्न मार्ग (Plain style)।
२. उदात्त मार्ग (Stately style)।
३. मसृण मार्ग (Polished style)।
४. ऊर्जस्वी मार्ग (Powerful style)।

इन्होंने चार हेय शैलियाँ भी मानी हैं—

१. शिथिल (Frigid style) ।
२. कृत्रिम (Affected style) ।
३. नीरस (Arid style) ।
४. अननुकूल मार्ग (Disagreeable style) ।

लांजाइनस—यह शैली को लेखक की आत्मा की अभिव्यक्ति मानते थे ।
इन्होंने शैली के पाँच उद्गम स्रोत निर्दिष्ट किये हैं—

१. धारणा की विशालता (Grandeur of conception) ।
२. भावना की तीव्रता (Intensity of emotion) ।
३. भाषा सौष्ठव (Nobility of diction) ।
४. औचित्यपूर्ण अलंकारों का प्रयोग (Appropriate use of figures) ।
५. भाषागत ऊर्जस्वता तथा पद-रचना का सौन्दर्य और भव्यता (Dignity and elevation of words and style) ।

इन्होंने श्रेष्ठ रचना को इन्हीं स्रोतों की निस्पन्दी कहा है ।

क्विण्टीलियन—यह रोमन आचार्य थे । इन्होंने शब्दवादी सिद्धान्त को बड़ा महत्त्व दिया था । यह शब्द को पृथक् और संगठित दोनों रूपों में शैली का आधार मानते थे । इनके अनुसार शैली के प्रमुख तत्त्व तीन थे—शब्द चयन, अलंकरण, और पदरचना । शैली के भेदों के सम्बन्ध में इनकी अपनी कोई नई मान्यता नहीं थी । अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सदृश इन्होंने भी शैली के सरल, अलंकृत और मिश्र नामक भेद स्वीकार किये हैं ।

बेनजानसन—इन्होंने शैली तत्त्व पर विस्तार से विचार किया था । सरलता और सुबोधता को शैली का प्राण तत्त्व मानते थे । इनके मतानुसार शैलियों के चार भेद होते हैं—संक्षिप्त शैली (Brief), सारपूर्ण शैली (Concise), उन्मुक्त शैली (Abrupt), सामंजस्यवादी शैली (Congruent and Harmonious) ।

पोप—यह ग्रैकवादी आचार्य थे । इनके मतानुसार शैली विचार का परिधान है । वह विचार जितना भव्य होता है अभिव्यंजना भी उतनी ही भव्य होती है । इन्होंने शुद्ध और अशुद्ध भेद से शैली के दो भेद किये थे—शुद्ध से उनका अभिप्राय मँजी हुई और अशुद्ध से विभ्रंशल था ।

पेटर—इसने शैली का विवेचन प्रमुख मूल स्रोतों के आधार पर किया है । शैली के मूल स्रोत हैं—बुद्धि और आत्मा । बुद्धि का शैली के वस्तु तत्त्व से और आत्मा का अभिव्यक्ति पक्ष से सम्बन्ध रहता है । इन दोनों का सहज सामंजस्य उत्तम शैली का विधायक होता है ।

रेले—इनका शैली सम्बन्धी विवेचन पेटर से ही प्रभावित प्रतीत होता है । उसमें कोई मौलिकता नहीं ।

मरे (Merry)—इन्होंने शैली में तीन गुणों का होना आवश्यक माना है ।

इनमें से एक गुण प्रमुख है और दो गौण है। इनके मतानुसार शैली का प्रमुख गुण आनुसूच्य (Precision) है। इन्होंने बौद्धिक आनुसूच्य (Intellectual precision) के स्थान पर भावाभिप्रेक्षण के आनुसूच्य (Precision of emotional suggestion) को अधिक महत्त्व दिया है। आनुसूच्य के विविध रूपों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। मरे द्वारा निर्वाचित शैली के दोनों गौण गुण इस प्रकार हैं—

लय की संगीतमयी अभिव्यक्ति (Musical suggestion of the rhythm)

वर्ण-विषय की रूपमयी अभिव्यक्ति (Visual suggestion of the imagery)

शोपेन हर—शोपेन हर ने शैली पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है। उसने शैली में तीन गुणों की अवस्थिति पर बल दिया है—१. वैभव, दूसरा सौन्दर्य तथा तीसरा इन दोनों का समन्वय से समुद्भूत सामर्थ्य। शैलियों की कोटियों पर इन्होंने विचार नहीं किया है। स्थूल रूप से इन्होंने उनके दो ही भेद निर्दिष्ट किये हैं।

विचेस्टर (Vinchester)—इन्होंने विन्टीलियन कृत्र शैली विभाग, स्थानों के आधार पर होने के कारण अस्वीकार कर दिये हैं। इन्होंने शैलियों का स्वरूप निरूपण और वर्गीकरण शब्द प्रयोगों के आधार पर किया है। इनकी शैली सम्बन्धी धारणाओं के अध्ययन के लिए "Some Principles of Literary Criticism" नामक रचना देखी जा सकती है।

शैली के विकास की स्थितियाँ—किसी भी लेखक की शैली का सुनिश्चित स्वरूप धीरे-धीरे विकसित होता है। एक ही लेखक की भिन्न-भिन्न समयों की शैली, विकास भेद के कारण भिन्न प्रतीत होती है। शैली का यह विकास-क्रम साधारण-तया तीन स्थितियों में विकसित किया जा सकता है—प्रारम्भिक अवस्था, प्रयोगावस्था और प्रौढ़ावस्था। लेखक की कृतियों की आलोचना करते समय इन तीनों अवस्थाओं को भी दृष्टि में रखते हुए लेखक के प्रति अपना निर्णय देना चाहिए।

आलोचना—पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गए शैली के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट प्रकट होता है कि वे लोग शैली के दो तत्त्व स्वीकार करते थे—एक वस्तुपक्ष तथा दूसरा व्यक्ति पक्ष। इन दोनों को क्रमशः शैली का आन्तर-पक्ष और बाह्य-पक्ष कह सकते हैं। शैली के आन्तर-पक्ष के अन्तर्गत शैली में अभिव्यक्त रचनाकार की व्यक्तिगत सबलताओं और दुर्बलताओं की व्याख्या की जाती है और फिर उनसे शैली के स्वरूप में जो परिवर्तन आते हैं, उनकी अभिव्यक्ति कर दी जाती है। शैली के बाह्य-पक्ष के अन्तर्गत अलंकार, गुण आदि की स्थिति का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य शैली तत्त्व विवेचन में वस्तु और व्यक्ति इन दोनों पक्षों का सन्तुलन रहता है। यदि प्रधानता की खोज की जाय तो व्यक्ति तत्त्व की ऊर्जस्वता दिखाई पड़ती है।

भारत में शैली पर विचार

संस्कृत में शैली तत्त्व की सीमांता—शैली शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत में इस प्रकार की गई है—शीलमेव स्वार्थे व्यङ्, डीपि य लोपः अर्थात् शील शब्द में व्यङ्

और डीप प्रत्ययों के योग से शैली शब्द बना है। संस्कृत में शैली शब्द का प्रयोग उस अर्थ में कहीं नहीं मिलता जिस अर्थ में आज पाश्चात्य साहित्य में वह रूढ़ है। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लू ल भट्ट में इसका प्रयोग उपलब्ध हुआ है किन्तु वह स्वभावगत विशेषता का वाचक है। अंग्रेजी शब्द का पर्याय नहीं। (देखिए आटे साहब का संस्कृत अंग्रेजी कोष, पृष्ठ ६२७)

संस्कृत काव्य शास्त्र में शैली से मिलते-जुलते कई शब्द मिलते हैं, जैसे रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, मार्ग आदि। रीति, वृत्ति, और प्रवृत्ति तीनों के स्वरूपों में परस्पर बड़ा भेद है। आचार्य राजशेखर ने इन तीनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—**वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः।** अर्थात् साहित्य वधू की वेशभूषा से प्रवृत्ति की, उसके विलास से वृत्ति की और वाणी विन्यास से रीति की उत्पत्ति होती है। इनके भेदों की विस्तृत विवेचना आगे दी जायेगी। यहाँ पर रीति और शैली के सम्बन्ध पर ही विचार करेंगे।

रीति और शैली—रीति शब्द “रीढ् गतौ” इस घातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है। इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ हुआ मार्ग। साहित्य में लेखक विशेष की रचना में पाए जाने वाले काव्यगुण तथा उनसे विशिष्ट पद रचना के अर्थ में रूढ़ हो गया है। वामन ने लिखा भी है—

“विशिष्टा पदरचना रीतिः विशेषो गुणात्मा” —काव्यालंकार सूत्र १।२।७-८

अर्थात् विशेष प्रकार माधुर्य आदि गुणों से विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं। इसका अर्थ है रीति का प्राण गुण है। गुणों का सम्बन्ध काव्य के प्राण से बताया गया है। आचार्य मम्मट ने स्पष्ट लिखा है—

“रसस्याग्निनो ये धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्तस्य अचलस्थितयो”

अर्थात् गुण रस के प्रधान धर्म, उसके प्रमुख उत्कर्षक तथा अचल भाव से उसमें स्थित रहने वाले तत्त्व हैं। गुणों से वृत्तियों का भी सम्बन्ध है। अतः उनके प्रसंग में उनकी चर्चा आ जायेगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि रीति के अन्तर्गत गुण विचार और रस विचार दोनों की मीसांसा की जायेगी। गुणों के साथ ही साथ हम वक्रोक्ति को भी घसीट सकते हैं क्योंकि अग्निपुराणकार ने लिखा है—

“यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।”

अर्थात् गुण उसे कहते हैं जो काव्य में विचित्र चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं काव्य में विचित्र चमत्कार वक्रोक्ति के कारण भी आता है। गुण यदि उसके आन्तर विचित्र चमत्कार की व्यंजना करते हैं तो वक्रोक्ति उसके बाह्य चमत्कारों की व्याख्या करती है। आनन्दवर्द्धन ने लिखा है—**“वक्रोक्तिरुत्कृष्टा संघटना।”** यह संघटना रीतिमूलक ही होती है। उन्होंने यह भी लिखा है कि **“पद संघटना रीतिः।”** अतः रीति के अन्तर्गत वक्रोक्ति को समेटा जा सकता है। वक्रोक्ति का आधार अलंकार भी होते हैं। दण्डी ने स्पष्ट लिखा है—

“श्लेषः सर्वासु पुष्पाति प्रायो वक्रोक्तिषु भ्रियम् । (काव्यादर्श २।२६३)

अर्थात् वक्रोक्ति में श्लेष का चमत्कार प्रधान रहता है । उपर्युक्त टीकाकार ने श्लेष को समस्त अलंकारों का वाचक माना है ।

रीति का सौन्दर्य औचित्य पर आधारित रहता है क्योंकि रीति के जो नियामक तत्त्व हैं, उनका औचित्यपूर्ण होना आवश्यक होता है । औचित्य से विरहित गुण अलंकार और वक्रोक्ति सब का सौन्दर्य क्षीण हो जाता है । अतः रीति के नियामक तत्त्वों में हम औचित्य को समेट सकते हैं ।

इसी प्रसंग में पाक की चर्चा भी कर सकते हैं । पाक की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने लिखा है—

“तस्माद्भरसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः ।”

इस उद्धरण में रस के औचित्यपूर्ण परिपाक की अवस्था को ही पाक की संज्ञा दी गई है ।

इस प्रकार रीति के अन्तर्गत हम रस, गुण, वक्रोक्ति, अलंकार, औचित्य और पाक इन सबकी मीमांसा को समेट सकते हैं । अतः संस्कृत का रीति शब्द पारिभाषिक होते हुए भी किसी भी रचना के उन तमाम तत्त्वों के विवेचन को समेट सकता है, जो शैली के वस्तु पक्ष के अन्तर्गत आते हैं । अब रही शैली के व्यक्ति पक्ष की बात । इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं । डा० डे साहब ने रीति में शैली के व्यक्ति पक्ष की बोधकता स्वीकार नहीं की है । किन्तु डा० नगेन्द्र ने उनके इस मत का खण्डन किया है । (देखिए हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति की भूमिका, पृष्ठ ५६) । मेरी अपनी धारणा यह है कि किसी भी प्रकार का रीति-विवेचन व्यक्ति पक्ष से सर्वथा विरहित कदापि नहीं हो सकता । यदि व्यक्ति पक्ष से विरहित होता तो गुण, अलंकार, वृत्ति, वक्रोक्ति आदि के चयन, प्रयोग आदि में कहीं कोई अन्तर ही नहीं पाया जाता किन्तु ऐसी बात दिखाई नहीं पड़ती । ‘भिन्नरुचिः लोकः’ वाली उक्ति के परिणामस्वरूप इनके प्रयोग में वैविध्य पाया जाता है । इसीलिए दण्डी ने लिखा है—“तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कवि स्थितः”

अर्थात् कवि की अपनी एक अलग शैली होती है, जिसका प्रवर्तक उसका व्यक्तित्व होता है । ‘अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्म भेद परस्परम् ।’ शारदा तनय ने तो कवियों को नई रीतियों के प्रवर्तन की प्रेरणा भी दी है । उन्होंने “गंगावतरण” में लिखा है—वे कवि सचमुच अन्धे हैं जो दूसरे की रीतियों का अनुसरण करते हैं । उन्हें तो अपने लिए नए मार्ग का अन्वेषण करना चाहिए ।

“अन्धास्ते कवयो येषां पन्थाः क्षुण्णाः परंभवेत् ।

परेषां तु यदाकास्तः पन्थास्ते कवि कुंजरा ॥”

(पं० बलदेव उपाध्याय के भारतीय साहित्य शास्त्र से उद्धृत)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय रीति शब्द आधुनिक शैली का पर्यायवाची है । सम्भवतः यही कारण है कि प्राचीन काल में

शैली शब्द के प्रयोग के प्रचलन की आवश्यकता नहीं हुई ।

शैली का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं समझा जा सकता जब तक उसके शरीर भाषा का विवेचन नहीं किया जायेगा । रस, गुण, वृत्ति, वक्रोक्ति, अलंकार, ओचित्य, पाक आदि को हम उसका प्राण पक्ष मानते हैं किन्तु उसका शरीर पक्ष उसकी भाषा ही होती है ।

शैली के अन्तर्गत हम तीन बातों पर विचार करेंगे—

१. शैली का वस्तु पक्ष अथवा विवेच्य रचना की रूप और चमत्कार योजना का अध्ययन ।

२. शैली का व्यक्ति पक्ष ।

३. शैली का भाषा पक्ष—

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में हम शैली, रचना विशेष के उस पक्ष को कहेंगे जिसमें साहित्यकार की व्यक्तित्वगत विशेषताओं, उसके रचना सौन्दर्य, रूप चमत्कार और अभिव्यक्ति सौष्ठव का अध्ययन विषय होता है ।

अब हम शैली के तीनों पक्षों की मीमांसा करेंगे—

शैली का व्यक्ति पक्ष—इस पक्ष की मीमांसा भारत में बहुत कम हुई है किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसका सूक्ष्म अध्ययन किया है । पीछे हम “पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गए शैली के विवेचन” में कर आए हैं । अतः यहाँ पिष्टपेषण नहीं करेंगे ।

शैली का वस्तु पक्ष—इसके अन्तर्गत रस, गुण, वृत्ति, अलंकार, वक्रोक्ति, ओचित्य आदि के सौन्दर्य का उद्घाटन किया जायेगा । इन सब तत्वों की विशद विवेचना आगे सम्प्रदायों में की जायेगी । अतः हम यहाँ उन पर विचार नहीं कर रहे हैं ।

यहाँ इस पक्ष पर केवल चमत्कार की दृष्टि से विचार करेंगे । रमणीयता या चमत्कार काव्य का प्राण माना गया है । पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार,

“रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । रमणीयता च लोकोत्तरचमत्कारः ।”

यह चमत्कार शब्दगत और अर्थगत दोनों होता है । भारतीय आचार्यों ने चमत्कार को रस का सार तक मान लिया है । आनन्दवर्धनाचार्य ने चमत्कार को काव्य-रसास्वादन के अर्थ में प्रयुक्त किया है । महाकवि क्षेमेन्द्र ने भी इसे काव्य का प्राण माना है । अपने ‘कवि कण्ठाभरण’ में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है कि चमत्कार-विहीन काव्य उसी प्रकार असुन्दर प्रतीत होता है जिस प्रकार लावण्य-हीन ललना-यौवन । उन्होंने चमत्कार दस प्रकार के माने हैं—

१. **अविचारित रमणीय**—जिस काव्य के रसास्वादन में श्रोता को कुछ सोचना नहीं पड़ता उसमें अविचारित रमणीय चमत्कार माना जाता है । जैसे—

पिय सन कहेऊ संदेसडा, सुन भौरा हे काग ।

सो धनि बिरहे जरि मुई, तानु धुवां मोहि लाग ॥ (पद्मावत से)

२. **विचार्यमाण रमणीय**—जिस काव्य के रसास्वादन में कुछ सोचने की

आवश्यकता पड़ती है, उसे विवायमाण रमणीय चमत्कार कहते हैं। जैसे—

जेहि दिन कंह में डरति हों, रैन छिपावैं सूर ।

लं चह दीन्ह कबल कहं, मों कहं होय नयूर ॥

३. समस्त सूक्तितव्यापी रमणीय—जो चमत्कार सम्पूर्ण कविता में होता है उसे समस्त सूक्ति-व्यापी रमणीय चमत्कार कहते हैं। जैसे—

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग ।

विकसे सप्त सरोज बन, हरषे लोचन भृंग ॥

४. सूक्तकदेशदृश्य—जो चमत्कार उक्ति के किसी अंश मात्र में होता है, उसे सूक्तकदेशदृश्य चमत्कार कहते हैं। जैसे—

चकई बिछुरि पुकारं कहाँ मिलौ, हों नांह ।

एक चांद निसि सरग महं, दिन दूसर जलमांह ॥

—(पद्मावत से)

५. शब्दगत चमत्कार—जहाँ चमत्कार की योजना किन्हीं विशेष शब्दों के सहारे की जाती है, वहाँ काव्य में शब्दगत चमत्कार माना जाता है। जैसे—

पविहा पीउ पुकारत पावा ।

जायसी की इस उक्ति में अनुप्रासमूलक शब्दों की योजना में चमत्कार है ।

६. अर्थगत रमणीयता—उक्ति विशेष के अर्थ में पाई जाने वाली रमणीयता को अर्थगत रमणीयता कहते हैं। जैसे—

रतनसेन जो बांषा मसि गोरा के गात ।

जो लगि रहिर न बोबै ती लगि होइ न रात ॥

यहाँ पर कवि ने गोरा शब्द का बड़ा अर्थगर्भित प्रयोग किया है ।

७. शब्दार्थोभयगत रमणीयता—जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में ही चमत्कार माना जाता है, वहाँ उक्ति में शब्दार्थोभयगत चमत्कार की प्रतिष्ठा मानी जाती है। जैसे—

चिरजीवो जोरी बुरे क्यों न सनेह गम्भीर ।

को घटि यह बूषभानुजा, बह हसधर के बीर ॥

इस अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना में शब्दार्थोभयगत चमत्कार है ।

८. अलंकारगत—जब उक्ति में केवल अलंकारगत चमत्कार पाया जाता है, तब उसमें अलंकारगत रमणीयता मानते हैं। जैसे—

गहैं बीन मकु रैन बिहाई । सति बाहुन तंह रहै उनाई ॥

तब धनि सिंह उरेहै लागे । एही बिधा रैन सब जागे ॥

इस उक्ति में चमत्कार केवल विषादन और पर्यायोक्ति अलंकार के कारण है ।

९. रसगत रमणीयता—जहाँ उक्ति में रस-व्यंजना के कारण चमत्कार

पाया जाता है, वहाँ रसगत रमणीयता मानी जाती है। जैसे—

पथ गति नयन मिलल राधा कान ।
 बुहु मन मनसिज पुरल सन्धान ॥
 बुहु मुख हेरइत बुहु मेल भोर ।
 समय न बूझब अचतुर चोर ॥
 बिदगधि संगिनि सब रस जान ।
 कुटिल नयन करलहि समधान ॥
 चलत राजपथ बुहु अरुभाई ।
 कह कवि सेखर बुहु चतुराई ॥

१०. रसालंकारोभयगत—जहाँ उक्ति में रस और अलंकार दोनों का चमत्कार रहता है, वहाँ रसालंकारोभयगत रमणीयता मानी जाती है। जैसे—

“भाषव की कहब सुन्दरि रूपे ।

कतेक जतन बिहि आनि समारल देखत नयन सरूपे ॥

पल्लव राज चरन जुग सोभित गति गजराज के भाने ।

कनक कदलि पर सिंह समारल ता पर मेर समाने ॥

मेर उपरि दुई कमल पुलायल नाल बिना रुचि पाई ।

मनिमय हार धार बहु मुरसरि तओ नहि कमल सुखाई ॥”

यहाँ पर रूपकातिशयोक्ति, विभावना और हेतुप्रेक्षा के साथ-साथ शृंगार-रस जनित चमत्कार भी है।

भाषा का महत्त्व

प्रत्येक काव्य-रचना को काव्यत्व प्रदान करने वाली प्रमुख सहायिका उसकी भाषा है। यही कारण है कि काव्य-भाषा विश्व-साहित्यशास्त्र में विवेचन की वस्तु रही है। भारतीय विद्वानों ने भाषा को काव्य का शरीर मानकर उसे सौष्ठव प्रदान करने वाले हेतुओं पर गम्भीर रूप से विचार किया है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने ‘श्रीचित्य विचार चर्चा’ में भाषा के श्रीचित्य पर पद श्रीचित्य, वाक्य श्रीचित्य, प्रबन्धार्थ श्रीचित्य आदि शीर्षकों से प्रकाश डाला है। पाश्चात्य विद्वान् लेविस (F. R. Levis) ने काव्य या साहित्य में भाषा को अत्यधिक महत्त्व देते हुए लिखा है—

“Literature is not merely in a language but of a language.”

अर्थात् साहित्य या काव्य भाषा में नहीं होता बल्कि भाषा का ही होता है। इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् ने काव्य में भाषा को ही महत्त्व देते हुए काव्य-परिभाषा इस प्रकार दी है—“Poetry is the best words in the best order” अर्थात् मधुरतम शब्दों का पूर्ण सुव्यवस्थित रूप ही काव्य है। इन परिभाषाओं में भी काव्य में भाषा श्रीचित्य को संकेतित किया गया है। अरिस्टोटिल ने इसी भाषा श्रीचित्य को ‘Appropriateness of language’ कहा है। इनके अतिरिक्त लॉगिनस ने भी भाषा और काव्य के सम्बन्ध पर विचार करते हुए अपने ‘Sublime’ नामक ग्रन्थ में

शब्दीचित्य पर प्रकाश डाला है ।

काव्योपयुक्त भाषा कुछ विशिष्ट गुणों से समन्वित रहती है । उसकी उप-युक्तता शब्द-सौन्दर्य के सामञ्जस्यविधान पर आधारित है । इसी सामञ्जस्यविधान को दूसरे शब्दों में भाव और भाषा का सम्बन्ध भी कह सकते हैं । काव्य के भाव तत्त्व, कल्पना तत्त्व और बुद्धि तत्त्व का सम्बन्ध तो कवि की आन्तरिक क्रियाओं से होता है । इन आन्तरिक क्रियाओं द्वारा निर्मित साध्य रूप के प्रत्यक्ष उपस्थित करने का कार्य भाषा द्वारा ही सम्पन्न होता है । अतः कवि की कल्पना, भावना और विचारों को यथातथ्य रूप में प्रकट करने में ही भाषा की सफलता है ।

भाषा और शब्द—भाषा अपने व्यापक अर्थ में प्राणि-मात्र के भावों के पारस्परिक आदान-प्रदान का साधन भरे हुए है । अपने संकुचित अर्थ में वह शब्दों का, आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल पर संघटित रूप है । शब्द है सार्थक ध्वनि समूह । इस सार्थक ध्वनि समूह की उत्पत्ति-प्रक्रिया पाणिनि ने इस प्रकार समझाई है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्यान्मनो युंक्ते विवक्षया ।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥

सोदीर्णं मूर्ध्निभिर्यंहतो वक्त्रमापद्यमारुतः ।

वर्णं नयते..... ॥

अर्थात् पहले आत्मा व चैतन्य अपनी विशेष वृत्ति बुद्धि से विषय को समझता है । फिर वह उसे प्रकट करने की इच्छा से अपनी दूसरी वृत्ति मन से सहायता लेता है । मन प्रेरणा प्राप्त होते ही शरीराग्नि को प्रज्वलित करता है जिससे अत्यन्त सूक्ष्म वायु की उत्पत्ति होती है । यह वायु शरीरस्थ मूलाधिष्ठान चक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र आदि से होती हुई कण्ठ-मार्ग से मूर्धा से टकराती है जिससे वर्ण की उत्पत्ति होती है । शब्द की उत्पत्ति का यही संक्षिप्त इतिहास है ।

सार्थक शब्द के प्रकार—सार्थक ध्वनि-समूह या शब्दों के कुछ आचार्यों ने चार और कुछ ने तीन भेद बताए हैं । चार भेदों के नाम हैं क्रमशः—प्रकृति, प्रत्यय, निपात और उपसर्ग । यास्क ने भी नाम, आख्यात, निपात और उपसर्ग, ये चार भेद स्वीकार किए हैं । नैयायिकों ने चार के स्थान पर तीन ही भेद बताए हैं । वे हैं—प्रकृति, प्रत्यय और निपात । प्रकृति उस शब्द को कहते हैं जो किसी अर्थ के अवबोधन में हेतु रूप हो और प्रतिपाद्य अर्थ की वाचकता में स्थिर हो—जैसे घर शब्द । इसमें चाहे कोई प्रत्यय लगा दिया जाय अर्थ घर से सम्बन्धित अवश्य रहेगा । प्रत्यय उस शब्द-रूप को कहते हैं, जो स्वयं किसी भी अर्थ के अवबोधन में समर्थ न हो किन्तु प्रकृति शब्दों में लगकर उनके अर्थ में एक नवीनता ला दे । निपात तीसरी कोटि का शब्द है । जो शब्द किसी भी अन्य अर्थ के साथ तादात्म्य स्थापित करके अपने अन्वय के अवबोधन में समर्थ नहीं होता । अव्यय आदि सब निपात शब्द ही हैं ।

अर्थ का स्वरूप—अर्थ के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए पतंजलि ने लिखा है—

सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः ।

अर्थात् शब्द अपने जिस अर्थ के हेतु सृजित होता है, उसे उस शब्द का अर्थ कहते हैं ।

कैयट और नागेश ने अर्थ की स्वरूप-व्याख्या कुछ दूसरे शब्दों में की है । उन्होंने लिखा है कि शब्द जिस अर्थ बोधन के लिए प्रयोग को प्राप्त होता है वही अर्थ उस शब्द का अर्थ होता है । ५।१।१४ ।

इसी प्रकार और अनेक आचार्यों ने अर्थ के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध—शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है । पतंजलि ने लिखा है—“नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभि सम्बन्धः” । महाकवि कालिदास ने इस नित्य सम्बन्ध की अभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढंग से की है ।

वागर्थविध सम्पूवतो वागर्थप्रतिपत्तये ।

जगतः पितरो बन्धे पार्श्वतीपरमेदवरो ॥

इसी भाव का प्रतिध्वनन तुलसी ने भी किया है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।

शब्दार्थ के सम्बन्ध में तीन मत :—

१. उत्पत्तिवाद—इस मत वालों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शब्द अर्थ से उत्पन्न होता है ।

२. व्यक्तिवाद—इस मत वालों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शब्द अर्थ की व्यंजना करता है ।

३. ज्ञातिवाद—इस मत के अनुसार शब्द अर्थ का ज्ञान कराता है । इसलिए इसे ज्ञातिवाद कहते हैं ।

यह विषय बड़ा जटिल है । यहाँ केवल थोड़ा सा संकेत भर किया है ।

अर्थों के विविध प्रकार—अर्थों के विविध रूप और प्रकारों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है । सौर देव नामक आचार्य ने स्थूल रूप से तीन प्रकार के अर्थ बताए हैं—

१. लौकिक—अर्थात् वह अर्थ जो शब्द में न रहकर लोक की प्रवृत्ति निमित्त में रहता है ।

२. अन्वय व्यतिरेक समधिगम्य—इस कोटि के अर्थ में प्रकृति और प्रत्यय का पृथक्-पृथक् अर्थ निश्चित करके अन्वय व्यतिरेक से अर्थ निश्चित किया जाता है ।

३. प्रतिज्ञापित अर्थ—प्राचीन आचार्यों ने कुछ विशिष्ट शब्दों को कुछ अर्थों में प्रयुक्त किया था । उनके द्वारा निर्धारित वे अर्थ प्रतिज्ञापित अर्थ हैं ।

आचार्य पुष्पराम द्वारा दिए गए १८ प्रकार के अर्थ—पुष्पराम ने अठारह

प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है। उनके नाम हैं—वस्तु-मात्र, अभिधेय, शास्त्रीय, लौकिक, विशिष्टावग्रह सम्प्रत्यय हेतु, विशिष्टावग्रह सम्प्रत्यय के हेतु के विपरीत, मुख्य, परिकल्पित, रूप, विपर्यय, व्यपदेश्य, अव्यपदेश्य, सत्त्व, भावापन्न, असत्त्वभूत, स्थिर लक्षण, विपक्षा प्रापित सन्निधान, अभिधीयमान, प्रतीयमान, अभिसंहित, और नान्तरीयक। इनकी विस्तृत व्याख्या के लिए व्याकरण-दर्शन के ग्रन्थ देखिये।

आलंकारिकों द्वारा दिए गए तीन प्रकार के अर्थ—आलंकारिकों ने अर्थ के केवल तीन प्रकार माने हैं: वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। यहाँ पर हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

शब्द शक्तियाँ—वैयाकरणों के अनुसार जिस शक्ति या व्यापार द्वारा किसी शब्द के अर्थ का बोध होता है, वह शक्ति कहलाती है। 'शब्दार्थसम्बन्धः शक्तिः' अर्थात् बोधक शब्दों और बोध पदार्थ या अर्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं। अर्थ तीन कोटि के होते हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक। रीतिकालीन आचार्यों ने इन शक्तियों का निरूपण किया है। कुछ आचार्यों के द्वारा दी गई परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

सोमनाथ ने शब्द शक्तियों का निरूपण इस प्रकार किया है—

सुनिये श्रवणनि शब्द सयानौ ।

समुझे चित अर्थ वा जानौ ॥

वरन शब्द है तोनि विधि वाचक प्रथम अनूप ।

लक्षण अर व्यञ्जक बहुरि, त्रिविध अर्थ को रूप ॥

वाच्य अरथ लक्ष्यार्थ पुनि व्यङ्गारथ अभिराम ।

बिना शब्द को अर्थ को तात परम सुख धाम ॥

—(भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा से उद्धृत)

भिल्लारीदास ने अपने काव्य-निर्णय में तीनों का वर्णन इस प्रकार किया है—

पदवाचक अर लाक्षणिक व्यञ्जक तीन विधान ।

ताते वाचक भेद को, पहिले करौ बलान ॥

आचार्य प्रताप साहि जी ने भी तीन वृत्तियों की ही चर्चा की है—

“वाचक लक्षक व्यञ्जकौ कवित वृत्ति ये तीन ।”

इस प्रकार शब्द की तीन कोटियाँ—वाचक, लक्षक और व्यञ्जक; अर्थ के तीन प्रकार—अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ; तथा इन अर्थों की विधात्री तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—संस्कृत तथा हिन्दी के आचार्यों द्वारा विविध प्रकार से निरूपित की गई हैं।

अभिधा शक्ति—जब शब्द अपने साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराता है तब उस अर्थ की प्रतीति अभिधा व्यापार से मानी जाती है और उस शब्द को वाचक तथा अर्थ को वाच्य कहते हैं। इस सम्बन्ध में महाकवि देव-कृत परिभाषा द्रष्टव्य है—

शब्द वचन से अर्थ कहि चढे सामुहे चित्त ।
ते दोउ वाचक वाच्य हैं अभिधा वृत्ति निमित्त ॥

इसी प्रसंग में आचार्य सोमनाथ की परिभाषा भी दृष्टव्य है। उन्होंने वाचक शब्द, वाच्यार्थ और अभिधा शक्ति तीनों के स्वरूप का निरूपण किया है—

बिनु सहाय अरथहि कहै सो वाचक सुख कंब ॥
चित्त वाच्य अरथहि लहै जातै अभिधा होय ।
मुख्य अर्थ सब्यार्थ पुनि याहि कहत सब कोय ॥
या अक्षर को यह अरथ ठीकहि ये ठहराय ।
जानि परं जातै सु वह अभिधा वृत्ति कहाय ॥
यही रीति सामर्थ्य अरु यही शक्ति व्योपार ।
याही को व्योहार कहि बरनत बुद्धि उदार ॥

—(भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा से उद्धृत)

संकेत का आधार—संकेत के आधार के सम्बन्ध में स्थूल रूप से दो मत हैं—पहला ईश्वरेच्छा वाला मत तथा दूसरा सामाजिक चेतना वाला मत। पहला मत आस्तिकों का है और दूसरा नास्तिकों का। पहले मत वालों का कहना है—“इस शब्द का यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए” यह ईश्वरेच्छा से ग्रहण होता है। दूसरे मत वालों का कहना है कि शब्द के अर्थ का संयोजन लोकेच्छा करती है, ईश्वरेच्छा नहीं। लोकेच्छा के अनुरूप ही शब्दों का अर्थ लगता है और उसके परिवर्तन से वह परिवर्तित भी होता है।

संकेत-ग्रहण की समस्या—शब्द का संकेत जाति में होता है या व्यक्ति में या किसी अन्य में। इस सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। नव्य नैयायिक केवल व्यक्ति में संकेत स्वीकार करते हैं। किन्तु आनन्त्य और व्यभिचार दोष के कारण यह मत मान्य नहीं हो सका। नैयायिकों ने जाति-विशिष्ट-व्यक्ति में संकेत-बोध स्वीकार किया। मीमांसकों को यह मत भी मान्य नहीं हुआ। उन्होंने जाति में संकेत ग्रह को सिद्ध करने की चेष्टा की। उन्होंने यह मिद्ध किया कि शब्द से केवल जाति का ही बोध होता है। व्यक्ति का अर्थ तो आक्षिप्त भर कर लिया जाता है। व्याकरणों ने अपना नया मत प्रतिपादित किया। उन्होंने अनेक तर्कों के साथ सिद्ध कर दिया है कि संकेत उपाधि में अर्थात् जाति, गुण, क्रिया और यदुच्छा, इन चारों में सम्मिलित रूप से होता है। इन सब मतों के विस्तृत अध्ययन के लिए मम्मट का काव्य-प्रकाश देखा जा सकता है।

वाचक शब्दों के तीन प्रकार—अभिधा द्वारा जिन शब्दों से अर्थ का सम्बन्ध ज्ञात होता है वे शब्द तीन प्रकार के होते हैं—

१. रूढ़ शब्द ।
२. यौगिक शब्द ।
३. यौग रूढ़ शब्द ।

रूढ़ शब्द—रूढ़ शब्द वे हैं जिनसे पूरे शब्द से केवल एक ही अर्थ का बोध होता है। इन शब्दों के यदि अवयव किए जाएँ तो उनका कोई अर्थ नहीं होता, जैसे घोड़ा। अतः शब्द व्युत्पत्तिरहित और अभेद्य होते हैं—“व्युत्पत्तिरहिताः शब्दाः रूढ़ाः अखण्डलक्ष्याः”। इनमें प्रकृति और प्रत्यय की भी आवश्यकता नहीं रहती—

प्रकृतिप्रत्ययार्थमनपेक्ष्यशब्दबोधजनकः शब्दः रूढ़ः । —(शब्दकल्पद्रुम)

यौगिक शब्द—यौगिक शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय (अवयव) की सहायता से अर्थ बोध होता है, जैसे दिवाकर। इस शब्द में दिवा और कर दो अवयव हैं। दिवा अर्थात् दिन। सूर्य में दिवाकरण की शक्ति है। अतः उसके लिए दिवाकर शब्द स्थिर हो गया। इसी प्रकार हिमांशु, जलधर आदि शब्द बने हैं।

योगरूढ़—यौगिक शब्दों के समान योगरूढ़ शब्दों में भी अवयवों के मिश्रण से अर्थबोध होता है। किन्तु यह शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ़ शब्दों के समान एक ही विशिष्ट अर्थ के वाचक होते हैं, जैसे वारिज अर्थात् जल में उत्पन्न होने वाला। अतः वारिज शब्द जल में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। किन्तु इसके स्थान पर वह केवल कमल का ही वाचक है।

अभिधमूलक इन तीनों प्रकार के शब्दों से युक्त यह पद्य दृष्टव्य है—

नूपुर सिंजित चारु अरुन चरन अंबुज सरिस।

भुज मृनाल अनुहार बदन सुधाकर सम रुचिर ॥

इसमें “नूपुर” शब्द रूढ़ है। “सुधाकर” यौगिक शब्द है, और “अंबुज” योगरूढ़ शब्द है।

लक्षणा शक्ति—‘काव्य प्रकाश’ में लक्षणा शक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

“मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।” २।६

अर्थात् मुख्यार्थ सिद्धि में बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर अभिधेयार्थ से सम्बन्धित दूसरे अर्थ को व्यक्त करने वाली शक्ति ‘लक्षणा शक्ति’ कहलाती है।

आचार्य भिखारीदास ने लक्षणा की परिभाषा इस प्रकार दी है—

मुख्य अर्थ के बाध तें, सब लच्छनिक होत ।

रूढ़ि औ’ प्रयोजनवती, हूँ लच्छना उबोत ॥

इस परिभाषा में कोई नवीनता नहीं दिखलाई देती। इसे हम आचार्य मम्मट की परिभाषा का छायानुवाद मात्र कहेंगे। आचार्य सोमनाथ ने लक्षक शब्द, लक्षार्थ और लक्षणा शक्ति, तीनों के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं—

मुख्य अर्थ नहिं बन सकै तब समीप तें लेव ।

अक्षर शब्द सु जानिये पढ़त महा सुख देय ॥

मुख्यारथ परिहरि लख्यो और जु अर्थ अतूप ।
 निपट हरषि परगट कियो यह लक्ष्यारथ रूप ॥
 मुख्यारथ को छोड़ि के पुनि तिहि के ढिग और ।
 कहै जु अर्थ सुलक्षणा वृत्ति कहत कवि और ॥

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लक्षणा के तीन प्रमुख लक्षण हैं। मुख्यार्थ का बाधित होना, मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सम्बन्ध होना और रूढ़ि अथवा प्रयोजन के द्वारा दूसरे अर्थ का बोध होना। मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध तो अनेक प्रकार के होते हैं, पर रूढ़ि और प्रयोजन के अनुसार लक्षणा के दो भेद हैं—

१. रूढ़ि लक्षणा ।

२. प्रयोजनवती लक्षणा ।

रूढ़ि लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ के बाधित होने पर शब्द के रूढ़िगत अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्यार्थ का बोध होता है, वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है। संस्कृत में इसका प्रसिद्ध उदाहरण “कर्मणि कुशलः” है। कुशल का मुख्य अर्थ ‘कुश को लाने वाला’ है। किन्तु यह अर्थ संगत नहीं है। अतः लक्षणा से कुशल का अर्थ ‘चतुर’ लिया जाता है। यह अर्थ रूढ़ि से हो गया है। अतः यहाँ रूढ़ि लक्षणा है।

प्रयोजनवती लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ के बाधित होने पर किसी प्रयोजन के लिए कोई लाक्षणिक अर्थ लिया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है—“गंगायां घोषः”। ‘गंगायां’ का मुख्यार्थ है, ‘गंगा के प्रवाह में’। यह अर्थ यहाँ संगत नहीं है। अतः यहाँ लक्षणा से ‘गंगा तट पर’ अर्थ लिया गया है। यह लक्ष्यार्थ शैत्य और पावनत्व की व्यंजना के प्रयोजन से लिया गया है। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है। हिन्दी में इसका उदाहरण है—

फटा हुआ था नील वसन क्या,
 ओ यौवन की मतवाली ।
 देख अकिंचन जगत लूटता,
 तेरी छवि भोली भाली ॥

यहाँ पर नील-वसन में प्रयोजनवती लक्षणा है। नायिका के अभिसारिका-भेद की व्यंजना के लिए, नील-वसन का प्रयोग करके उसके मनः पटल की खिन्नता प्रकट की गई है। क्योंकि नायिका रात्रि है। रात्रि के प्रसंग में नील-वसन का अभिधेयार्थ ग्राह्य नहीं हो सकता। इसलिए नील-वसन का लक्ष्यार्थ आकाश लिया गया है। चूँकि यहाँ पर नीलाभिसारिका रूपी व्यंग्यार्थ के प्रयोजन से लक्ष्यार्थ ग्रहण किये गये हैं। इसलिए यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है।

आचार्य मम्मट ने इस प्रयोजनवती लक्षणा के ६ भेद बतलाये हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—१. गौणी सारोपा, २. गौणी साध्यवसाना, ३. शुद्धा उपादान

लक्षणा, ४. शुद्धा लक्षण लक्षणा, ५. शुद्धा सारोपा, ६. शुद्धा साध्यवसाना ।

इन लक्षणाओं के स्पष्टीकरण से पहले हम गौणी और शुद्धा के भेद को स्पष्ट कर देना चाहते हैं ।

गौणी लक्षणा—विद्याधर की एकावली टीका में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

“गुणतः सादृश्यमस्याः प्रवृत्तिनिमित्त”

अर्थात् जहाँ उपमान उपमेय में गुण सादृश्य के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ गौणी प्रयोजनवती लक्षणा होती है ।

आरोप भेद से गौणी दो प्रकार की होती है १. सारोपा, २. साध्यवसाना । यहाँ पर हम इन दोनों के भेद को क्रमशः स्पष्ट कर रहे हैं ।

गौणी सारोपा—जब उपमेय पर उपमान का सदृश-गुण के कारण इस प्रकार आरोप किया जाये कि दोनों का भेद बना रहे तब उस आरोप से लक्षित होने वाले अर्थ को गौणी सारोपाजनित लक्ष्यार्थ कहते हैं । जैसे मुख चन्द्र है । यहाँ पर सौन्दर्य गुण का लक्ष्यार्थ आरोप द्वारा किया गया है । इसका परम्परागत उदाहरण है—“गोवाहीक” अर्थात् वह वाहीक जाति का मनुष्य बल है । हिन्दी में इसके उदाहरण के रूप में कामायनी की निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

“उमड़ रहा था देव सुखों पर

दुःख जलधि का नाद अपार ।”

यहाँ पर ‘दुःख जलधि का नाद’ में गौणी सारोपा लक्षणा है । यहाँ पर दुःख पर जलधि के नाद का आरोप किया गया है । इस आरोप का कारण दोनों की कटुता का सदृश गुण है । इसलिए यहाँ पर गौणी सारोपा लक्षणा है ।

गौणी साध्यवसाना—जब उपमान उपमेय पर इस प्रकार आरोपित किया जाय कि एक-दूसरे को निगलित कर ले या एक का दूसरे में अभ्यवसान हो जाय, तो इस आरोप से लक्षित अर्थ को गौणी साध्यवसानाजनित मानते हैं । जैसे—“घर में चाँद को देख कर किसका हृदय भ्रानन्द से नाच नहीं उठता ।” यहाँ पर चाँद पत्नी के लिये प्रयुक्त किया गया है । इसका परम्परागत उदाहरण है—“गौरयम्” अर्थात् वह मनुष्य बल है । तुलसी से इसका उदाहरण निम्न प्रकार दे सकते हैं—

राम सीय सिर सँदुर बेहीं । सो उपमा कवि केहि बिधि कहहीं ॥

अरुण पराग जलज भरि नीके । ससिहि भूषि अहि लोभ अमी के ॥

यहाँ पर अरुण पराग का सिन्दूर पर, जलज का हाथ पर, और शशि का मुख पर तथा अश्वरामूत पर अमृत का पूर्ण अभ्यवसान हो गया है । यह आरोप अभ्यवसानाभूलक गुणगत होने के कारण साध्यवसाना गौणी लक्षणा का उदाहरण बन गया है । कामायनी से इसका उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

इन्द्रनीलमणि महा चषक था, सोम रहित उलटा लटका ।

आज पवन मृदु साँस ले रहा, जैसे बीत गया खटका ॥

यहाँ पर इन्द्रनीलमणि महाचषक में साध्यवसाना गौणी लक्षणा है, क्योंकि इसका लाक्षणिक अर्थ आकाश है जो साध्यवसानमूलक गणगत आरोप के कारण लिया गया है ।

शुद्धा लक्षणा और उसके भेद—शुद्धा लक्षणा के आचार्यों ने चार भेद किए हैं । वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

शुद्धा लक्षण लक्षणा—शुद्धा लक्षण लक्षणा उसे कहते हैं, जिसमें कोई शब्द अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने को समर्पण कर दे । जैसे परम्परागत उदाहरण “गंगायां घोषः” में गंगा तट अर्थ के लिए ‘गंगायां’ अर्थात् ‘गंगा के प्रवाह में’ अर्थ का समर्पण किया गया है । गुण-सादृश्य के कारण लक्ष्यार्थ के ग्रहण किए जाने के कारण यह शुद्धा लक्षण लक्षणा कहलाती है । यह प्रयोजनवती का ही एक भेद है । कामायनी से निम्नलिखित उदाहरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है—

जब कामना सिन्धु तट आई, ले सन्ध्या का तारा दीप ।

फाड़ सुनहली साड़ी उसकी, तू हँसती क्यों और प्रतीप ॥

यहाँ पर सुनहली साड़ी का लक्ष्यार्थ है मधुर भावनाओं की शृंखला । यह लक्ष्यार्थ सुनहली साड़ी के लक्षण पर ग्रहण किया गया है । कामना के प्रसंग में सुनहली साड़ी का अभिधेयार्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता । इसीलिए यहाँ पर मधुर भावनाओं की शृंखला या आशा का लाक्षणिक अर्थ ग्रहण किया गया है ।

शुद्धा उपादान लक्षणा—शुद्धा उपादान लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ लक्ष्यार्थ की प्राप्ति के लिए किसी अन्य शब्दार्थ का आक्षेप किया जाता है, जैसे—झोंपड़ी के आगे महल को झुकना पड़ा । यहाँ पर झोंपड़ी में रहने वाले और महल में रहने वाले मनुष्यों का उपादान करना पड़ा है । इसीलिए शुद्धा उपादान लक्षणा है । इसका परम्परागत उदाहरण है—‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ अर्थात् भाले लिये हुए मनुष्य आ रहे हैं । यहाँ पर मनुष्य का उपादान किया गया है । इसका उदाहरण जायसी से इस प्रकार दिया जा सकता है—

तिरिया भूमि खड्ग कँ चैरी । जीति जो खड्ग होई तेहि केरि ॥

यहाँ पर खड्ग में उपादान लक्षणा है । खड्ग का अर्थ यहाँ पर खड्गधारी पुरुष से है । कामायनी से इसका उदाहरण इस प्रकार दे सकते हैं—

व्यक्त नील में चल प्रकाश का, कम्पन सुख बन बजता था ।

एक अतीन्द्रिय स्वप्न लोक का, मधुर रहस्य उसभूता था ॥

यहाँ पर नील से नीले आकाश का बोध होता है । यह अर्थ आकाश का उपादान करके किया गया है । इसीलिए यहाँ पर उपादान लक्षणा है ।

शुद्धा सारोपा—जहाँ पर विषय (जो आरोपित किया जाता है), विषयी (जिस पर आरोप किया जाता है) दोनों रहें, और वे एक ही आधार वाले कह कर

निर्दिष्ट किए जाये, और दोनों में सदृश सम्बन्ध न हो, अन्य कोई सम्बन्ध हो, जैसे 'अंगी', 'कार्य-कारण', आदि तब वहाँ पर शुद्ध सारोपा लक्षणा होती है। जैसे—'भारत का भाग्य जवाहर है'। यहाँ पर जवाहर को भारत का भाग्य बताया गया है। अर्थात् जवाहर में भारत के भाग्य का आरोप किया गया है और आरोप्यमाण 'जवाहर' और आरोप्य विषय 'भारत का भाग्य' दोनों प्रकट हैं। इसका परम्परागत उदाहरण है—'आयु ही घृत है।' कामायनी से इसका उदाहरण इस प्रकार ले सकते हैं—

सजग हुई फिर से गुर-संस्कृति, देव यजन की वर माया ।

उन पर लगी डालने अपनी, कर्ममय शीतल छाया ॥

इसमें गुर-संस्कृति पर देव यजन की वर माया का आरोप किया गया है। यहाँ पर जन्य-जनक सम्बन्ध होने के कारण शुद्ध सारोपा लक्षणा मानी जायेगी।

शुद्ध साध्यवसाना—जब विषयी में विषय ऐसा लीन हो जाये कि दोनों में भेद की प्रतीति ही न हो, और दोनों में सदृश सम्बन्ध न हो सके, कोई अन्य सम्बन्ध हो, तब वहाँ शुद्ध साध्यवसाना लक्षणा होती है, जैसे—किसी अच्छे अध्यापक की प्राप्ति पर कोई छात्र कहे—'इस वर्ष हमें वरदान मिल गया है।' यहाँ वरदान का प्रयोग अध्यापक के लिए किया गया है। इसका परम्परागत उदाहरण है—यह (घृत) आयु है। इसके उदाहरण में हम कामायनी का निम्नलिखित उदाहरण दे सकते हैं—

मधुर विश्रान्त और एकान्त, जगत का सुलभा हुआ पक्ष्य ।

एक करुणामय सुन्दर मौन, और चंचल मन का आलस्य ॥

यहाँ पर मनु के लिए ही उपयुक्त आरोप लाये गये हैं। मनु का कथन न होने के कारण ये आरोप अध्यवसानमूलक हो गये हैं। इसीलिए यहाँ पर शुद्ध साध्यवसाना लक्षणा मानी जायेगी।

इस प्रकार सब मिला कर लक्षणा के छः भेद हुए। दो गौणी के—गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना और चार शुद्ध के—शुद्ध लक्षण लक्षणा, शुद्ध सारोपा, शुद्ध साध्यवसाना, तथा शुद्ध उपादान लक्षणा। आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट लक्षणा के उपयुक्त ६ भेद आचार्यों में मान्य हैं। केवल विश्वनाथ ने ६ के स्थान पर १६ भेदों की चर्चा की है 'तेन षोडश भेदिता'। ह्री, ह्रन्के नाम आदि के सम्बन्ध में बहुत विवाद है। किन्तु मैंने सर्वाधिक मान्य मत को ही प्रथम दिया है।

लक्षणा के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मत—लक्षणा के भेदों का निरूपण बड़ा जटिल विषय है। उसके भेदों और उसके उदाहरणों के सम्बन्ध में आचार्यों में बड़ा मतभेद है। वृत्ति वार्तिककार ने प्रयोजनवती लक्षणा के ७ भेद माने हैं। उनके नाम हैं—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना, शुद्धा एवं गौणी। यह भेद आजकल अध्यापकवृत्ति से समझे जाते हैं। अतः इनकी विवेचना नहीं की जा रही है।

आचार्य विश्वनाथ ने लक्षणा के ८० भेद माने हैं । यह भेदीकरण विद्वानों को व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता । अतः आचार्य मम्मट का ६ लक्षणा वाला मत ही मान्य है ।

लक्षणा-विरोधी आचार्य—बहुत से आचार्य अभिधा के अतिरिक्त शब्द की लक्षणा नामक कोई दूसरी शक्ति स्वीकार ही नहीं करते । इन आचार्यों में मुकुल भट्ट, महिम भट्ट, और कुन्तक के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

मुकुल भट्ट का मत—इन्होंने अपने ग्रन्थ 'अभिधा वृत्ति मात्रिका' में लक्षणा को अभिधा का ही अंग माना है । इन्होंने अभिधा के दस भेद बताए हैं और इन्हीं के अन्दर लक्षणा और उसके भेदों को समेटने का प्रयास किया है । इन्होंने अभिधा के भेद रूप लक्षणा में ही ध्वनि का भी अन्तर्भाव कर दिया है ।

महिम भट्ट का मत—यह भी केवल अभिधा वृत्ति में ही विश्वास करते हैं । ये लक्षणा और व्यंजना को शब्द की नई शक्तियाँ नहीं मानते । इन्होंने लक्ष्यार्थ को अनुमान का विषय सिद्ध किया है । वाच्यार्थ को ये उस अनुमान का हेतु कहते हैं । यही इनकी अपनी मौलिकता है ।

कुन्तक—वक्रोक्तिवादी आचार्य भी सम्भवतः लक्षणा के विरोधी थे । उन्होंने वक्रोक्ति को भी, जो कभी लक्षणा और कभी व्यंजना होती है, विचित्रा अभिधा कह कर लक्ष्यार्थ और ध्वन्यार्थ की समस्या ही समाप्त कर दी है ।

इस प्रकार साहित्य में लक्षणा विरोधियों की भी कमी नहीं है ।

व्यंजना-शक्ति—शब्द-शक्तियों में व्यंजना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है । संस्कृत काव्य शास्त्र में इस शक्ति की बड़ी विशद व्याख्या की गई है । यूँ तो इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास अनेक संस्कृताचार्यों ने किया है किन्तु आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा बहुत प्रौढ़ और प्रभावपूर्ण है । वह इस प्रकार है—

विरितास्वभिधाद्यास्तु ययार्थोबोध्यते परः ।

सा वृत्ति व्यंजना नाम.....॥

अर्थात् जहाँ पर अभिधा तथा लक्षणा के कार्य करके विरत हो जाने पर भी एक जिस अन्य पदार्थ का बोध होता है, उसका बोध कराने वाली वृत्ति को व्यंजना का नाम दिया गया है । इस अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ से भी विलक्षण तृतीय व्यंग्यार्थ का बोध प्रकरण-भेद से होता है । इसीलिए वक्तृबोद्धव्य वशिष्ट्य व्यंग्यार्थ प्रतीति का प्रमुख साधन है । व्यंजना-व्यंजक और व्यंग्यार्थ का स्वरूप-विचार रीतिकालीन आचार्य सोमनाथ के शब्दों में इस प्रकार द्रष्टव्य है—

अधिक कहे कहि अर्थ कों व्यंजक शब्द सु जानि ॥

समुझि लोजिये अर्थ पुनि और चीजह होय ।

रसिकन कौ सुखदानि अतिव्यंग्य कहावत सोय ॥

कहे व्यंग्य सो व्यंजना वृत्ति बढ़ावे फूल ।

—(पृष्ठ तरंग, छन्द ३७, ३८)

प्राचार्य भिखारीदास ने भी व्यञ्जना की स्वरूप-व्याख्या इस प्रकार की है—
 व्यञ्जना व्यञ्जक जुगम पद, व्यङ्ग्य तासु जो अर्थ ।
 ताहि बुझैवे की सकति, है व्यञ्जना समर्थ ॥
 सूधो अर्थ जु बचन की, तेहि तखि ओरें बैन ।
 समुझि परं तेहि कहत है, सकति व्यञ्जना ऐन ॥

—(काव्य-निर्णय, द्वितीय प्रकरण, छन्द ६,) २२, ४२, ४३

प्राचार्यों ने व्यञ्जना के प्रमुख रूप से दो भेद किये हैं—१. शाब्दी और २. आर्थी ।

शाब्दी व्यञ्जना—इसकी परिभाषा देते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—
 अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते
 एकत्रार्थे न्यधीहेतुव्यञ्जना साभिधाभ्रया ॥

—(साहित्यदर्पण, परिच्छेद २, पृष्ठ ७५)

अर्थात् अनेकार्थवाची शब्द के अर्थ-विशेष में नियन्त्रित होते हुए भी जब उससे अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति भी हो जाती है, तब उस अर्थ-प्रतीति को शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं । यह शाब्दी व्यञ्जना दो प्रकार की होती है—

१. अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना, २. लक्षणमूला शाब्दी व्यञ्जना ।

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना—प्राचार्य मम्मट ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगाद्यं वाच्यार्थधीकृद्वापृतिरञ्जनम् ॥

२।१६

जब अनेकार्थ शब्दों के किसी एक अर्थ का आधान क्रमशः संयोग, वियोग, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति स्वर आदि के अनुसार किया जाता है, तब उस अर्थ-विशेष का आधान करने वाली शक्ति को अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं । जैसे—

चिरजीवो जोरी जुरं क्यों न सनेह गम्भीर ।

को घटि ! ए वृषभानुजा वे हलधर के वीर ॥

यहाँ पर 'वृषभानुजा' और 'हलधर' में अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना है क्योंकि इनका व्यंग्यार्थ है कि वे वृषभ अर्थात् बैल की बहिन और वह हलधर अर्थात् बैल के भाई हैं । जोड़ी बड़ी उपयुक्त है ।

२. लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना—जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ के कारण होती है वहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना मानी जाती है । जैसे—'गंगायां घोषः' गंगा में घोष की बस्ती । इस प्रसिद्ध उदाहरण में 'गंगा तट' इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति शैत्य और पावनत्व के कारण होती है । इनका बोध जिस शक्ति से होता है उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं ।

पार्थी व्यञ्जना—व्यञ्जना का दूसरा प्रसिद्ध भेद पार्थी व्यञ्जना का है । कुछ

आचार्य तो शाब्दी व्यञ्जना वाला भेद स्वीकार न कर व्यञ्जना को सदैव आर्थी ही मानते हैं। किन्तु यह मत बहुत मान्य नहीं समझा जाता। आजकल जो मत प्रतिष्ठित है उसके अनुसार व्यञ्जकत्व शब्द और अर्थ दोनों में होता है। शाब्दी और आर्थी का अन्तर केवल प्राधान्य की दृष्टि से किया जाता है। शाब्दी में व्यञ्जकता अर्थ की अपेक्षा शब्द में अधिक रहती है और आर्थी में वह अर्थगत अधिक होती है। वह वक्तृवैशिष्ट्य, बोद्धव्यवैशिष्ट्य काकु, वाक्य वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, अन्यविध भेद से दस प्रकार की होती है। चूँकि व्यञ्जकता सभी अर्थों में होती है, इस आधार पर आर्थी व्यञ्जना के तीन प्रमुख भेद किए गए हैं—

१. वाच्य सम्भवा, २. लक्ष्य सम्भवा, ३. व्यंग्य सम्भवा।

१. **वाच्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना**—जब वाच्यार्थ से किसी अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है, तब वहाँ वाच्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना होती है। इसमें वाच्यार्थ से उत्पन्न होने वाले ऐसे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, जिससे वक्ता का सही भाव प्रकट हो जाय, जैसे—‘संध्या हो गई’ इस वाक्य का मुख्यार्थ हुआ दिन की अन्तिम वेला आ गई। इसका लक्ष्यार्थ हुआ अंधेरा होने लगा। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त वक्ता भेद से इस वाक्य के अनेक अर्थ और हो सकते हैं, जैसे—यदि यह वाक्य किन्हीं सिनेमा-प्रेमी व्यक्तियों द्वारा कहा गया है, तो इसका व्यंग्यार्थ होगा—‘अब सिनेमा चलना चाहिए।’ यदि वह किसी चोर द्वारा कहा गया है, तो इसका व्यंग्यार्थ होगा—‘चोरी करने चले, समय हो गया।’ इत्यादि इत्यादि।

लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना—जब लक्ष्यार्थ में व्यञ्जना की प्रतीति होती है, तब उसे लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना कहते हैं, जैसे किसी मूर्ख से कोई कहे—‘आप तो बड़े समझदार हैं।’ यहाँ ‘समझदार’ से मूर्ख भाव की व्यञ्जना लक्ष्यार्थ सम्भवा हुई।

व्यंग्यार्थ सम्भवा आर्थी व्यञ्जना—जहाँ एक व्यंग्यार्थ के बोध के लिए दूसरे व्यंग्यार्थ का आश्रय लिया जाता है, वहाँ यह व्यञ्जना होती है। जैसे—दोपहरिया खिल उठी। यहाँ पर दोपहरिया फूल के खिलने से दोपहर में काम करने का संकेत है।

व्यंग्यार्थ के तीन प्रकार—व्यंग्यार्थ तीन प्रकार का बताया गया है—वस्तु रूप, अलंकार रूप और रस रूप।

वस्तु व्यञ्जना—जहाँ वस्तु मात्र की व्यञ्जना प्रधान होती है, वहाँ वस्तु व्यञ्जना की अवस्थिति मानी जाती है, जैसे—

उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी सी उदित हुई।

उधर पराजित काल रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई॥

यहाँ एक साथ उषा के उदय और कालरात्रि का अस्त रूप दो वस्तुओं की व्यञ्जना है। दूसरी ओर आशा सगं की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति चित्रण की भूमिका व्यञ्जित की गई है।

अलंकार व्यञ्जना—जिस व्यञ्जना में अलंकार की प्रधानता होगी, उसे अलंकार व्यञ्जना कहा जायेगा। जैसे—

उठे स्वस्थ मनु उषों उठता है, क्षितिज बीच अरुणोदय कान्त ।

लगे देखने लुब्ध नयन से, प्रकृति विभूति मनोहर शान्त ॥

यहाँ पर उत्प्रेक्षा वाच्य है । यही उत्प्रेक्षा मुख नायक के आरोप की व्यञ्जना भी प्रकट करती है । इसीलिए यहाँ अलंकार व्यञ्जना मानी गई है ।

रस व्यञ्जना—जहाँ पर व्यंग्य रस या भाव होता है, वहाँ रस व्यञ्जना मानी जाती है । जैसे—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, खिलत, मिलत, लजियात ।

भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात ।

यहाँ पर संयोग शृङ्गार व्यंग्य है ।

यहाँ पर व्यञ्जना के केवल स्थूल भेदों का वर्णन किया गया है । आचार्यों ने व्यञ्जना के सूक्ष्म भेदों की बड़े विस्तार से चर्चा की है जिनका विवेचन करना यहाँ पर अनावश्यक सा है ।

भावपक्ष और कलापक्ष

काव्य में दोनों का नित्य सम्बन्ध—भावों की कलामयी संसृष्टि का नाम ही—साहित्य या काव्य है । दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि काव्य में भाव और कला इन दोनों पक्षों की सुषमामयी समन्विति रहती है । उसमें वे एक-दूसरे से नित्य भाव से सम्बन्धित रहते हैं । इस पारस्परिक सम्बन्ध के विच्छिन्न होते ही काव्य अपने काव्यत्व पद से च्युत हो जाता है ।

दार्शनिक दृष्टिकोण—वैयाकरण दर्शन में कला और भाव पक्षों को ही क्रमशः शब्द और अर्थ की संज्ञा दी गई है । शब्द कलापक्ष का प्रतीक है । यह बात वाक्यपदीय के निम्नलिखित श्लोक से प्रगट है—

“सा सर्वविद्या शिल्पानां कलानां चोपनिबन्धनी ।

तदवशाद्भिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ॥”—(वाक्यपदीय १)

अर्थात् संसार की समस्त विद्या शब्दोद्भवा है । समस्त शिल्प शास्त्र शब्दों का ही चमत्कार है । समस्त कलाएँ भी शब्द का परिणाम हैं । शब्द ही एक ऐसी महती शक्ति है जिसके सहारे संसार की समस्त वस्तुओं का विवेचन और विभाजन होता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ध्वनित है कि शब्द कला का प्रतीक है । इसी प्रकार अर्थ शब्द भाव पक्ष का प्रतीक है । पतंजलि ने अर्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है—

“सर्वभाषाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां । भावः”—(महा० ५।१।११६)

अर्थात् शब्द जिस अपने अर्थ के कारण उत्पन्न होता है उसके उस अर्थ को अर्थ कहते हैं । इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अर्थ तत्त्व भाव का प्रतीक है ।

भाव और कला के नित्य सम्बन्ध की विवेचना व्याकरण दर्शन में शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध प्रदर्शित करके की गई है । उसकी संक्षिप्त सीमांसा यहाँ कर देना चाहते हैं ।

शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—
 ‘नित्योद्धार्यवतामर्थैरभि सम्बन्धः’ —(महा० प्र० ७)

अर्थात् शब्द का अर्थ से अर्थात् कलापक्ष का भावपक्ष से सम्बन्ध है। नित्यत्व को स्पष्ट करते हुए कैंट ने लिखा है—‘यदि अर्थ को जाति रूप मानते हैं तो उसकी नित्यता स्वयं सिद्ध हो जाती है क्योंकि जाति नित्य है और यदि अर्थ को द्रव्य या व्यक्ति रूप कहते हैं तो उसे प्रवाह रूप में नित्य मानेंगे। इस प्रकार शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य है। जिस प्रकार शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य है उसी प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ के प्रतीक रूप कला और भावपक्ष का सम्बन्ध नित्य है।

साहित्यिक दृष्टि से—साहित्यिक दृष्टि से भी यदि हम विचार करें तो भावपक्ष और कलापक्ष में नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। भावपक्ष को वस्तुपक्ष कहेंगे और कला को अभिव्यञ्जनापक्ष। अभिव्यञ्जना किसी भी वस्तु की सम्भव है। वस्तु के बिना अभिव्यञ्जना किसकी होगी? वस्तुविहीन अभिव्यञ्जना सर्वथा निरर्थक कही जायेगी। अतएव वस्तु रूप भावपक्ष की अभिव्यञ्जना का प्रतीक रूप कला से नित्य सम्बन्ध मानने में कोई अनौचित्य नहीं होगा।

भावपक्ष

भावकोष और उसकी विशेषताएँ—भावपक्ष की विवेचना करते समय सबसे पहले हमें कवि के भाव कोष या हृदय पर विचार करना पड़ेगा। महात्मा तुलसीदास ने “हृदय सिन्धु मति सीप समाना” लिखकर ही कवि के हृदय पक्ष की महत्ता की ओर संकेत किया है। जैसा कवि-हृदय या भाव-कोष होगा वैसे ही कवि के भाव होंगे। भावों की विशिष्टता पर काव्य का काव्यत्व निर्भर रहता है। अतः कवि के हृदय की कुछ अपनी अलग विशेषताएँ होनी चाहिएँ।

१. सहृदय (कला साहित्यादि की अनुभूति-पूर्व जन्म के संस्कारों से युक्त)।
२. सहानुभूतिपूर्ण।
३. कोमल, करुणाद्रं।
४. सतोगुण प्रधान।
५. विचार संयमित।
६. सुन्दर भावों की उद्भावना करने की क्षमता रखने वाला।
७. चमत्कार प्रिय।
८. चेतन और जागरूक।
९. तन्मय होने की क्षमता रखने वाला।
१०. दृष्टि विस्तार सम्पन्न।

यहाँ पर इन सबका हम संक्षिप्त विवेचन कर देना चाहते हैं।

सहृदयता—भावपक्ष के उत्कर्ष के लिए कवि का सहृदय होना बड़ा आवश्यक होता है। सहृदयता एक प्रकृतिदत्त विशेषता है जो सबमें नहीं पाई जाती है। जन्मजन्मान्तर में काव्याभ्यास करते करते कवि इसकी उपलब्धि कर पाता है।

ऐसे ही सहृदय कवि में प्रतिभा का उन्मेष होता है और प्रतिभाशाली कवि ही श्रेष्ठ काव्य का विधाता हो सकता है। ऐसे ही कवि के सम्बन्ध में लिखा है कि यदि कवि सहृदय या रसिक है तो उसकी कविता सारे संसार को रसमय बना देती है और यदि सहृदय नहीं है तो उसकी कविता नीरस होती है।

शृंगारी चेतकविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।

स एव बीतरागश्चेन्नोरसं सर्वमेवतत् ॥

अर्थात् यदि कवि रसिक या सहृदय (शृंगारी) है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है। इसके विपरीत असहृदय कृवि की कविता भी जगत् को शुष्क और नीरस ही बनाए रखती है। सहृदय कवि ही रसात्मक और मार्मिक भावों—चित्रों और प्रसंगों की उद्भावना और योजना में समर्थ होता है। सूर, तुलसी और केशव के अध्ययन से यह बात प्रमाणित होती है। सूर, और तुलसी सहृदय थे और केशव में सहृदयता की मात्रा बहुत ही कम थी।

सहानुभूतिपूर्ण—कवि का सहानुभूतिमय होना बड़ा आवश्यक होता है। जो कवि दूसरे के दुःख में दुःख और सुख में सुख अनुभव करने की क्षमता नहीं रखता वह अपने कवि कर्म में सफल नहीं हो सकता। सहानुभूति और संवेदना की मानवी मनोवृत्ति ही जब जाग्रत होती है तभी काव्योन्मेष होता है। कौच वध वाली लोक-प्रसिद्ध कथा इसका प्रमाण है।

कवि हृदय का कोमल और करुणाद्र' होना—संवेदना की जिस मानवी मनोवृत्ति की चर्चा हमने ऊपर की है उसका मूल रहस्य कवि के हृदय की सुकोमलता और करुणाद्रता में सन्निहित रहता है। सुकोमल-हृदय कवि ही सुकोमल भावनाओं को पहचान सकता है। इसी प्रकार जिस कवि का हृदय करुणा-कलित होता है वही करुण भावनाओं को पहचान सकता है। जिस कवि के हृदय में कोमल भावनाओं को पहचानने की जितनी क्षमता होती है वह कवि उतना ही महान् होता है। इसी लिए महाकवि भवभूति ने करुण को ही रसराज माना है।

सतो गुण प्रधान—कवि-हृदय का सतो गुण प्रधान होना बड़ा आवश्यक होता है। काव्य का प्राण रस होता है और रस का परिपाक सत्वोद्रेक पर ही आश्रित रहता है। जिस कवि में सतो गुण की जितनी अधिक मात्रा होती है वह कवि उतना ही श्रेष्ठ होता है।

विचार संयमन—भावों का सौंदर्य उनकी व्यवस्था और संयमन पर आश्रित रहता है। भावों का यह संयमन विचारों से ही सम्भव होता है। इस बात की विवेचना हम काव्य के बुद्धि तत्त्व के प्रसंग में विस्तार से कर चुके हैं।

सुन्दर भावों की उद्भावना—सहृदय कवि की प्रतिभा उसके भावकोष में सरस और नव-नव भावों को उद्भावित रखने की क्षमता रखती है। ऐसा ही प्रतिभावान कवि सहृदय माना जाता है।

अस्कारप्रियता—साधारण व्यक्ति और सहृदय कवि में यही अन्तर होता

है कि एक की दृष्टि वस्तुओं के आन्तरिक चमत्कार तक नहीं पहुँचती जबकि दूसरे की दृष्टि उसके आन्तरिक चमत्कार का अनुभव करके उद्घाटन भी कर देती है। चमत्कार ही काव्य का प्राण माना जाता है। इसीलिए सहृदय कवि विविध चमत्कारों की खोज और योजना में ही अपने कवि कर्म की इतिश्री समझता है किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि सहृदय कवि जिन चमत्कारों की योजना करता है वे सर्वथा भावमूलक ही होते हैं। ऊहात्मक और बुद्धिमूलक नहीं।

चेतन और जागरूक होना—सहृदय कवि का भावकोष चेतन और जागरूक भी रहता है। उसकी यह चेतनता ही उसे रूढ़ि-विरोध और कवि स्वातन्त्र्य की ओर प्रेरित करती है। ऐसे ही कवि के सम्बन्ध में एक आचार्य ने लिखा है—

“भावानचेतनानपि चेतनवतचेतनान् चेतनवत् ।

व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥”

अर्थात् सुकवि अपने हृदय की जागरूकता के कारण ही काव्य में अचेतन पदार्थों को चेतनरूप और अचेतन को चेतनरूप प्रदान करके उनका उपयोग करता है।

तन्मय होने की क्षमता—सच्चे सहृदय कवि में वस्तुओं के रमणीय रूपों में रचने की अपूर्व क्षमता होती है। उसकी यह तन्मयता ही उसके काव्य की जननी होती है। जिस कवि में लोक के सौन्दर्य में तन्मय होने की जितनी गहरी क्षमता होती है उसका काव्य उतना ही अधिक रमणीय होता है।

दृष्टि विस्तार—दृष्टि विस्तार कवि की सबसे बड़ी विशेषता होती है, जो उसे साधारण व्यक्ति से अलग करती है। साधारण व्यक्ति की दृष्टि वस्तुओं के बाह्य रूपों तक ही सीमित रह जाती है किन्तु कवि की दृष्टि वस्तुओं के द्विधा, त्रिधा और कभी-कभी चतुर्धा रूपों तक को देखती है। एक अंग्रेज कवि ने इस दृष्टि विस्तार का वर्णन करते हुए लिखा है—

“What to others a trifle appears,

Fills me full of smiles or tears,

For double the vision my eye does see,

And a double vision is always with me.”

अर्थात्—“जो साधारण व्यक्तियों के लिए नगण्य वस्तु है, कवि के लिए वही वस्तु बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। वह वस्तु उसे कभी रुलाती है और कभी हँसाती भी है। क्योंकि कवि वस्तुओं के विविध रूपों को देखता है यही उसका दृष्टि विस्तार है।

उदात्त वृत्तियों से युक्त एवं उपयुक्त विशेषताओं से विशिष्ट होकर ही कवि का हृदय भावुक हृदय कहा जायेगा, अन्यथा नहीं।

भावोत्पत्ति प्रक्रिया—भावकोष की व्याख्या करने के पश्चात् आलोचक को भावों की उत्पत्ति प्रक्रिया पर विचार करना होगा। भावों की सम्भूति प्रायः दो कारणों से हुआ करती है—किसी सौन्दर्य से प्रभावित होकर अथवा जीवन और जगत् की किसी वस्तु या घटना की प्रतिक्रिया के रूप में। यदि भाव सौन्दर्यमूलक

है तो कवि का काव्य अधिक तन्मयकारक और प्रभावपूर्ण होगा और यदि वे जीवन और जगत् की प्रतिक्रिया के रूप में जाग्रत हुए हैं तो वे अधिक उत्तेजक होंगे। इसी प्रसंग में भावों के स्वरूप पर भी विचार करना चाहिए। भावों के स्वरूप की व्याख्या पीछे की जा चुकी है। अतः विस्तारभय से हम यहाँ पिष्टपेषण नहीं करना चाहते हैं।

भाव योजना की विधियाँ—भावों की स्वरूप-व्याख्या कर उनके प्रकारों का निरूपण कर उनकी योजना-विधियों पर विचार करना चाहिए। भावों की योजना-विधियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—

१. शुद्ध बौद्धिक, २. काल्पनिक।

भावों का विस्तार और नियोजन करने वाली दो ही शक्तियाँ बुद्धि और कल्पना हैं। अतः भाव पक्ष का उद्घाटन करते समय हम इन दोनों को किसी प्रकार भुला ही नहीं सकते। कल्पना का भावों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह आचार्य शुक्ल ने भी माना है। उन्होंने लिखा है—“किसी भावोद्भूत द्वारा परिवर्तित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक रूप को काँट-छाँटकर प्रस्तुत करने लगती है तब उसे सच्ची कवि कल्पना कहते हैं।” इस प्रकार कल्पना के कार्य और स्वरूप का सम्यक् स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए।

जहाँ तक बुद्धि का सम्बन्ध है, भाव क्षेत्र उसके बिना अव्यवस्थित और अनियन्त्रित हो जावेगा। बुद्धि-तत्त्व का विवेचन करते समय काव्य में बुद्धि के जो कार्य बताए गए हैं, उन सबका निर्देश किया जाना चाहिए।

भाव-व्यंजना—काव्य में भाव-व्यंजना दो रूपों में मिलती है—१. कवि द्वारा, २. पात्रों द्वारा। कवि द्वारा की गई भाव-व्यंजना अधिकतर गीति काव्य में दिखाई पड़ती है। पात्रों द्वारा की गई भाव-व्यंजना प्रबन्ध काव्यों में मिलती है।

१. कवि द्वारा की गई भाव-व्यंजना—कवि द्वारा की गई भाव-व्यंजना में आत्माभिव्यंजन, समाहित प्रभाव, इन दोनों तत्त्वों का होना बड़ा आवश्यक होता है। कवि किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति की प्रतिक्रिया से उद्भूत अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। उसकी इस अभिव्यक्ति में एक प्रभावान्विति और एक समाहित प्रभाव का होना बड़ा आवश्यक होता है। यह समाहित प्रभाव यदि मार्मिक और मधुर हो तो और भी अच्छा है। इसकी प्रतिष्ठा काव्य में तभी होती है जब कवि की कविता में रागात्मक अनुभूतियों की कसावट रहती है। यह अनुभूतियों की कसावट ही श्रोता को भाव-विभोर कर देती है। कवि की अनुभूतियाँ उसे इतना आप्लावित कर देती हैं कि वह उन्हें अपना ही समझकर आनन्दानुभूति करने लगता है।

२. पात्र द्वारा भाव-व्यंजना—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में भाव-व्यंजना के सम्बन्ध में केवल दो बातें विचारणीय बताई हैं—
१. कितने भावों और मानसिक विकारों तक कवि की दृष्टि पहुँची है। २. कोई भाव

कितने उत्कर्ष तक पहुँचा है। (जायसी ग्रन्थ की भूमिका, पृ० ६१) मेरी समझ में भाव-व्यंजना के प्रसंग में उपर्युक्त दो बातों के अतिरिक्त कुछ और बातों पर भी विचार किया जाना चाहिए। उन सबको हम इस प्रकार निदिष्ट कर सकते हैं। १. भावोद्भावनागत मौलिकता, विशालता और गहराई। २. उद्भावित भावों का उत्कर्ष और अपकर्ष। ३. भाव-व्यंजना में चमत्कार की योजना। ४. भावों की मार्मिकता। ५. भावों की प्रेषणीयता। ६. भावों की रसात्मकता और रंजकता।

१. भावोद्भावनागत मौलिकता—प्रत्येक कवि अपने काव्य में कुछ स्थायी भावों को व्यंजित करता है। इन स्थायी भावों से सम्बन्धित और कभी सर्वथा मौलिक सहस्रों सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव होते हैं। जिस कवि की भावोद्भावना शक्ति जितनी प्रबल होती है उसकी दृष्टि उतनी ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों, भावों और मानसिक विकारों के उद्घाटन में समर्थ होती है। साहित्य में सूर का इसीलिए इतना अधिक महत्त्व है क्योंकि वह एक स्थायीभाव से सम्बन्धित इतनी अधिक सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों, मार्मिक भावनाओं और मनोविकारों का उद्घाटन करने में समर्थ हुए हैं जिनका परिगणन न तो कोई आचार्य कर सका है और न आगे ही कर सकेगा।

२. भावों का उत्कर्ष—काव्य के भावपक्ष का महत्त्व भावों के उत्कर्ष और अपकर्ष पर भी आधारित रहता है। सच्चा भावुक कवि जिन भावों की योजना करता है उनको अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा तक पहुँचा देता है। इस दिशा में जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है 'जायसी बहुत बढ़े-चढ़े हैं।' यह उत्कर्ष विप्रलम्भ शृंगार में ही अधिक दिखाई पड़ता है।

३. भाव व्यंजना में चमत्कार—चमत्कार काव्य का प्राण माना गया है। यह बात दूसरी है कि कोई आचार्य उसे रसगत मानता हो और कोई ध्वनिगत और कोई रीतिगत तथा वक्रोक्तिगत और अलंकारगत मानता हो। कुछ लोगों ने औचित्यगत चमत्कार को ही महत्त्व दिया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अधिकारों के विविध भेदों का वर्णन किया है। किन्तु ये चमत्कार जब तक भाव-प्रेरित होते हैं तभी तक ये भावपक्ष के अन्तर्गत माने जायेंगे। ऊहा, कल्पना और बुद्धिप्रेरित हो जाने पर उनकी गणना कलापक्ष के अन्तर्गत की जायेगी।

४. भावों की मार्मिकता—मार्मिकता का अर्थ है चुटीलापन। कवि द्वारा नियोजित भाव जितने अधिक चुटीले होते हैं उतने ही अधिक वे प्रभावपूर्ण और मार्मिक समझे जाते हैं।

५. प्रेषणीयता—यह भी भाव-व्यंजना की सबसे प्रमुख विशेषता है। कवि अपनी भाव-व्यंजना में तभी सफल समझा जाता है जब वह उन भावों को दूसरे के हृदय तक पहुँचाने में समर्थ होता है। ऐसा करते के लिए उसे बहुत-सी शैलीगत विशेषताओं का आश्रय लेना पड़ता है। जैसे—चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता, अलंकार-विधान, प्रतीक-योजना आदि आदि। ये सब विशेषताएँ कलापक्ष के अन्तर्गत निरूपित की जायेंगी।

६. रसात्मकता और रंजकता—भाव व्यंजना तब तक सफल नहीं समझी जानी चाहिए, जब तक श्रोता या पाठक को रसनिमग्न न कर सके। इसीलिए भाव पक्ष का प्राण रस-पक्ष है। रस ध्वनि का एक अंग है। इसीलिए ध्वनि और रसपरिपाक भाव पक्ष के प्रमुख तत्त्व हैं। ध्वनि की विवेचना ध्वनि सम्प्रदाय के प्रसंग में की गई है और रस की मीमांसा रस सम्प्रदाय के प्रसंग में विशद रूप से की गई है। अतएव यहाँ पर अकारण विस्तार नहीं कर रहे हैं।

काव्य का कलापक्ष—भाव-पक्ष यदि काव्य का प्राण है तो कला-पक्ष को उसका शरीर और उस शरीर की साज-सज्जा कहेंगे। जिस प्रकार प्राण की तुलना में शरीर स्थूल और महत्त्वहीन होता है उसी प्रकार भाव-पक्ष की तुलना में कलापक्ष स्थूल और महत्त्वहीन है। फिर भी लौकिक दृष्टि से यह बात आंशिक रूप से ही सत्य कही जा सकती है। उसमें शरीर और उसकी साजसज्जा का उतना ही महत्त्व है जितना कि प्राण का। कभी-कभी तो सभ्यता के वातावरण में उसका महत्त्व प्राण से भी अधिक समझा जाता है। इस प्रकार लौकिक साहित्य में कला का भाव-पक्ष की अपेक्षा कम महत्त्व नहीं माना जा सकता है। सच तो यह है कि लौकिक कविता का महत्त्वपूर्ण अंग कलापक्ष ही है। जिस प्रकार देश और काल भेद से मानव की साज-सज्जा और उसकी परिवेष सम्बन्धी मान्यता में अन्तर होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों के साहित्यों के कलापक्ष के अंग-प्रत्यंगों से सम्बन्धित भावों और प्रतिमानों में अन्तर है। आजकल साधारणतया साहित्य की दो धाराएँ स्वीकार की जा रही हैं : भारतीय साहित्य और पाश्चात्य साहित्य। यहाँ पर हम कलापक्ष से सम्बन्धित तत्त्वों की मीमांसा करेंगे।

भारतीय दृष्टि से काव्य के कलापक्ष के अन्तर्गत विचारणीय तत्त्व—भारत में संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत काव्य के कलापक्ष की सूक्ष्म विवेचना की गई थी। उस दृष्टि से काव्य के इस पक्ष पर विचार करते समय हमें निम्नलिखित बातों का विवेचन करना पड़ेगा—

१. शब्दार्थगत सौन्दर्य (शब्दशक्तियों का विवेचन)।
२. छन्द योजना।
३. अलंकार योजना।
४. गुण और रीति विचार।
५. वृत्ति विवेचन।
६. ओचित्य विचार।
७. वक्रोक्ति विवेचन।
८. चमत्कार विवेचन।
९. काव्य रूपों की बंधानिकता।

इन सब पर हमने यथास्थान पर विचार किया है। अतएव हम यहाँ पर

पिष्टपेषण नहीं कर रहे हैं।

पाश्चात्य दृष्टि से कलापक्ष का विवेचन—पाश्चात्य साहित्य में काव्य के कलापक्ष पर विचार करते समय निम्नलिखित बातों पर विचार किया जाता है।

काव्य रूप की वैधानिकता—इसके अन्तर्गत कोई काव्य प्रबन्ध है या गीत है इस बात की विवेचना की जाती है। यदि काव्य प्रबन्ध है तो उसके प्रबन्धत्व और प्रथम सम्बन्धी तत्त्वों पर विचार किया जायेगा। यदि गीतिकाव्य है तो गीतिकाव्य सम्बन्धी तत्त्वों की मीमांसा की जायेगी। इन सब पर द्वितीय भाग में यथास्थान विचार किया गया है।

चरित्र-चित्रण—पाश्चात्य साहित्य में चरित्र-चित्रण कला को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। काव्य के कलापक्ष के अन्तर्गत यह एक विशेष विचारणीय तत्त्व माना जाता है।

संवाद सौन्दर्य—पाश्चात्य साहित्य में संवादों के सौन्दर्य के उद्घाटन को विशेष महत्त्व दिया गया है।

चित्रण—पाश्चात्य कला में चित्रण को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। ये चित्रण दो प्रकार के होते हैं—

१. बाह्य दृश्य सम्बन्धी; और २. अन्तर्वृत्ति सम्बन्धी।

इन चित्रणों का सम्पूर्ण महत्त्व विविध प्रकार के प्रभावों की उत्पत्ति में माना जाता है।

विविध प्रकार की अभिव्यंजना शैलियाँ—पाश्चात्य साहित्य में अभिव्यंजना को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके परिणामस्वरूप कलावाद, कल्पनाविद्या, अभिव्यंजनाविद्या आदि का प्रवर्तन हुआ था। इस प्रकार पाश्चात्य साहित्य के अनुसार काव्य के कलापक्ष से सम्बन्धित कुछ बातों का निर्देश यहाँ पर कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त भी पाश्चात्य साहित्य में कला सम्बन्धी और भी अनेक विशेषताएँ ढूँढी जा सकती हैं। विस्तार के भय से यहाँ पर अधिक विचार नहीं किया जा रहा है। कला सम्बन्धी ये मान प्रतिमान समयानुसार परिवर्तित भी होते रहते हैं। अतएव समर्थ आलोचक को साहित्य के इस पक्ष पर विचार करते समय इन सब परिवर्तनों पर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

काव्य और क्रीचे का अभिव्यंजनाविद्या

पृष्ठभूमि—अभिव्यंजनाविद्या का बीजारोपण पाश्चात्य देशों में सबसे पहले ग्रीक साहित्य में किया गया था। लैसिंग नामक आचार्य ने अपने सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त सामने रखा कि आत्मा का सौन्दर्य ही कला और काव्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से होती है। लैसिंग का यह मत भारतीय महाकवि भवभूति के “वाणी को आत्मा की कला” कहने वाले मत से बहुत मिलता-जुलता है। बृहदारण्यकोपनिषद् के “अयं पुरुषः वाङ्मयः” वाली उक्ति भी लैसिंग के सिद्धान्त से मिलती-जुलती प्रतीत होती

जा सकता है किन्तु सौन्दर्य को भावना से सम्बन्धित नहीं कहा जा सकता। डॉ० बोसाँके ने यद्यपि अपना मत अनेक तर्क-वितर्कों से पुष्ट करने का प्रयास किया है, किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनका मत मान्य नहीं हो सकता। वृत्तियों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से भावनाओं को सौन्दर्य का मूल स्वीकार ही करना पड़ेगा। हमारे प्राचीन ऋषियों ने भी सौन्दर्य की भावनामूलकता की ओर संकेत किया है। महर्षि पतञ्जलि ने एक स्थल पर पत्थरों को सम्बोधित किया है—‘शृणोतु ग्रावाणः’ जड़ पदार्थ में यह प्राण-प्रतिष्ठा भावना के सहारे ही की गई है। यही प्राण-प्रतिष्ठा पाषाण-निहित सौन्दर्य को प्रस्फुटित करती है। आनन्दवर्धनाचार्य ने तो ‘ध्वन्यालोक’ में स्पष्ट लिखा है—

“भावानचेतनानपि चेतनवत् चेतनान् अचेतनवत्”

अर्थात् भाव द्वारा अचेतन को चेतन के समान और चेतन को जड़ या अचेतन के समान कल्पित किया जा सकता है।

तुलसीदास ने भी भाव और सौन्दर्य के सम्बन्ध को स्थिर करते हुए कहा है—

“जेहि की रही भावना जंसी, प्रभु मूरति देखी तिन तंसी।”

इस कथन के अनुसार ही ‘रामचरितमानस’ में राम के रूप का वर्णन करते हुए उसके भावानुकूल पक्षों के वैविध्य का अच्छा संकेत किया है। जो भी हो डॉ० बोसाँके का मत किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं हो सकता और ज्ञान, संकल्प, एवं भावना ही सत्यं शिवं सुन्दरं के आधार कहे जा सकते हैं।

संस्कृत के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक कवि भवभूति की प्रसिद्ध काव्य परिभाषा के आधार पर भी सत्यं शिवं सुन्दरं की पृष्ठभूमि निर्धारित की जा सकती है। भवभूति ने वाणी को आत्मा की कला कहा है—

“विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।”

यदि काव्य आत्मा की कला है तो आत्मा की प्रमुख विशेषताएँ भी काव्य में प्रतिबिम्बित होनी चाहिएँ। आत्मा की प्रमुख विशेषताएँ तीन हैं—सत्, चित् और आनन्द। ये तीनों वृत्तियाँ ही काव्य में सत्यं शिवं सुन्दरं के रूप में अवतरित होती हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा का आध्यात्मिक निरूपण किया गया है। आत्मा का वर्णन करते हुए उसमें लिखा है—

“अयं आत्मा वाङ्मयः मनोमयः प्राणमयः”

अर्थात् यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है।

आत्मा के इन तीनों तत्त्वों के आधार पर भी सत्यं शिवं सुन्दरं की पृष्ठभूमि निर्धारित की जा सकती है। वाङ्मय को शिव, मनोमय को सौन्दर्य तथा प्राणमय को सत्यं की आधारभूमि माना जा सकता है।

शैव दर्शन की दृष्टि में सत्यं शिवं सुन्दरं के मूलभूत तत्त्वों का विचार एक दूसरे प्रकार से किया जा सकता है। महाकवि ‘प्रसाद’ की ‘कामायनी’ पर शैवदर्शन की स्पष्ट छाया प्रकट होती है। निम्नांकित पंक्तियों में मानव की इच्छा, क्रिया

और ज्ञान नामक तीन प्रमुख वृत्तियों के समन्वित रूप से आनन्द की प्रतीति होना ध्वनित किया गया है—

“इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे ।

विध्य अनाहत् पर निनाद में,

भङ्गा युत मनु बस तन्मय थे ।”

काव्य का लक्ष्य भी इसी आनन्द की सृष्टि करना माना गया है । इस दृष्टि से हम काष्ट द्वारा निर्देशित ज्ञान, भावना और संकल्प के स्थान पर इच्छा, क्रिया और ज्ञान को भी सत्यं शिवं सुन्दरं की पृष्ठभूमि मान सकते हैं ।

काव्य में सत्य तत्त्व—भारतीय आचार्यों ने कवि को अपर विधाता मानकर उसकी निर्मिति को सत् स्वरूप कहा है ।

अग्निपुराणकार ने—“अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।

यथास्मै रोचते विश्वं तथैवं परिवर्तते ॥”

कहा है किन्तु इससे किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि कवि-कर्म मिथ्या है—“न कवे वरानं मिथ्या कवि सृष्टिकरः परः ।”

तभी तो अवन्ति सुन्दरी को लिखना पड़ा था—

वस्तुस्वभावान्न कवेरतन्त्रो गुणागुणावक्षितवशेन काव्ये ।

स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दन्तु दोषाकरमाह धूर्तः ॥

अर्थात् कवि वस्तु के स्वभाव के आधीन नहीं है । काव्य में वस्तुओं के गुण या दोष कवि की इच्छा पर निर्भर रहते हैं । अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुरूप वह चन्द्रमा को कभी अमृतांशु तथा कभी दोषाकर कह देता है ।

इस प्रकार काव्य का सत्य जीवन और जगत् के वास्तविक सत्य से थोड़ा भिन्न होता है । यद्यपि कवि को अपने काव्य-सृजन की प्रेरणा हमारे चारों ओर के वातावरण और उनके विविध मार्मिक रूपों से मिलती है, किन्तु फिर भी इतिहास के समान काव्य को जीवन के कठोर सत्य का प्रतिबिम्ब नहीं कह सकते । क्योंकि जैसा कि आचार्य आनन्दवर्द्धन ने लिखा है—“कविता प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मना रस परतन्त्रेण भवितव्यम् ।” अर्थात् कवि को अपने ऐतिहासिक सत्य को सब प्रकार से रस परतन्त्र रखना चाहिए । इसके आगे उन्होंने लिखा है—तत्र इतिवृत्ते यदि रसानुगुणं स्थितिं पश्येत् तां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरम् उत्पादयेत् । नहि कवे इतिवृत्तमात्रनिबन्धेण किञ्चित् प्रयोजनम् । इतिहास एव तत् सिद्धेः । (ध्वन्यालोक)

अर्थात् वृत्त रसानुकूल स्थिति में न हो तो उसे रसानुकूल बनाने के लिए आवश्यकतानुकूल परिवर्तित कर दें क्योंकि कवि को इतिवृत्ति सम्पादन से कुछ भी लाभ नहीं । इतिहास और काव्य के भेद का स्पष्टीकरण अरस्तु ने भी किया है । उसने लिखा है—

‘कवि का कर्तव्य कर्म जो कुछ हो चुका है, उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के आधीन सम्भव

है, उसका वर्णन करता है।... (कवि और इतिहासकार में) वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है। दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। परिणामतः काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की। (डा० नगेन्द्र द्वारा अनूदित 'काव्य-शास्त्र' पृष्ठ २६)

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि का भाव-जगत् साधारण भाव-जगत् से भिन्न होता है। उसके भाव-जगत् में कल्पना का विशाल साम्राज्य होता है। इसके सम्मुख समस्त बाह्य-बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं और कवि जीवन के सत्यानुभव को कल्पना के सहारे एक नवीन आह्लादकारी रूप देने में समर्थ होता है। इस प्रकार कवि कल्पना के माध्यम से जिन स्वतन्त्र रूपों का निर्माण करता है, वह यथार्थ सत्य न होते हुए भी काव्य-सत्य के रूप में ग्रहण किया जाता है। अग्निपुराण में रूप-निर्माण सम्बन्धी कविस्वातन्त्र्य के लिए स्पष्ट ही लिखा है—

अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः ।

यथास्मै रोचते विष्वक् तथेवं परिवर्तते ॥

कवि की यह निरंकुशता काव्य में नवीनता, मौलिकता और रोचकता का समावेश करती है। साथ ही साथ वह उसे विज्ञान-जगत् से भिन्न भी कर देती है। कुशल कलाकार अपने इस स्वातन्त्र्य के अनुचित उपयोग नहीं करते। वास्तविक सत्य की उपेक्षा भी ने नहीं करते, बल्कि जीवन के सापेक्ष सत्य के अन्तर्गत ही उसके निरपेक्ष सत्य का उद्घाटन कर देते हैं। वक्रोक्ति जीवितकार ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“भावव्यतिरेकेण वस्तुमेव न युज्यते ।

वस्तु तद्वहितं यस्मात् निरुपाख्यं प्रसृत्यते ॥”

अर्थात् स्वभाव विरहित वस्तु-वर्णन कदापि नहीं करना चाहिए। स्वाभाविकता रहित वर्णन विरूप हो जाते हैं। कवि वास्तव में जीवन के अपूर्ण सत्य को पूर्ण और लोक-रंजनकारी रूप प्रदान करता है। आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में कवि-भारती का वर्णन करते हुए लिखा है—

“नियतिकृतनियमरहितानामाह्लादकमयीमनस्यपरतन्त्राम् ।

नवरसरचिराम् निर्मितिभावधती भारती कवेर्जयति ॥”

(काव्य प्रकाश १।१)

अर्थात् कवि-भारती विजयिनी हो। कवि-भारती की रचना ब्रह्माजी की इस रचना से सर्वथा विलक्षण होती है। वह नियति के नियमों से निर्मुक्त रहती है। वह केवल हर्षात्मक मात्र होती है। वह किसी भी प्रकार से परतन्त्र भी नहीं होती। उसमें नव-रसों का समावेश रहता है। वास्तव में वह बड़ी ही रमणीय और विलक्षण होती है। काव्य नियतिकृत नियमों से रहित होते हुए भी असम्भाव्य की सीमा तक नहीं जाता। असम्भाव्य के प्रदर्शन से उसमें आह्लादकारी रस-संचार

की क्षमता नहीं रहती। काव्य-सत्य अपने इसी आह्लादकारी गुण के कारण आदर्श पथ-स्रष्टा माना गया है।

सत् काव्य में किसी सत्य-खण्ड की प्रतिष्ठा रहती है। उदाहरण के लिए कालिदास का कुमार सम्भव ले सकते हैं। इसमें कवि ने यह सत्य प्रतिष्ठित किया है कि स्त्री सत्पुरुष को काम से नहीं, तप से वशीभूत कर सकती है। पार्वती ज्यों ही शिव को अपने रूप-गर्भ से पराजित करने का प्रयास करती है, त्यों ही शिव काम को भस्म कर डालते हैं। अन्त में पार्वती तपस्या से शिव को वशीभूत करती है और शिव कहते हैं—“क्रीतः तपोभिः” अर्थात् मैं तपस्या के कारण तुम्हारा क्रीत दास हूँ। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है—

“मूर्तित कर्तुं चिरन्तन सत्य मनुज आत्मा का।”

कभी-कभी काव्य में ऐसे चित्रण मिलते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से असम्भव और असत्य प्रतीत होते हैं। कुछ आचार्यों ने तो अतिशयोक्ति पर शैलीगत सौन्दर्य को आश्रित माना है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कवि वास्तविकता का विस्मरण कर बैठते हैं, किन्तु ऐसे वर्णनों के समय उनका लक्ष्य लक्षणा और व्यंजना के सहारे अपने अनुभूत भावों को अत्यधिक प्रभावात्मक रूप में प्रकट करना होता है। प्रभावाभिव्यंजकता वस्तु को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर देने से तीव्रतम रूप धारण नहीं कर सकती। कवियों का लक्ष्य स्वानुभूतियों को परवेष्ट बनाना होता है। अतः वह अपने लक्ष्य के अनुरूप ही सत्य को भी ढाल लेते हैं। इससे सत्य का रूप विकृत न होकर आकर्षक और संवेदनात्मक हो जाता है। जीवन-काव्य के सफल निर्माता महात्मा तुलसीदास ने सीता के सम्बन्ध में लिखा है—

“कनगुरियां की मुंबरी कंगन हो जाय।”

इस कथन में अतिशयोक्ति की पराकाष्ठा होते हुए भी नारी की विरह-जनित अवस्था का कितना मार्मिक चित्रांकन है। सहृदय पाठक के सम्मुख सीताजी की अतीव कृशता का चित्र कितनी सरलता से उपस्थित कर दिया जाता है। इस प्रकार के वर्णन असत्य नहीं होते। ऐसे ही वर्णनों को दृष्टि में रखकर वक्रोक्ति जीवित-कार ने लिखा है—

“यन्मवर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूता सन्तः क्रियन्ते।

केवल सत्तामात्रेण परिस्फुरतां ह्येषां तथाविधः कोऽप्यतिशय
पुनराधीयते येन कमपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयतामध्यारोप्यते।”

(भारतीय साहित्य शास्त्र, पृष्ठ, ४४६)

अर्थात् काव्य में जिन पदार्थों का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है, वे प्रत्यक्ष अविवशनीय होते हुए भी असद् नहीं होते। संसार में वे पदार्थ केवल सत्ता मात्र से स्फुटित होते हैं। कवि अपनी प्रतिभा के सहारे उनमें अनिर्बचनीय अतिशय उत्पन्न कर देता है। इसके परिणामस्वरूप काव्य में सहृदय-हारिणी रमणीयता उत्पन्न हो जाती है। इस शक्ति के सहारे वह पदार्थों के मूल रूपों का आच्छादन कर देता है।

उनके अतिशय चामत्कारिक चित्र चित्रित कर देता है, जिससे वे सर्वथा नवीन और मौलिक प्रतीत होने लगते हैं ।

यह बात केवल उत्पाद्य वस्तु के सम्बन्ध में ही नहीं लागू होती, वरन् प्रसिद्ध वस्तुओं का रूप-विधान भी इसी ढंग से हो जाता है । वक्रोक्ति जीवितकार इसके आगे यह भी लिखता है कि—“कवि पदार्थ के स्वरूप का निर्माण नहीं करता, प्रत्युत प्रतिभा-शक्ति के सहारे वह केवल अतिशय का रूप-विधान करता है ।” कवि-प्रतिभा की यही सबसे बड़ी देन है ।

काव्य को यह रूप प्रदान करने के लिए उसमें चमत्कार की योजना करनी ही पड़ती है । इसी चमत्कार प्रतिष्ठा के लिए काव्य सत्य को अलंकार, रस आदि काव्य के विविध उपादानों से भी युक्त करना पड़ता है । इस समन्वयकारी व्यापार में औचित्य का बड़ा महत्त्व है । क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

“औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।”

अर्थात् औचित्य रससिद्ध काव्य का प्राण होता है । काव्य का सत्य औचित्य से सम्बन्धित रहता है । सुधांशुजी के शब्दों में हम कह सकते हैं—“काव्यगत सत्य के लिए यह सर्वथा अपेक्षित है कि वह आन्तरिक आवश्यकता और औचित्य विचार की उपेक्षा न करे । पाठकों के आशाक्रम पर व्याघात पहुँचाना सत्य के ऊपर व्याघात करना ही है ।”

काव्य में बहुत सी ऐसी उक्तियाँ भी प्रचलित हैं जो कवि-समय कहलाती हैं । कवि-परम्परा इन उक्तियों का प्रयोग चिरकाल से करती आ रही है । इनके सत्या-सत्य के विषय में सन्देह भी हो सकता है किन्तु यह प्रसिद्धियाँ अथवा ‘समय’ परम्परा-भुक्त और मार्मिक होने के कारण काव्य-सत्य के रूप में ग्रहण की जाती हैं । समाज इनकी अवहेलना नहीं कर सकता ।

इसके अतिरिक्त काव्य सत्य की अभिव्यक्ति के लिए रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, समासोक्ति आदि का आश्रय भी लेता है । प्रत्यक्ष सत्य न लगने वाली बातें भी सांकेतिक अर्थ, बोधिका होने के कारण काव्य में सत्य कहलाती हैं । कबीर, जायसी आदि रहस्यवादियों ने इसी प्रकार से काव्य में सत्य की प्रतिष्ठा की है ।

काव्य में शिव तत्त्व—काव्य में शिव तत्त्व का भी बड़ा महत्त्व होता है । शिव का अर्थ होता है कल्याण-भावना । मानवता के महान् उपासकों की साधना इसी कल्याण-भावना को लक्ष्य कर आरम्भ होती है । काव्य-कला भी एक साधना ही है, वह अपूर्णता को पूर्णता तक पहुँचाने का ही सतत प्रयास है । कलाकार अपने इस प्रयास का सफल परिणाम शिव तत्त्व के आराधन से ही प्राप्त कर सकते हैं । भारतीय शास्त्रों में तो शिव तत्त्व को इतना महत्त्व दिया गया है कि उसे देवाधिदेव महादेव के साक्षात् प्रतिरूप में प्रतिष्ठित किया गया है । हमारी प्रत्येक साधना प्राध्यात्मिक रही है । अपनी इसी प्राध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण शिव तत्त्व को भी प्राध्यात्मिक रूप प्रदान किया गया है । गीता में इसी तत्त्व को ‘हित तत्त्व’ कहा है ।

भगवान् कृष्ण ने गीता में निष्काम कर्म द्वारा लोक-संग्रह की भावना को व्यक्त किया है—

“कर्मणोऽपि हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥” १३।२०

सभी भारतीय महान् ग्रन्थों का यही सन्देश है। श्रुति ग्रन्थों में इसी हित-तत्त्व या शिव तत्त्व की महत्ता का प्रतिपादन मिलता है। यजुर्वेद में एक स्थल पर कहा गया है—

“तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।”

महाकवि तुलसीदास ने ‘रामचरितमानस’ जैसे बृहद् ग्रन्थ की रचना लोक-हित के लिए ही की है। उन्होंने काव्य में शिव तत्त्व की महत्ता को स्पष्ट ही व्यंजित किया है—

“कीरति भनिति भूति भलि सोई ।

मुरसरि सम सब कर हित होई ॥”

तुलसी की इस जन-हित भावना के विषय में उनकी “स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा,” वाली पंक्ति भ्रम उत्पन्न कर देती है। एक ओर तो वे काव्य को जनहित का हेतु बताते हैं दूसरी ओर उसकी रचना ‘स्वान्तःसुखाय’ करते हैं। किंतु तुलसीदास की भावनाओं का गम्भीर अध्ययन करने पर इस भ्रम का निराकरण हो जाता है। उनका ‘स्वान्तःसुख’ व्यक्तिगत स्वार्थ तक ही सीमित नहीं था। उनकी लोकरञ्जनकारी सात्त्विक भावना के अनुरूप उसकी परिधि भी बहुत व्यापक थी। उनका आत्मसुख केवल स्वार्थ में ही नहीं बल्कि जनहित में था।

काव्य में शिव तत्त्व को महत्त्व अवश्य दिया गया है, किंतु वह सदा एक ही में ही नहीं दिखाई पड़ता। काव्य में व्यक्तिगत और सामाजिक प्रवृत्तियों का बिम्बांकन किया गया है अतः शिव तत्त्व भी जिस काल और समाज में जिस रूप में विद्यमान रहा उसी रूप में काव्य में भी समाविष्ट किया गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में चारों कालों में चार भिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। वीरगाथाकाल और रीतिकाल में शिव तत्त्व के स्थान पर सत्य की आराधना को महत्त्व दिया गया है। रीतिकाल में उपदेशात्मक सूक्तियों के रूप में शिव भावना का किंचित् आभास मिलता है। काव्य में शिव-तत्त्व की पराकाष्ठा भक्ति-काल में देखी जा सकती है। आधुनिक काल में भी शिव का समावेश किया गया है, किन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में भक्ति-काल में मिलता है। भक्ति-काल में शिव-तत्त्व को आध्यात्मिक और धार्मिक कसौटी पर कसा गया था। आधुनिक काल उपयोगितावाद का समर्थक है, आधुनिक साहित्य का प्रगतिवाद उपयोगितावाद का ही उपनाम है। इसमें शिव को अध्यात्मवाद के घेरे से निकालकर भौतिक रूप प्रदान किया गया है। महाकवि पंत के ऐसे ही प्रगतिवादी

उद्गार इन पंक्तियों में देखिए—

“तुम बहून कर सकी जन में मेरे विचार,
बाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ।

× × ×

उद्योतित कर जन मन के जीवन का अग्रधकार,
तुम खोल सकी मानव उर के निःशब्द द्वार,
बाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या असंकार ।”

—आधुनिक कवि २—वाणी; पृ० १०१

छायावादी युग में शिव तत्त्व बहुत कुछ आध्यात्मिक होते हुए भी भक्तिकाल से भिन्न है। मनोवैज्ञानिक कवि प्रसाद ने शिव तत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा अपने महाकाव्य ‘कामायनी’ में की है। कामायनी का आनन्द तत्त्व ही शिव तत्त्व है। काव्य के सभी पात्रों का अवसान इसी तत्त्व में होता है। किन्तु इस शिव-तत्त्व का स्वरूप भक्तिकालीन शिवत्व के समान लोकव्यापी नहीं है, यह बहुत कुछ आत्मसाधनाप्रधान है। छायावाद में शिव की प्रतिष्ठा वैयक्तिक आदर्श की अभिव्यक्ति द्वारा की गई है।

हिन्दी साहित्य के इन विभिन्न रूपों को दृष्टि में रखते हुए काव्य में शिवतत्त्व की अभिव्यक्ति निम्नलिखित रूपों में दिखाई पड़ती है।

१. लोक संग्रह की भावना भक्ति के आदर्शों की प्रतिष्ठा के रूप में।
२. दर्शन और अध्यात्मवाद के आदर्शों की प्रतिष्ठा के रूप में।
३. नैतिक या कान्तासम्मित उपदेश की प्रतिष्ठा के रूप में।
४. लौकिक या उपयोगितावाद के आदर्शों की प्रतिष्ठा के रूप में।
५. वैयक्तिक आदेश की प्रतिष्ठा के रूप में।
६. आदर्शवाद की प्रतिष्ठा करके।

काव्य में सौंदर्य तत्त्व—काव्य में सौंदर्य तत्त्व का सर्वाधिक महत्त्व है। वास्तव में सौन्दर्यानुभूति ही काव्य का आधार है। काव्यानुभूति और सौन्दर्यानुभूति परस्पर पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सौंदर्य से रहित रचना काव्य की सीमा तक नहीं पहुँच सकती। यही काव्य का वैभव है। सौंदर्य के साधारण अर्थ से काव्य सौंदर्य भिन्न होता है। काव्य का सौंदर्य एक अनिवार्य तत्त्व है, इसकी स्थिर रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की जा सकती। इसकी अनिवार्यता के सम्बन्ध में हमारे कवि भारवि ने लिखा है—

“क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तवेव रूपं रमणीयतायाः ।”

अर्थात् जो रूप क्षण-प्रतिक्षण अभिनव सौन्दर्य धारण करता रहता है वही वास्तविक रमणीयता है।

श्रेष्ठ काव्यकारों की वाणी में सौंदर्य का यही रूप परिलक्षित होता है। इसके विपरीत साधारण कोटि के कलाकार सौंदर्य के स्थूल रूप का ही अनुभव कर पाते हैं। उनकी दृष्टि बाह्य सौंदर्य तक ही सीमित रह जाती है, जबकि प्रथम कोटि के कलाकार उसके आन्तरिक रूप को भी समझने का प्रयास करते हैं। वाशिंगटन इरविन नामक पाश्चात्य विद्वान् ने आन्तरिक पक्ष को महत्त्व देते हुए लिखा है—

“आन्तरिक सौंदर्य ही बाह्य सौन्दर्य का विधायक होता है। मैं गुणसम्पन्न महिला से कहीं अधिक प्रभावित होता हूँ उस रूपवती महिला की अपेक्षा, जिसमें गुण नहीं होते।”

सौन्दर्य के बाह्य पक्ष को प्रधानता देने वाले विद्वानों में ‘सॉक्रेटीज’, ‘ऐरिस्टोटिल’ आदि प्रमुख हैं। सॉक्रेटीज ने सौन्दर्य को ‘Short lived tyranny’ कहा है। सौन्दर्य का बाह्य रूप ही क्षणिक और अनित्य होता है। उसका आन्तरिक पक्ष नित्य नया रूप धारण कर प्रस्फुटित होता रहता है।

सौन्दर्य के इस आन्तरिक और बाह्य पक्ष के अतिरिक्त वह विषयगत और विषयीगत भी माना गया है। विषयगत सौन्दर्य या रूप-सौन्दर्य मात्र सच्चे कलाकार को आकर्षित नहीं करता। यह सौन्दर्य वासनामूलक होता है। कलाकार की सौंदर्या-नुभूति साधारण स्तर से कहीं ऊँची होती है। वह सौन्दर्य के सात्त्विक और आध्यात्मिक पक्ष में विश्वास करता है। महाकवि कालीदासकृत कुमारसम्भव की ये पंक्तियाँ देखिए—

‘यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यभ्यभिचारि तद्वचः’

अर्थात् हे पार्वति, यह जो कहा जाता है कि वास्तविक सौंदर्य पाप-वृत्ति का हेतु नहीं होता, वह बहुत सत्य है।

सौन्दर्य का यह सात्त्विक पक्ष अखंड और अपरिसीम है। यह विषयगत नहीं बल्कि विषयीगत होता है। इसकी स्थिति प्रत्येक सौंदर्य-चिन्तक के हृदय में होती है। वह प्रकृति के अनुसार प्रतीत होने वाले पदार्थों में भी सौन्दर्य की अनुभूति करता है। बंगला के विश्व-विख्यात कवि रबीन्द्र की निम्नलिखित पंक्तियों में उनकी आत्मसौंदर्य भावना का अच्छा परिचय मिलता है। वे काली कृष्ण-कन्या की कृष्ण कली से समता करते हुए लिखते हैं—

“कृष्ण कली अमितारेइ बलि

कालो तारे बले गायेर लोक

मेखला दिने देखे छिन्नाम माटे

काली मेयेर कालो हरिण चोख” इत्यादि।

अर्थात् लोक उस कृष्ण बालिका को काली कहता है, किन्तु मैं उसे कृष्ण कली कहता हूँ। एक दिन आकाश मेघों से आवृत था तब मैंने उसके हरिण के समान काले नेत्रों को देखा।

कृष्ण बाला का यह नैसर्गिक सौंदर्य सङ्घर्षों को ही आकर्षित कर सकता है। हिन्दी के महत्तम कवि जयशंकर प्रसाद ने भी अनेक स्थलों पर प्रकृति के असुन्दर दृश्यों को सजीव सौंदर्य प्रदान किया है। सौन्दर्य तत्त्व की ओर छायावादी कवियों की प्रवृत्ति अधिक आकर्षित हुई है। उनकी सौन्दर्य भावना विषयप्रधान और विषयीप्रधान दोनों ही रही है।

सत्य शिब सुन्दर इन तीनों तत्त्वों के समन्वय से काव्य सर्वश्रेष्ठ रूप धारण करता है। ऐरिस्टोटिल, कॉन्फरिच, बेंचू आर्नाल्ड आदि विद्वानों ने तीनों के समन्वय

को महत्त्व दिया है। भारतीय श्रेष्ठ कवियों की दृष्टि भी समन्वयात्मक है। गीता के सत्रहवें अध्याय में वाङ्मय की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए 'सत्य-प्रिय-हित' तीनों के योग को आवश्यक बताया गया है—

“अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्
स्वाध्यायाध्यसनं शैब वाङ्मयं तप उच्यते”

(१७।१५)

सन्त कवि तुलसीदास तो सामञ्जस्यवादी ही थे। निम्नलिखित पंक्तियों में क्रमशः सत्यं शिवं सुन्दरं तीनों के दर्शन होते हैं—

“कलमल तृन कलमूल निकन्दिनी”

“सरजू नाम सुभंगलमूला” या “सुरसरिसम सब कर हित होई”

“सहज विराग रूप मन मोरा, थकित होत ज़िमि चन्द चकोरा”

छायावादी कवि पन्त ने भी तीनों के ऐक्य का समर्थन करते हुए लिखा है—

“यही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य धनूप,
लोकसेवा में शिव अधिकार ॥”

प्रज्ञा के सत्य स्वरूप से कलाकार को सौन्दर्यानुभूति होती है। यह अनुभूति जब लोकसेवा का व्यापक रूप धारण कर लेती है तब काव्य में शिव तत्त्व का समावेश होता है।

कुछ विद्वानों ने काव्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरं तीनों के समन्वय पक्ष को ग्रहण नहीं किया है। वे सत्य और शिव को या सत्य और सौन्दर्य को ही महत्त्व देते हैं। सत्य और शिव का समर्थन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में वेन्सन, सिमण्ड, गोथे, रस्किन, जेडो, गॉल्सवर्दी, मार्क्स, टॉल्स्टाय आदि प्रमुख हैं। हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य पर भी पाश्चात्य मार्क्सवादी प्रभाव पड़ा है। इसमें समाजवाद के रूप में शिवतत्त्व को और यथार्थवाद के रूप में सत्य-तत्त्व को महत्त्व दिया गया है। निरालाजी की निम्नलिखित पंक्तियों में सत्य का यह चित्रण देखिए—

“बह आता

बो दूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता

पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक

चल रहा लकुटिया टेक

मुट्ठी भर दाने को — सूख मिटाने को

मुंह फटी पुरानी भोली को फेंकाता ॥” इत्यादि।

इन पंक्तियों में काव्यगत सौन्दर्य का एक प्रकार से अभाव होते हुए भी सामाजिक दशा का यथार्थ चित्रण है। कवि अपनी लोक-हित कामना को किसी क्रियात्मक रूप में न प्रकट कर वाणी द्वारा ही स्पष्ट करते हैं और ऐसी त्रुटियों की ओर विशाल जन-समाज का ध्यान आकृष्ट कर उनके सुधार की कामना करते हैं।

काव्य के प्रति व्यापक दृष्टिकोण न रखने वाले अधिकांश विद्वानों ने केवल सत्य और सौन्दर्य को ही महत्त्व दिया है। शिव जैसे व्यापक तत्त्व की उन्होंने उपेक्षा की है। कौट्स ने सत्य और सौन्दर्य के समन्वय के सम्बन्ध में स्पष्ट ही कहा है —

‘Truth is beauty, beauty is truth’

सत्य ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही सत्य है।

शेक्सपियर ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है—“Oh how much more doth beauty beautious seem by that sweet ornament which truth doth give” अर्थात् सौन्दर्य सुन्दर तभी प्रतिभासित होता है जब वह सत्य से अनुप्राणित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य तभी सच्चा काव्य कहला सकता है जब उसकी अवस्थिति सत्य, शिव और सुन्दर की समुचित भूमिका पर की गई हो।

काव्योत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्यों के मत — हडसन के मत का संकेत हम पहले भी कर चुके हैं। उसने काव्योत्पत्ति की कारणभूत चार प्रवृत्तियाँ मानी हैं—

(१) आत्माभिव्यक्ति की कामना।

(२) मनुष्यों और उनके कार्यों के प्रति हमारा लगाव।

(३) यथार्थ जगत् के प्रति हमारा आकर्षण।

(४) कल्पना जगत् के निर्माण की प्रवृत्ति।

उपर्युक्त चार प्रवृत्तियों के अतिरिक्त साहित्य को जन्म देने वाली कुछ और बातों पर भी विचार किया गया है।

काव्य की प्रेरक शक्तियाँ

बेगंसा के मतानुसार, संसार स्वयं ही काव्य-विधान की एक स्वाभाविक प्रेरणा प्रदान करता है। विद्वानों का एक वर्ग कल्पना को ही साहित्य की मूल प्रेरिका मानता है। प्लेटो का मत इन सबसे भिन्न था। वह मानस बिम्ब (फ्रैण्टेजिया) को काव्य के मिथ्या कथा-पक्ष का उद्भावक समझता था। कुछ दूसरे पाश्चात्य आचार्य फेन्सी (कल्पनामयी धुन) को ही काव्य का उत्पादक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इमेजरी (कल्पना बिम्बों) को महत्त्व देने वाले आचार्यों का कहना है कि मानस बिम्ब ही अभिव्यक्त होकर काव्य का रूप धारण कर लेते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का एक सम्प्रदाय (साबे) कवि के काव्य-चातुर्य को ही काव्य की उद्भावना का उत्तरदायी बतलाता है। काव्योन्माद को काव्य का उत्पादक मानने वालों की भी अच्छी संख्या है। इनका कहना है कि कवि में काव्य की जाग्रति स्वयमेव होती है। वही काव्योन्माद में परिणत हो जाती है। यह काव्योन्माद ही बड़े काव्यों के विकास का प्रेरक माना जाता है। मिथ्या कल्पनावादी मिथ्या कल्पना को ही काव्य का प्रेरक मानते हैं। कुछ लोगों ने अन्तःस्फुरण (Inspiration) की प्रतिष्ठा करते हुए प्रतिपादित किया है कि काव्य की मूल प्रेरिका यही है। इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में निर्बाध अभिव्यक्ति (Spontaneity), भावुकता (Sentimentality), भावावेश (Ecstasy), अनुकरण (Imitation), अति प्राकृतिक तत्त्व (Supernaturalism),

अन्धविश्वास (Superstition) आदि को भी काव्य का प्रेरक सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। इन सैकड़ों मतों में कौन मत सबसे अधिक अनुकरणीय और स्पृहणीय है यह कहना बड़ा कठिन है। मेरी समझ में उपर्युक्त तत्त्वों में से प्रत्येक काव्य के विकास में किसी-न-किसी रूप में सहायक होता है। इन सबमें परस्पर बहुत अन्तर भी नहीं है। इन सबका अन्तर्भाव केवल तीन-चार में सरलता से किया जा सकता है। इन तीनों-चारों का अन्तर्भाव भारतीय आचार्यों द्वारा निर्देशित प्रेरक तत्त्वों में होता मालूम पड़ता है।

मनोवैज्ञानिकों का मत साहित्यिकों के मतों से भिन्न है। मनोवैज्ञानिकों में सबसे अधिक विचारणीय मत फ्रॉयड, एडलर, जुंग आदि के हैं। फ्रॉयड के मतानुसार 'काम' मानव-जीवन का मूल प्रेरक है। काम की यह इच्छा तीनों रूपों में व्यक्त हुआ करती है—सम्भोग की इच्छा, एक-दूसरे के प्रति संयोग, अपने बाल-बच्चों के प्रति स्नेह और उनकी संरक्षा की भावना। बहुत-सी सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के कारण इनमें से अधिकांश का दमन कर दिया जाता है। कला और साहित्य की उत्पत्ति इनके उभार के परिणामस्वरूप ही होती है।

एडलर ने 'काम' के स्थान पर शासन-शक्ति को मानव-जीवन का मूल प्रेरक माना है। जुंग ने "कलैक्टिव अनकॉन्शस" के सिद्धांत को महत्त्व दिया और कला या साहित्य की मूल प्रेरिका उसी को माना है। एक मत स्वप्नवादियों का भी है। ये लोग स्वप्न को साहित्य के उद्भव का एक हेतु मानते हैं। इनका कहना है कि सुख-नुभूति की अवस्था में जाग्रत या स्वप्न की अवस्था में उदय होने वाला आन्तरिक उन्मेष ही काव्य का प्रेरक होता है।

टी० एस० इलियट साहब ने बाह्य बातों की शृंखला का (Objective Correlative) का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि यदि वस्तुओं और घटनाओं की बाह्य शृंखला ढूँढ़ ली जाय तो फिर काव्य की अभिव्यक्ति अपने-आप हो सकेगी और तत्सम्बन्धी भाव भी अपने-आप व्यक्त हो सकेंगे। इसी से मिलता-जुलता सिद्धांत वातावरणवादियों का है। इनका कहना है कि काव्य या कला का मूल प्रेरक कवि या कलाकार का वातावरण होता है। कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने एक प्रकार की मानस विकृति को ही काव्य का प्रमुख कारण सिद्ध किया है। उनके अनुसार कवि या कलाकार में एक मानसिक विकृति होती है जो सामान्य व्यक्तियों में नहीं रहती है। यह मानसिक विकृति ही काव्य का कारण होती है। यही कारण है कि काव्य के रचयिता सामान्य व्यक्ति नहीं हो सकते।

संस्कृत आचार्यों द्वारा वर्णित हेतु—संस्कृत के एक प्राचीन श्लोक में काव्य हेतुओं की चर्चा घाठ काव्य माताओं के अभिधान से की गई है।

“स्वास्थ्य प्रतिभा अम्यासो भक्तिविद्वत्कथा बहुभुतता ।

स्मृतिर्वाक्यमनिर्वोदय मातरौऽष्टौ कश्चित्त्वय ॥”

अर्थात् शरीरगत स्वास्थ्य, प्रतिभा, शास्त्रों का अम्यास, देवता और गुरु में भक्ति, विद्वानों के साथ वार्तालाप, बहुभुतता, प्रबल स्मरण शक्ति, चित्त की

प्रसन्नता ये आठ काव्य की माताएँ हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्योत्पत्ति में इन सभी का कुछ न कुछ योग दान रहता है। किंतु इन आठों का समाहार तीन हेतुओं में सरलता से हो जाता है। संभवतः यही कारण है कि अधिकांश आचार्यों ने तीन काव्य हेतुओं के समन्वित रूप को श्रेष्ठ काव्योत्पत्ति का हेतु कहा है। एक प्राचीन उक्ति है—

“बुद्धिमत्त्वं च काव्यांगविद्याभ्यासकर्म च ।

कवेशचोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम् ॥”

अर्थात्—बुद्धिमत्ता, काव्यांग विद्या का अभ्यास, कवि की रहस्यमयी शिक्षा ये तीनों किसी विरले ही कवि में एकत्र मिलते हैं। आचार्य मम्मट ने यही बात इस प्रकार वर्णित की है—

“शक्तिनिपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तद्भुवे ।”

अर्थात्—“कविता रचने की शक्ति, लोक और शास्त्र आदि के ज्ञान से उद्भूत होने वाली निपुणता, काव्य जानने वालों की शिक्षा, उसका अभ्यास आदि ही काव्य की उत्पत्ति का मूल कारण है।” इस प्रकार आचार्य मम्मट ने काव्योत्पत्ति के कारणभूत हेतुओं में शक्ति, निपुणता, अभ्यास इन तीनों के समन्वित रूप को माना है। मम्मट के इस मत से संस्कृत के अधिकांश आचार्य सहमत हैं।

मम्मट के समान भामह ने भी शक्ति, निपुणता और अभ्यास को ही काव्योत्पत्ति का हेतु मानते हुए भी अभ्यास को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। वही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने प्रतिभा के अभाव में भी काव्योत्पत्ति की कल्पना की है। रुद्रट मम्मट और भामह के अनुगामी थे। वे दंडी के समान प्रतिभा को गौण हेतु नहीं मानते थे। जैन आचार्य वाग्भट्ट भी तीनों ही को महत्त्व देते थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकांश संस्कृत आचार्यों ने तीनों को ही काव्योत्पत्ति का कारण माना है।

अब हम थोड़ी-सी व्याख्या शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास आदि की कर देना चाहते हैं।

प्रतिभा—काव्य का प्रमुख हेतु शक्ति या प्रतिभा है। राजशेखर ने स्पष्ट घोषणा की है—‘सा (शक्तिः) केवल काव्यहेतुः।’

इसी प्रकार भामह ने भी लिखा है—“काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः”। आनंदवर्द्धन ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति में प्रतिभा को श्रेयसी माना है। राजशेखर ने आनंदवर्द्धन को उद्धृत करते हुए लिखा है—

“प्रतिभा व्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी, इति आनन्दः”।

इसके स्वरूप का स्पष्टीकरण रुद्रट ने इस प्रकार किया है—

“मनसि सदा सुसमाधिनि,

विस्फुरणमेकका विधेयस्य ।

अक्लिष्टानि पदानि च,

विभावन्ति वस्यामसौ शक्तिः ॥”

—काव्यालंकार १।१५

अर्थात् “जिस विशेषता द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण तथा कठिनतारहित पदों का भान होता है उसी को शक्ति कहते हैं ।” प्रतिभा की व्याख्या करते हुए भट्टतीत ने लिखा है—

“प्रज्ञानबनबोम्बेशालिनी प्रतिभा मता ।”

अभिनवगुप्त ने इस परिभाषा को कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में सामने रखा है—

‘प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्याः विशेषोरसावैशेषश्च सौन्दर्य-काव्य निर्माणक्षमत्वम् ।’ — ध्वन्यालोकलोचन १।६

अर्थात् कवि प्रतिभा वह विभूति है जिसके द्वारा सहृदय कवि रसावेश की स्थिति में काव्य-सर्जना में समर्थ होता है । लोचन टीकाकार ने इसी अर्थ का विस्तार किया है—

“तस्या विशेषोरसावैशेषश्च सौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्” ।

दंडी ने भी प्रतिभा के स्वरूप पर विचार किया है । उसने वामन के सहस्र ही उसे ‘जन्मान्तर्गतसंस्कार विशेष’ माना है । पूर्ववासनानुष्ठानुबन्धिप्रतिभानमबभूतम् ।’ अभिनवगुप्त ने भी उसे ‘प्राक्तन-संस्कार’ ही कहा है । ‘अनाविप्राक्तन संस्कार प्रतिभा नयः ।’ राजशेखर कृत प्रतिभा की व्युत्पत्ति भी द्रष्टव्य है—

‘यः शब्दग्रामम्, अर्थसार्थम् अलंकारतन्त्रम्, उक्तिमार्गम्, अन्यदपि तथा विषमसिद्ध्युदयम् प्रतिभासयति सा प्रतिभा ।’ अर्थात् प्रतिभा उसे कहते हैं जो शब्द समूहों, अर्थ समूहों, अलंकारों, उक्ति-वैचित्र्य तथा इसी प्रकार के अन्य काव्य-साधनों को चमत्कृत करने में समर्थ होती है । कुन्तक ने प्रतिभा का लगभग यही कार्य स्वीकार किया है—

“प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।

शब्दामिषेयोरन्तः स्फुरती विभाव्यते ॥”

व० जी० १।३४

अर्थात् कवि-प्रतिभा शब्द और अर्थ में अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करती है, क्योंकि शब्द और अर्थ नवीन चमत्कार की योजना प्रतिभा ही करती है । ‘अस्लान प्रतिभोऽवि भिन्न नव शब्दः ।’

आचार्य महिमभट्ट की प्रतिभा की परिभाषा हम पीछे दे आए हैं, वह इस प्रकार है—

“रसानुगुणशब्दार्थचित्तास्तिमितचेतसः ।

क्षणं स्वरूपं स्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥

अर्थात् रसानुकूल शब्द और अर्थ की चिन्तना से लीन एकाग्रचित्त कवि की प्रज्ञा जब क्षण भर के लिए पदार्थ के सच्चे स्वरूप का स्पर्श करती हुई उद्बुद्ध होती है, तब उसे प्रतिभा की संज्ञा देते हैं । वही भगवान् का तृतीय नेत्र है । उसी के द्वारा वह त्रिलोकवर्ती भावों का साक्षात्कार करता है ।

महर्षि पतंजलि ने प्रतिभा का विवेचन स्फोट के अभिधान से किया है । उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है—

“नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैः ।

भविष्यत्प्रसङ्गाद्योपपन्न

विकारिभिः ॥ — महाभाष्य आ० २

वह स्फोट या प्रतिभा कूटस्थ है, भविष्यत् और अगतिमय है। वह ह्लास और विकास के परे है। वह त्रिगुणमयी प्रकृति से भिन्न तत्त्व है। वह नित्य शब्दार्थ रूप है। इत्यादि।

प्रतिभा के भेद—आचार्य राजशेखर ने प्रतिभा के दो भेद किए हैं—कारयित्री और भावयित्री। काव्य की सजना कराने वाली प्रतिभा को कारयित्री और उसका रसास्वादन कराने वाली को भावयित्री कहते हैं। कारयित्री प्रतिभा भी तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। जन्मजात प्रतिभा को सहजा, अभ्यास-अर्जिता को आहार्या और शास्त्र आदि के उपदेश से प्राप्त होने वाली प्रतिभा को औपदेशिकी कहते हैं। इन्हीं भेदों के आधार पर कवि भी तीन प्रकार के बताए गए हैं—सारस्वत, अभ्यासिक और औपदेशिक। आचार्य रुद्रट ने उसके सहजा और उत्पाद्या ये ही दो भेद किए हैं।

पाश्चात्य देशों में प्रतिभा की खोज—पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रतिभा की खोज की है। किन्तु वे उसके निचले स्तरों तक ही पहुँच पाए हैं। उनके द्वारा विवेचित इमेजिनेशन, (कल्पना-शक्ति) फॅनटेसिया (मानसबिंब), फॅसी (व्यामोह), इमेजरी (कल्पनाबिंब), फॅनटेसी (मिथ्या कल्पना), इंस्पिरेशन (अंतःस्फुरण), स्पॉन्टेनीटी (आकस्मिक स्फुरण), सेंटीमेंटॅलिटी (भावुकता), एक्सटेंसी (उल्लास) आदि सब प्रतिभा की ही निम्नतर भूमिकाएँ हैं।

व्युत्पत्ति—संस्कृत आचार्यों ने काव्य हेतुओं में प्रतिभा या शक्ति के बाद व्युत्पत्ति की चर्चा की है। व्युत्पत्ति का अर्थ काव्य मीमांसाकार ने बहुज्ञता दिया है (बहुज्ञता व्युत्पत्ति)। आचार्य वामन ने व्युत्पत्ति का अर्थ विद्या लिया है (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।३।३।१०)। रुद्रट ने व्युत्पत्ति की व्याख्या में वामन के ‘विद्या-परिज्ञान’ को समेटते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है—

“छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।

युक्तयुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥” काव्यालंकार १।१८।

अर्थात् छंद, व्याकरण कला, लोकस्थिति, पद और पदार्थों के विशेष ज्ञान से उचित अथवा उचित-अनुचित का सम्यक् परिज्ञान ही व्युत्पत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य मम्मट ने व्युत्पत्ति को लोकशास्त्र काव्यादि के अवलोकण से उद्भूत निपुणता के नाम से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में व्युत्पत्ति के लिए (साधे) काव्य-चातुर्य शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रतिभावादी आचार्य व्युत्पत्ति में विशेष आस्था नहीं रखते। वे उसे अलग काव्य-हेतु मानने के पक्षपाती नहीं थे। ध्वन्यालोककार ने लिखा है—

न काव्यार्थविरामोऽस्ति यद्विद्यात् प्रतिभा गुणः । (ध्वन्यालोक ४।६)

अर्थात् यदि कवि में प्रतिभा है तो उसके काव्यार्थों की कोई सीमा नहीं हो सकती। इसी प्रकार महिमभट्ट ने भी लिखा है—

“सा हिचक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते । येन साक्षात्करोत्येवभावात्त्रैलोक्य-
वतिनः ॥ (व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १०८)

अर्थात् कवि की प्रतिभा शिव के तृतीय नेत्र के सदृश होती है । जिस प्रकार कोई संसार का ऐसा विषय नहीं है, जो शिव के तृतीय नेत्र की पहुँच के बाहर हो, उसी प्रकार कोई ऐसा काव्यार्थ नहीं है जो कविता की उद्भावना-शक्ति से परे हो ।

अभ्यास—भारतीय आचार्यों ने काव्योत्पत्ति का तृतीय हेतु अभ्यास बताया है । भामह ने लिखा है—

“शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विबुधासनम् ।

विलोक्यान्यनिबंधांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥” (काव्यालंकार १।१०)

अर्थात् शब्दार्थ के स्वरूप का ज्ञान करके सतत अभ्यास द्वारा उनकी उपासना करनी चाहिए । और साथ ही साथ दूसरों के निबंधों का भी अध्ययन करना चाहिए जिससे अभ्यास नित्य प्रति दृढ़ होता जाए । आचार्य वामन ने ‘अभियोग वृद्ध सेवा अवक्षेपण’ के बहाने अभ्यास की ही चर्चा की है ।

कुछ आचार्य लोग प्रतिभा और व्युत्पत्ति के अभाव में केवल अभ्यास से ही काव्योत्पत्ति का होना बताते हैं । ऐसे आचार्यों में दंडी विशेष उल्लेखनीय हैं । उन्होंने लिखा है—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना-

गुणानुबंधि प्रतिभानमद्भुतम् ।

भूतेन यत्नेन च वागुपासिता

ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।

वदस्ततम्ब्ररनिशं सरस्वती-

भ्रमादुपास्या खलुकीर्तिमोप्सुमिः ।

कृशे कवित्वेऽपिजनाः कृतश्मता

विबग्धगोष्ठीषु विहर्तुमोशते ॥”

(काव्यादर्श १।१०४, १०५)

अर्थात् यदि पूर्व वासनारूप प्रतिभा किसी में भी नहीं भी है तो भी वह सरस्वती की साधना से तथा शास्त्रों के श्रवण से सफल कवि बन सकता है ।

इसके विपरीत प्रतिभावादी कवि काव्य के उद्भव में अभ्यास को कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं देते हैं । आनन्दवर्धन ने बन्धच्छाया के लिए प्रतिभा की आवश्यकता मानी है, अभ्यास की नहीं । उन्होंने निम्नलिखित पंक्ति से इसी बात की व्यंजना की है—

‘बन्धच्छायाव्यर्थं ह्यनारूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानामाद्ये कथमुपपद्यते ?’

अर्थात् प्रतिभा के अभाव में ‘बन्धच्छाया’ अथवा रचना-सौंदर्य कैसे संभव हो सकता है । ध्वनिवादियों की तरह प्रतिक्रियावादी आचार्य भी ये । इस बात का पता हमें काव्य मीमांसा से चलता है । काव्य-मीमांसाकार ने लिखा है कि मंगल कवि केवल अभ्यास को ही काव्योत्पत्ति का प्रमुख हेतु मानते हैं । ‘अभ्यासः (काव्यकर्मणिपरं

ध्याप्रियते) इति मंगलः । अविच्छेदेनशीलनमभ्यासः । सहि सबगामी सर्वत्र निरतिशय कौशलमाधत्ते ॥ (काव्यमीमांसा ४) अर्थात् आचार्य मंगल के अनुसार अभ्यास अर्थात् अविच्छिन्न परिशीलन निरतिशय हेतु है ।

आचार्य मम्मट ने 'करणे योजने च पीनः पुन्येन प्रवृत्तिः' लिखकर अभ्यास का ही आदेश दिया है ।

अभ्यास और पाक—अभ्यास से ही कवि पाक को प्राप्त होता है । आचार्य राजशेखर ने लिखा है—'सततमभ्यासवशः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति ।' अर्थात् सतत अभ्यास से सुकवि की रचना पाक या परिपक्वता को प्राप्त होती है ।

पाक—संस्कृत आचार्यों ने कवि-कर्म की परिपक्वता को पाक कहा है । कवि-कर्म की परिपक्वता की कसौटी क्या है ? इस सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है । इस मत-वैषम्य के कारण ही विभिन्न विद्वानों की पाक-सम्बन्धी धारणाओं में अन्तर है । आचार्य राजशेखर ने इस अन्तर की थोड़ी-सी चर्चा की है ।

मंगल आचार्य का मत—आचार्य मंगल ने अभ्यास की परिपक्वता को पाक कहा है । उनका कहना है कि सुन्दर शब्दों का औचित्यपूर्ण प्रयोग ही पाक है । अपने इस मत के पोषण में किन्हीं अज्ञात नाम आचार्य का मत उद्धृत करते हुए राजशेखर ने लिखा है—'कविता सन्दर्भ के अनुकूल पदों के रखने और हटाने में जब तब चित्त चंचल रहता है, तभी तक कवि की अपरिपक्वता की अवस्था है । जब पद-विन्यास में स्थिरता प्राप्त हो जाय तब समझना चाहिए कि अब सरस्वती सिद्ध हो गई ।'

वामन का मत—जब एक बार में प्रयुक्त पदों के पुनः परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती, तब उसे पाक कह सकते हैं । वामन ने अपने इस मत के पोषण में किसी पूर्वाचार्य का प्रमाण देते हुए लिखा है—

यत्पदानि न त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतां ।

तं शब्दं न्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥

अर्थात् शब्द शास्त्र के निष्णात विद्वान् शब्द पाक उसे कहते हैं, जहाँ एक बार प्रयुक्त शब्द पुनः परिवर्तन की अपेक्षा न रहे ।

राजशेखर की पत्नी अबन्ति सुन्दरी का मत—अबन्ति सुन्दरी ने वामन के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि महाकवियों के काव्यों में एक के स्थान पर अनेक पाठ मिलते हैं । वे सभी परिपक्व तथा उपयुक्त भी होते हैं । इसलिए रस के अनुकूल और अनुगुण शब्द अर्थ एवं सूक्तियों का निबन्धन करना पाक है । अपने मत के पोषण में उन्होंने दो मत उद्धृत किए हैं । वे इस प्रकार हैं—

गुणालंकाररीत्युक्तिशब्दार्थप्रयत्नक्रमः ।

स्वदत्ते सुधिया येन वाक्य पाकः स मां प्रति ॥

गुण, अलंकार, रीति और उक्ति के अनुसार शब्दों और अर्थों का जो संगुणन क्रम होता है, वह सदृश्यों, श्रोताओं और भावकों को आकर्षक और स्वाद्य

प्रतीत होता है। इसके समर्थन में उन्होंने एक दूसरा श्लोक उद्धृत किया है—

सति वक्तारि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति ।

अस्ति तत्र विना येन परित्यजति वाङ्मधु ॥

अर्थात् कवि, अर्थ, शब्द इन सभी के रहने पर भी जिसके बिना वाङ्मधु का परित्यजण नहीं होता, वह अनिवर्चनीय वस्तु पाक है। जो सहृदय जनों द्वारा आस्वाद्य और काव्य का प्रधान जीवन है अर्थात् सब कुछ होते हुए भी कवि में प्रौढ़ता और जीवन डाल देती है। यह प्रौढ़ता ही पाक है।

राजशेखर का मत—राजशेखर ने लिखा है—

‘कार्यानुमेयता यत्रच्छब्दानिवेद्यः परः पाको भिधा विषयस्तत्सहृदयं प्रसिद्धं सिद्ध एव व्यवहारांगमसौ इति यायावरीयः’ अर्थात् जहाँ पदों के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, वह शब्द पाक वाला काव्य होता है। जहाँ रस, गुण, अलंकारों का सुन्दर क्रम है, वह वाक्य पाक है। इसका निर्णय सहृदय समालोचकों की आलोचना पर ही निर्भर है।

पाक के भेद-प्रभेद—कवियों में पाए जाने वाले पाकों के नाम और विशेषताओं के सम्बन्ध में आचार्यों में बड़ा मतभेद है। किन्तु सबसे अधिक प्रचलित मत राजशेखर का है। अतः उन्हीं के अनुसार हम पाकों के भेदों का निरूपण कर रहे हैं। राजशेखर ने पाक नौ प्रकार के बताए हैं। उनके नाम-गुण इस प्रकार हैं—

१. पिचुमन्द पाक—आदि और अन्त दोनों में अस्वादु नीरस पाक का नाम पिचुमन्द पाक है। पिचुमन्द नीम को कहते हैं। वह सदा तिक्त ही रहता है। ऐसी काव्य-रचना जो आदि और अन्त दोनों में नीरस हो उसे पिचुमन्द पाक वाली कहते हैं।

२. बदर पाक—जो रचना आदि में नीरस और अन्त में सरस होती है, उसे बदर पाक वाली रचना कहते हैं।

३. मृद्वी पाक—जो काव्य मृद्वी के सदृश पहले कुछ नीरस, कसैला, और अन्त में मधुर स्वाद वाला होता है, उसे मृद्वी पाक की स्थिति मानते हैं।

४. वार्त्तिक पाक—जो काव्य वार्त्तिक (बैंगन) के सदृश आदि में कुछ अच्छा और अन्त में फिर नीरस होता है उसे वार्त्तिक पाक कहते हैं।

५. तित्तिडीक पाक—जो रचना तित्तिडीक की भाँति आदि और अन्त दोनों में एक से स्वाद की होती है, उसे तित्तिडीक पाक वाली रचना कहते हैं।

६. सहकार पाक—जो रचना आदि में साधारण और अन्त में मधुर पाक की होती है, उसे सहकार वाली रचना मानते हैं।

७. क्रमुक पाक—क्रमुक (सुपारी) की भाँति जो रचना आदि में मधुर अन्त में नीरस होती है, उसे क्रमुक पाक वाली रचना कहते हैं।

८. त्रपुस पाक—जो रचना त्रपुस (ककड़ी) की भाँति आदि से मधुर, अन्त में कुछ फीकी होती है, उसे त्रपुस पाक वाली रचना कहते हैं।

६. नारिकेर पाक—जो रचना आदि से अन्त तक मधुर होती है, उसे नारिकेर पाक वाली रचना कहते हैं ।

कुछ आचार्यों ने इनके अतिरिक्त अन्य पाकों की भी वर्णना की है । जैसे—

१०. औषधि पाक—जो पाक औषधि की भाँति स्वाद में प्रयत्नज पाण्डित्य के कारण कटु और परिणाम में हितकर होता है, उसे औषधि पाक कहते हैं । नैषधीय चरित में यह पाक अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है ।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों की काव्य-हेतु रूप से चर्चा की है । मम्मट, रुद्रट आदि कुछ आचार्य तीनों के समन्वित रूप को ही काव्य का प्रमुख हेतु मानते थे । रुद्रट ने स्पष्ट लिखा है—

“त्रितयमिदं ध्याप्रियते शवितर्युत्पत्तिरभ्यासः”—रुद्रट, काव्यालंकार सूत्र, १।१४

कुछ आचार्य प्रतिभा और व्युत्पत्ति दो को ही काव्य का प्रमुख हेतु मानते थे । आचार्य राजशेखर का नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उन्होंने लिखा है—‘प्रतिभाव्युत्पत्ति मित्यः समवेते श्रेयस्यौ इति यायावरीयः ।’ उन्होंने ही फिर आगे लिखा है—‘प्रतिभाव्युत्पत्तिश्च कविरित्युच्यते ।’ मंगल आदि आचार्यों ने केवल अभ्यास को ही काव्य-सर्जना का प्रमुख साधन माना है । हमारी अपनी धारणा है कि सफल कवि होने के लिए यों तो तीनों ही हेतु आवश्यक होते हैं, किन्तु इनमें भी प्रतिभा का होना सर्वथा अनिवार्य है ।

प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य हेतुओं को मैं गौण मानता हूँ । मेरी समझ में काव्य-रचना का प्रमुख हेतु सौन्दर्य शिक्षा है । जब सहृदय साहित्यकार लोक के अति यथार्थ सौन्दर्य से तृप्त नहीं होता, तब उसकी कला-प्रिय चेतना कलागत सौन्दर्य के साक्षात्कार के लिए तड़प उठती है । उसकी यह सौन्दर्य सम्बन्धी लिप्सा उसके अन्तर्जगत् में शिक्षा की भावना को जन्म देती है । यही शिक्षा उसकी काव्य निर्मिति का कारण बनती है । यह शिक्षा जब सम्भावित सौन्दर्य का विधान करती है, तब काव्य आदर्शवादी कहलाता है और जब यथार्थ सौन्दर्य का चित्रण और निरूपण करती है, तब उसे यथार्थवादी कहते हैं । यदि सहृदय में सौन्दर्य शिक्षा न उत्पन्न हो तो काव्य की सर्जना कदापि नहीं हो सकती । लोक इसका प्रमाण है । हम देखते हैं कि बड़े-बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति जीवन भर एक शब्द नहीं लिखते । सर्वशास्त्र निष्णात एक पत्र लिखने में भी सकुचाते हैं, तथा सतत अभ्यासी पद्य का एक चरण भी बनाने में सफल नहीं होते । यदि प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास काव्य के प्रमुख हेतु होते तो लोक में इस प्रकार के उदाहरण कदापि नहीं मिल सकते थे । काव्य-सर्जना का प्रमुख हेतु सौन्दर्य शिक्षा ही है । प्रतिभा आदि को सहायक हेतु भर माना जा सकता है ।

काव्य-प्रयोजन

प्रेरणा और प्रयोजन में भेद—मानव की प्रत्येक कृति प्रेरणा का परिणाम तथा

किसी प्रयोजन का वरदान हुआ करती है। काव्य उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। अतएव इसकी सज्जना के मूल में कुछ प्रेरणाओं और हेतु के रूप में कुछ प्रयोजनों का होना स्वाभाविक ही है। जहाँ तक प्रेरणाओं का सम्बन्ध है, वह प्रत्येक कवि की नहीं, वरन् एक कवि की प्रत्येक रचना की अलग-अलग हो सकती हैं। ये प्रेरणाएँ कभी संकोचवश, कभी विनय के कारण और कभी परिस्थितिवश अनभिष्यक्त ही रह जाती हैं। यही कारण है कि किसी भी रचना की वास्तविक प्रेरणा की खोज करना सरल नहीं होता। उसकी खोज करने के लिए आलोचक को कवि के बाह्य जीवन और अन्तर्जगत् का पूरा-पूरा अनुसन्धान करना आवश्यक होता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी रचना-विशेष की प्रेरणा सम्बन्धी जो खोज की है, वह ठीक ही है। उदाहरण के लिए हम कालिदास के काव्यों की प्रेरणा के प्रसंग को ले सकते हैं। आलोचकों ने उनके महाकाव्यों की सज्जना को स्पष्ट करने के लिए उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं की खोज की है। वे घटनाएँ आज दन्तकथा बन गई हैं। कुमार-सम्भव, मेघदूत, रघुवंश की सृजन-प्रेरणा के सम्बन्ध में एक कथा है—कहते हैं जब कालिदास काली की कृपा से सरस्वती का आशीर्वाद लेकर सर्वशास्त्रनिष्णात होकर अपनी पत्नी विद्योत्तमा के द्वार पर आए और पत्नी से द्वार खोलने को कहा। इस पर उनकी पत्नी ने प्रश्न किया—“अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः।” कहते हैं उन्होंने अपने पाण्डित्य का परिचय देने के लिए ही तत्काल ही इस वाक्य के प्रत्येक शब्द को लेकर श्लोक रच डाले। इन्हीं श्लोकों को लेकर बाद में उन्होंने कुमार सम्भव, मेघदूत और रघुवंश का प्रणयन किया। कुमार सम्भव का श्रीगणेश “अस्ति उत्तरस्यां विशि ब्रह्मास्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः” से, मेघदूत का—“कश्चित् कान्ताविरहगुण्णा” से, रघुवंश का—“वागर्षाविष सम्पुक्तो वागर्थप्रतिपत्तये” से किया है। इसी प्रकार की घटनाएँ कवि की रचना विशेष की प्रेरिका हुआ करती हैं। ये प्रेरणाएँ कवि और रचना भेद से सहस्रों रूपों में हो सकती हैं। इनको किसी सीमा या परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। अतएव उनका शास्त्रीयकरण भी नहीं हो सका है।

प्रयोजन प्रेरणा से थोड़ा भिन्न तत्त्व है। किसी रचना के मूल में प्रेरणा चाहे कुछ भी हो किन्तु उसकी सज्जना का प्रयोजन प्रायः व्यक्त और स्पष्ट हुआ करता है। जैसे हमने ऊपर कालिदास की तीन रचनाओं की प्रेरणा के प्रसंग में एक कथा उद्धृत की, किन्तु उन सब रचनाओं का प्रयोजन एक ही है। वह है—यश। काव्य प्रकाश में “कालिदासादीनां यशः” लिख कर इसी प्रयोजन का संकेत किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं प्रेरणा और प्रयोजन दोनों भिन्न तत्त्व हैं। दोनों को संभ्रमित नहीं करना चाहिए।

संस्कृत आचार्यों द्वारा वर्णित काव्य-प्रयोजनों की वर्णना—संस्कृत आचार्यों ने काव्य-प्रयोजनों पर विचार करते हुए निम्नलिखित प्रधान प्रयोजनों का उल्लेख किया है—

‘काव्यं यशसे अर्षकृते व्यवहारविदे शिबेतरक्षतये ।

सद्यः परिनिर्बु सये कान्तासम्मिततयोपवेशयुजे’ ॥ —काव्य प्रकाश

धर्माचकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

दुःखार्तानां भ्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्

विभ्रान्तिजननं लोके ध्रुवं भविष्यति ॥'

—नाट्यशास्त्र

उपर्युक्त उद्धरणों में निम्नलिखित प्रयोजन परिगणित किए गए हैं—

१. यश, २. अर्थ, ३. व्यवहार-ज्ञान, ४. शिवेतर क्षय, ५. प्रीति या पर निर्वृत्ति, ६. कान्ता-सम्मित-उपदेश, ७. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग की प्राप्ति, ८. कलाओं में वैचक्षण्य, ९. दुःखी, श्रमित और शोक-सन्तप्तों का मनोरंजन ।

इनके अतिरिक्त हिन्दी कवियों और साहित्यिकों ने कुछ प्रयोजनों का उल्लेख और किया है जैसे महात्मा तुलसीदास द्वारा निर्दिष्ट 'स्वान्तः सुख' और कबीर द्वारा निर्दिष्ट 'लोक-संग्रह' की भावना । आधुनिक विद्वानों ने इस दिशा में और अधिक चिन्तन करके कुछ नई खोजें भी की हैं । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नेगेन्द्र ने आत्माभिव्यक्ति को एक काव्य-प्रयोजन सिद्ध करने की चेष्टा की है । इस प्रकार सब मिलाकर काव्य-प्रयोजनों की संख्या १२ तक पहुँच गई है । यहाँ पर हम अब उन सब पर संक्षेप में विचार करेंगे ।

यश—सम्भ्रान्त कवियों की रचनाएँ यश-कामना से लिखी जाती रही हैं । इसका मनोवैज्ञानिक कारण है । अंग्रेजी कवि मिल्टन ने यश को मानव की अंतिम और उदात्ततम कामना कहकर इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का निदर्शन किया है । कवि भी एक उदात्त प्राणी है । अतः काव्य प्रयोजनों में आचार्य मम्मट ने यश को सर्वथा प्रथम प्रयोजन कहा है । रुद्रट ने लिखा है—'महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ, अपने तथा नायक के प्रत्यक्ष युगान्त तक रहने वाले जगद्व्यापी यश का विस्तार करता है' ।

उल्लुब्धुल्लुब्धवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।

स्फुटमाकल्पमनस्यं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥

भामह ने भी लिखा है—'करोति कीर्ति प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिबन्धनम्' ।

वामन का मत भी ऐसा ही है 'काव्यंसद्वदृष्टादृष्टार्चं प्रीतिकीर्तिहेतुरवात्' ।

धन्यास्ते ते महात्मानः तेषां लोके स्थितं यशः ।

यं निबद्धानि काव्यानि ये वा काव्येषु कीर्तिता ।

'यश' प्रयोजन के दो पक्ष हो सकते हैं । एक स्व-पक्ष और दूसरा पर-पक्ष । काव्य-रचना करके कभी तो कवि अपने यश का विस्तार करता है जैसे कालिदास आदि कवियों ने किया और कभी वह काव्य रच कर दूसरों का कीर्ति-विस्तार करता है, जैसे वाण आदि कवि, जिन्होंने हर्ष आदि अपने आश्रय-दाताओं का वशः गान किया था ।

'तत्कारितं सुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन ।

न भवेन्मामासि ततो यदि न स्युः सुकवयो राजाब् ॥' —काव्यालंकार १।५

अर्थात् इस संसार में सैकड़ों सम्राट् हो चुके हैं । उन्होंने न मालूम कितने

महान् कृत्य किए थे किन्तु इतिहास को उनका नाम तक नहीं पता है। इतिहास में उन्हीं का नाम उपलब्ध है जिनकी कीर्ति का विस्तार महाकवियों ने किया था। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि विश्वरूप ने भी अपने एक श्लोक में इसी भाव का प्रतिध्वनन किया है :

महीपतेः सन्ति न यस्य पादवै,
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि ।
भूपा कियन्तो न बभूवुष्वप्या,
नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम् ।

—विक्रमांक० १।२६

इस प्रयोजन से हिन्दी के बहुत से कवियों ने काव्य-रचना की है। यशः विस्तार की कामना लेकर काव्य-सर्जना करने वालों में जायसी का नाम ले सकते हैं। उन्होंने अपने काव्य प्रयोजन का उल्लेख करते हुए लिखा है—

केइ न जगत जस बेचा केइ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ कहानी मोहि सवेरें बुइ बोल ॥

आचार्य भिखारी दास ने रहीम को यशःकामी कवि बताया है।

“एकन्ह को जस ही से प्रयोजन है रसखानि रहीम को नाई ।”

रस के पर-पक्ष को लेकर तो सैकड़ों कवियों ने काव्य-सृष्टि की थी। रीतिकाल के अधिकांश कवियों की काव्य-सृष्टि का प्रयोजन अपने आश्रयदाताओं की कीर्तिगान करना था। इस प्रकार हिन्दी कवियों ने भी यश को काव्य का एक प्रयोजन बताया है। रीतिकालीन आचार्य कुलपति ने इसीलिए काव्य-प्रयोजनों के अन्तर्गत ‘जस’ को भी परिगणित किया है—

“जस सम्पत्ति अलम्ब अति दुरितन डारें छोड़ ।
होत कबित ते चतुरई जगत राम बस होइ ॥”

इसी प्रकार आचार्य सोमनाथ ने भी काव्य-प्रयोजनों के अन्तर्गत कीर्ति को स्थान दिया है—

“कीरति बिस बिनोद सब अति मंगल को बेति ।
करै भलो उपदेश नित बहु कबित बिस बेति ॥”

इस प्रकार हम देखते हैं काव्य-प्रयोजनों में यश की मान्यता निरन्तर रही है।

अर्थ—काव्य रचना का एक प्रयोजन अर्थप्राप्ति भी बताया गया है। लगभग सभी संस्कृत आचार्यों ने इस प्रयोजन को काव्य-प्रयोजन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस दृष्टि से निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है। सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट की उक्ति देखिए—

“अर्थजनार्थोपक्रमे कविसम्पन्नवशं मतं ब्रूयात्स्य ।
किरचितकचिरं कुरस्तुतिरभिलं समते तदेव कविः ॥”

—रुद्रट का काव्यालंकार

संस्कृत आचार्यों ने ही नहीं हिन्दी आचार्यों ने भी अर्थ को एक प्रमुख साधन परिगणित किया है। कुलपति ने “जस सम्पत्ति” इत्यादि लिख कर, सोमनाथ ने “कीरति वित्त विनोद” आदि कह कर इसी प्रयोजन की चर्चा की है। आचार्य भिखारीदास ने “एक लहै बहु सम्पत्ति,” केशव ने “भूषण ज्यों वर बीर बढ़ाई” लिख कर उस प्रयोजन का ही निर्देश नहीं किया है, वरन् उस प्रयोजन को लेकर कविता करने वाले रीतिकालीन हिन्दी कवियों का भी निर्देश कर दिया है। संस्कृत और हिन्दी में ऐसे अनेक कवियों की चर्चा मिलती है, जिन्होंने “अर्थकृते” कविता की थी। कहते हैं कि वाण ने हर्ष के लिए, हर्ष के नाम से, “रत्नावली”, “प्रिय-दर्शिका”, और “नागानन्द” की रचना की थी। इसी प्रकार “राजतरंगिणी” से ज्ञात होता है कि उद्भट आदि आचार्य कवियों को प्रतिदिन लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ मिला करती थीं। हिन्दी में बिहारी के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध है ही कि उन्होंने राजा जयसिंह से एक-एक दोहे के लिए एक-एक अशर्फी ली थी। इसी प्रकार अनेक साहित्यकार साहित्य का सृजन इसी प्रयोजन को दृष्टि में रख कर करते हैं। आधुनिक युग में तो यह एक प्रधान प्रयोजन है। अधिकांश साहित्य इसी दृष्टिकोण से रचा जा रहा है।

व्यवहार-ज्ञान—मम्मट ने व्यवहार-ज्ञान की शिक्षा को भी काव्य का एक प्रयोजन माना है। अन्य संस्कृत आचार्यों ने भी इस प्रयोजन का समर्थन किया है। आचार्य कुन्तक का मत विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उन्होंने लिखा है—‘सत्काव्य में औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा का निदर्शन प्रधान रहता है।’ संस्कृत में बहुत सा साहित्य इसी प्रयोजन को दृष्टि में रख कर रचा गया था। षंभतंत्र, हितोपदेश आदि की रचना का यही प्रयोजन था। आचार्य शुक्लजी भी काव्य के इस प्रयोजन के पक्षपाती थे। उन्होंने लिखा है—‘अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है। उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव, प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है। (चिन्तामणि, पृष्ठ २१६)

शिवेतर क्षतये—भारत में काव्य केवल आनन्द की वस्तु रूप कला मात्र न था। वह “हितेन सह इति सहितम्। तस्य भावः साहित्यः” भी था अर्थात् लोकहित भी उसका प्रधान लक्ष्य था। अतः काव्य के प्रयोजनों में शिवेतर-क्षय को भी महत्त्व दिया गया है। इस प्रयोजन को संस्कृत-हिन्दी के कई आचार्यों ने मान्यता दी है।

रीतिकालीन आचार्य कुलपति ने “दुरितन डारै खाय”, सोमनाथ ने “अति मंगल को हेतु”, लिखकर इसी प्रयोजन को प्रतिष्ठा दी है। संस्कृत के बहुत से कवियों ने शिवेतरक्षय के लिए ही कविता की थी। उदाहरण के लिए हम मयूरकवि, पण्डित-राज जगन्नाथ के दृष्टान्त ले सकते हैं। मयूर कवि वाण के ससुर थे। एक दिन प्रातः-काल मयूर वाण के घर के द्वार पर पहुँच गए। उधर वाण अपनी मानवती बाला पत्नी के मान को दूर करने के लिए श्लोक बना रहे थे। उसका चतुर्थ चरण नहीं बन रहा था। मयूर ने बिना सारा रहस्य समझे हुए ही चतुर्थ चरण “कुञ्च प्रत्या-सत्या चण्डि ते ह्रव्यमपि कठोर” बना कर पढ़ दिया। दूसरे के द्वारा यह पंक्ति रचित देखकर उनकी पत्नी ने अपने पिता की बोली को बिना पहचाने हुए कुष्ठरोगी होने

का श्राप दे दिया। सती के शाप से पिता कुष्ठरोगी हो गए। बाद में उन्होंने सूर्य-शतक की रचना करके रोग से मुक्ति पाई। इसी प्रकार कहते हैं पण्डितराज जगन्नाथ भी लवंगी नामक यवन-कन्या से विवाह करने के कारण कुष्ठरोग से पीड़ित हो गए थे। उन्होंने बाद में “गंगा-लहरी” की रचना करके उस रोग से निवृत्ति प्राप्त की थी। कुछ हिन्दी कवियों ने भी इस प्रयोजन से कविता की थी, जैसे महात्मा जी ने बाहु की पीड़ा के निवारण के लिए हनुमान बाहुक की रचना की थी। विद्यापति ने अपने आश्रयदाता को दिल्ली-अधिपति के कारागार से मुक्त किया था। इस प्रकार शिवेतर क्षय भी काव्य-सर्जना का एक प्रयोजन होता है।

प्रीति—संस्कृत आचार्यों ने प्रीति को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना है। प्रीति का क्या अर्थ है इसको स्पष्ट करते हुए सरस्वती कण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने लिखा है—‘प्रीतिः सम्पूर्णकाव्यार्थस्वादसमुत्थः आनन्दः’। आचार्य अभिनवगुप्त और आनन्दवर्द्धन दोनों ही इसी को काव्य का प्रधान प्रयोजन मानते थे। ‘तथा तत्र प्रीतिरेव प्राधान्यं’ लिखकर लोचन टीकाकार ने इसी बात की व्यञ्जना की है। भामह ने ‘करोति कीर्तिञ्च प्रीतिञ्च’, वामन ने ‘प्रीति कीर्ति हेतुस्वाद्’ लिखकर इसी प्रयोजन को महत्त्व दिया है। आचार्य कुन्तक ने भी लिखा है—संस्कृत के अन्य प्रसिद्ध आचार्यों ने भी इस प्रयोजन की चर्चा की है। कुन्तक ने भी लिखा है—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विधापम् ।

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो बितन्यते ॥—वक्रोक्ति जीवितम् १।५

अर्थात् चतुर्वर्गफलास्वाद से भी बढ़ कर अन्तश्चमत्कार विधान काव्य का प्रयोजन होता है।

आचार्य भोज ने भी “रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति” लिखकर इसी का समर्थन किया है। हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य शुक्लजी भी काव्य के इसी प्रयोजन में विश्वास करते थे। यह बात निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है—

मम्मट ने इस प्रयोजन का उल्लेख ‘सद्यः परनिवृत्तये’ लिखकर किया है। पर निवृत्ति का अर्थ है—साधारणीकरण की अवस्था में पहुँच जाना। सत् काव्य वही होता है, जो श्रोता या पाठक को तुरन्त साधारणीकरण की अवस्था में ले जा कर रस-निमग्न कर दे। इसीलिये आचार्यों ने ‘सद्यः परनिवृत्ति’ या रस निष्पत्ति को ‘सकलमौलिभूत’ प्रयोजन माना है।

कान्तासम्मित उपदेश—प्राचीन आचार्यों ने उपदेश को भी एक काव्य-प्रयोजन माना है। उपदेश की तीन शैलियाँ होती हैं। प्रभु-सम्मित, सुहृद-सम्मित और कान्ता-सम्मित। प्रभु-सम्मित उपदेश के उदाहरण वेद, शास्त्रादि के विधि वाक्य हैं। पुराणादि सुहृद-सम्मित उपदेश के उदाहरण हैं। काव्य में कान्ता-सम्मित उपदेश सन्निहित रहता है। जिस प्रकार कान्ता मधुर हाव-भावों से पुरुष को मुग्ध करके उसे अपनी इच्छानुरूप नीति-मार्ग पर ले आती है, उसी प्रकार काव्य भी मधुर कथा और ध्वनि के सहारे मनुष्य को उच्च आदर्शों की शिक्षा देता है। प्रत्येक काव्य का

कुछ उद्देश्य हुआ करता है। उद्देश्य में ही उसकी सारी शिक्षा, उसका सम्पूर्ण सन्देश सन्निहित रहता है। कबि उसकी विविध प्रकार से व्यंजना और संकेत करता है। संदेश बिहीन काव्य केवल खिलवाड़ मात्र होता है। अतः उपदेश सत्काव्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन होता है। इसीलिए मम्मट के अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी के अन्य आचार्यों ने भी इस प्रयोजन को प्रतिष्ठा दी है। संस्कृत आचार्यों में भरत ने “अबुधानां विबोधश्च” तथा “लोकोपदेश जननं” लिखकर इसी प्रयोजन की व्यंजना की है। आचार्य भामह ने इस प्रयोजन का बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है—

“स्वादुकाव्यरसोन्मिथं शास्त्रमद्युपयुक्ते ।

प्रथमावलीङ्मघवः पिबन्ति कटुमेवजम् ॥”—काव्यालंकार सूत्र ५।३

अर्थात् काव्य-रस के मधुर आस्वाद की मधुरिमा से मिश्रित शास्त्र शिक्षा सरलता से ग्रह्य हो जाती है जिस प्रकार मिठाई के लोभ से बालक बटु औषधि भी खा लेते हैं। आचार्य कुन्तक ने भी इस प्रयोजन का उल्लेख किया है—

कटुकीषधबच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।

ग्राह्यस्तुतवत् काव्यविवेकगदापहम् ॥

अर्थात् वेद शास्त्रादि के सन्निहित उपदेश कटु औषध के सदृश होते हैं किन्तु काव्य में ध्वनित उपदेश मधुर अमृत के समान होते हैं।

हिन्दी आचार्यों ने भी इस प्रयोजन को मान्यता दी। महात्मा तुलसीदास ने लिखा है—

कीरति भणिति भूति भलि सोई ।

सुरसरि सम सबकर हित होई ॥

रीतिकालीन आचार्य सोमनाथ ने भी उपदेश को प्रमुख प्रयोजन उपदेश माना है—

कीरति चित्त विनोद अरु अति मंगल को देति ।

करं भला उपदेश नित वह कवित्त चित्त छेति ॥

चतुर्वर्ग की प्राप्ति—प्राचीन आचार्यों ने अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति को काव्य का एक प्रयोजन बताया है। आचार्य भामह ने “धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च ।” लिखकर चतुर्वर्ग की प्राप्ति को ही प्रमुख प्रयोजन बताया है। रुद्रट ने भी लिखा है—

‘ननु काव्येन क्रियते सरसानमवगमश्च ।’

इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी “चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादस्त्वधियामपि” लिखकर इस प्रयोजन की मान्यता स्वीकार की है।

कला में वैचक्षण्य—आचार्य भामह ने कला नैपुण्य को भी काव्य का एक प्रयोजन माना है। भामह के इस कथन से यह प्रकट है कि उनकी दृष्टि में काव्य कला से ऊँची वस्तु थी। जो कबि काव्य-सृजन में निपुण होना उसे कला-नैपुण्य भी प्राप्त होगा। अतएव यह भी काव्य का एक प्रयोजन हुआ।

मनोरंजन—काव्य का एक प्रयोजन मनोरंजन भी है। पाश्चात्य देशों में तो

इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। हमारे यहाँ भी आचार्य भरत मुनि ने इसकी चर्चा की है। उन्होंने नाटक के प्रसंग में लिखा है—

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।

विश्रान्तिं जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

अर्थात् दुःखी, श्रमिन् और शोक-सन्तप्त मानवों के लिए वह विश्रान्ति-विधायक होगा।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में वर्णित उपर्युक्त काव्य-प्रयोजनों के अतिरिक्त कुछ काव्य-प्रयोजन और भी हो सकते हैं। उनकी भी संक्षिप्त चर्चा यहाँ कर देना चाहते हैं।

हिन्दी कवियों और आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट कुछ नवीन प्रयोजन

स्वान्तः सुख—महात्मा तुलसीदास ने अपने मानस प्रणयन का प्रयोजन “स्वान्तः सुख” कहा है। किन्तु मैं इसे काव्य-प्रयोजन मानने के पक्ष में नहीं हूँ। तुलसी ने स्वान्तः सुख की भाँड़ में अपने यश-कामना और उपदेश वाले प्रयोजनों पर आवरण डाला है। अपने कवि के प्रति उनका अत्यधिक विनय भाव उनकी लोकेषणा का ही परिचायक है। जब वे लिखते हैं—

कवि न होई नहि चतुर कहाऊँ ।

मति अनुरूप राम गुन गाऊँ ॥

कवित विवेक एक नहि मोरे ।

सत्य कहौं लिखि कागड कोरे ॥

तो वे अप्रत्यक्ष रूप में अपने कवि-गौरव की घोषणा करते हैं। ये उक्तियाँ ठीक उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार कोई धनवान् व्यक्ति अपनी धनाढ्यता की व्यंजना के लिए अपने को निर्धन कहता है। इतना होते हुए भी कीर्ति-कामना और उपदेश उनके गौण काव्य-प्रयोजन थे। उनका प्रमुख प्रयोजन अपने आराध्य का गुण-कथन करना था। यह गुण-कथन उन्होंने किसी कामना से नहीं भक्ति भावना से, प्रेरित होकर किया था। इसी अर्थ में उन्होंने स्वान्तः सुख को अपने काव्य का प्रयोजन कहा है। भक्त कवियों के लिए स्वान्तः सुख निश्चय ही एक काव्य प्रयोजन स्वीकार किया जा सकता है। सूर, तुलसी की काव्य-सर्जना का प्रयोजन यही मानना अनुचित न होगा। आचार्य भिखारीदास ने सूर और तुलसी के काव्य के प्रयोजन के रूप में पूर्व-जन्म के पुण्यों को माना है—

“एक लहै तप पुंजन के फल, ज्यों तुलसी और सूर की नाईं ।”

वस्तुतः, पूर्व-जन्म के पुण्य काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्त्व तो माने जा सकते हैं, किन्तु उन्हें काव्य-प्रयोजन मानना ठीक नहीं है।

हृदय की मुक्तावस्था की प्राप्ति—आचार्य शुक्ल ने काव्य-लक्ष्य पर बड़े विस्तार से विचार किया है। वे काव्य का प्रमुख लक्ष्य “हृदय की मुक्तावस्था में लाना” मानते थे। अपने इस लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—“काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे

मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्व-व्यापिनी और त्रिकालदर्शिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे से ऊँचे लक्ष्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान् के लोकरक्षक और लोकरंजक रूप से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन हो जाता है।”

—इन्दौरवाला भाषण ५०-५१,

इस प्रकार शुक्लजी काव्य के प्रयोजन के रूप में रस तथा मानव-हित मानते थे।

मानव-हित—आचार्य हजारीप्रसादजी का मत भी शुक्लजी के मत से मिलता-जुलता है। उन्होंने उनके रस वाले पक्ष पर बल न देकर मानव-हित वाले पक्ष पर ही बल दिया है। उन्होंने लिखा है—“मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गतिहीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके; जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न कर सके, जो उसके हृदय को पर-दुःखकातर और पर-दुःखसंवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।”

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सच्चे साहित्य का प्रयोजन मानव-हित होना चाहिए। किन्तु इसे हम स्वतन्त्र प्रयोजन नहीं मान सकते। इसका अन्तर्भाव प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट “व्यवहार विदे”, “शिवेतर-क्षतये”, तथा “कान्ता-सम्मित-तयोपदेशयुजे” में हो सकता है क्योंकि काव्य के यह तीनों ही प्रयोजन मानव-हित से ही सम्बन्धित हैं।

आत्माभिव्यक्ति—डा० नगेन्द्र आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन मानने के पक्ष में है। उन्होंने लिखा है—“आत्माभिव्यक्ति वह मूल तत्त्व है, जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।” (विचार और विवेचन से)।

आत्मानुभूति—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को काव्य का प्रमुख प्रयोजन सिद्ध करने की चेष्टा की है। उन्होंने लिखा है—“वह रचना काव्य नहीं, जिसमें वास्तविक अनुभूति का अभाव हो।”

(आधुनिक साहित्य पृष्ठ ४११-४१२)।

आत्म-हित—कुछ आचार्यों ने आत्म-हित को भी एक काव्य-प्रयोजन सिद्ध किया है। डा० गुलाबराय इस मत के ही पोषक हैं। उन्होंने सभी प्रमुख प्रयोजनों को इसी में समाहित करने की चेष्टा की है। उन्होंने लिखा है—“भारतीय दृष्टि से आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व में नहीं, विस्तार में ही आत्मा की पूर्णता है। लोक-हित भी एकात्मवाद की दृढ़ शिला पर खड़ा हो सकता है। यश, अर्थ, यौन सम्बन्ध, लोकहित सभी आत्म-हित के नीचे और उनके रूप हैं।”

इस प्रकार भिन्न-भिन्न आचार्यों ने काव्य के विभिन्न प्रयोजनों की चर्चा की है। अपने स्थान पर सब ठीक हैं। उपर्युक्त सभी प्रयोजन देश, काल और कवि-भेद से काव्य के प्रयोजन हो सकते हैं। किन्तु मैं इन सब प्रयोजनों को गौण मानता

हैं। इनमें से किसी भी प्रयोजन से काव्य का न तो वास्तविक स्वरूप ही स्पष्ट होता है और न उसके सच्चे उद्देश्य की ही सिद्धि होती है। काव्य को मैं मानवता का सन्देशवाहक मानता हूँ। जिस मधुर शब्द-विधान में मानव को मानव बनाये रखने की क्षमता नहीं, वह काव्य-पद का अधिकारी नहीं हो सकता। साहित्य या काव्य को काल्पनिक आदर्श के स्वर्ग की नसेनी मानने के पक्ष में भी मैं नहीं हूँ और न मैं उसे अति यथार्थ के नर्क का कीड़ा बनाये रखना ही उचित समझता हूँ। सत् साहित्य वही है, जो मानव को इस लोक का सच्चा मानव बनाये रखने में समर्थ हो। जो साहित्य राम और गाँधी बनने के उपदेश देने में ही अपने लक्ष्य की इतिश्री समझता है, उसे मैं देव-लोक की निधि कह कर समाहित कर सकता हूँ, अपना नहीं कह सकता। इसी प्रकार जो साहित्य मानव को दानव बनने की प्रेरणा देता है, उसे मैं काव्य नहीं उसका कंकाल-मात्र मानता हूँ। काव्य तो उसी सार्थक, सरस शब्द-विधान को कहेंगे, जो हमें हँसा सके, हला सके, और उस हँसी तथा रुदन में जीवन का, आनन्द की मधुरमा चेतना का समुचित संचार भी कर सके। इतना ही नहीं, उसका कार्य हमारे अन्तर्जगत् में प्रसुप्त संवेदना की उस मानवी वृत्ति को जाग्रत करना है, जो हमें दूसरों के दुःख में दुःखी तथा सुख में सुखी होना सिखाती है। जो दूसरों के दुःख में दुःखी तथा सुख में सुखी नहीं हो सकता, उसे मानव नहीं पत्थर कहना चाहिए। साहित्य का प्रमुख प्रयोजन ऐसे पत्थरों को ही मानव बनाना, देवों को आदर्शों के काल्पनिक स्वर्ग से उतार कर यथार्थ मानव-लोक में लाना, तथा दानवों को अति यथार्थ की कठोर भूमिका से उठा कर मानवता की सरसमयी भूमि पर प्रतिष्ठित करना है।

पाश्चात्य आचार्य और काव्य-प्रयोजन—अरस्तू—प्राचार्य अरस्तू ने जैसा कि प्राचार्यप्रवर डाक्टर नगेन्द्र ने 'अरस्तू का काव्य शास्त्र की' भूमिका में लिखा है—काव्य के प्रमुख प्रयोजन दो माने हैं—१. शिक्षा, २. आनन्द। इन दोनों प्रयोजनों का हमारे यहाँ के व्यवहार ज्ञान, 'बुद्धि विवर्धन' 'कान्तासम्मित उपदेश' तथा 'सद्यः पर-निर्वृत्ति' या प्रीति में सरलता से हो जाता है। अतः यहाँ पर हम विस्तार से विचार नहीं करेंगे। पाठक डाक्टर नगेन्द्र-लिखित अरस्तू के 'काव्य शास्त्र की भूमिका' देख सकते हैं।

काव्य के भेद

संस्कृत आचार्यों द्वारा किये गये काव्य के भेद—संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने काव्य के भेदों का निरूपण, अभिव्यक्ति, रूपाकार, प्रवृत्ति, बन्ध, शैली आदि कई आधारों पर किया है। यहाँ पर संक्षेप में हम प्रमुख संस्कृत आचार्यों द्वारा किए गए काव्य भेदों की संक्षिप्त चर्चा कर देना चाहते हैं।

आचार्य भामह कृत काव्य-भेद—इन्होंने अपने काव्यालंकार में काव्य-भेदों का निरूपण इस प्रकार किया है—

वृत्तवेदादिष्वरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च ।

कला शास्त्राभ्यंघेति चतुर्धा भिद्यते पुनः—॥१॥१६॥

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।

अग्निबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चषोष्यते—॥१।१८॥

अर्थात् प्रतिपाद्य वस्तु के आधार पर काव्य को चार भेदों में बाँटा जा सकता है—१. देवादि वृत्त विषयक, २. उत्पाद्य वस्तु, ३. कलाश्रित, ४. शास्त्राश्रित। बन्ध की दृष्टि से उसके पाँच भेद किये जा सकते हैं—१. सर्गबद्ध, २. अभिनेय वस्तु, ३. आख्यायिका, ४. कथा तथा ५. अग्निबद्ध अर्थात् मुक्तक ।

उन्होंने बन्ध की दृष्टि से किये गये विभेदों की व्याख्या भी की है। इनमें महाकाव्य के शास्त्रीय स्वरूप की चर्चा हमने इसी पुस्तक के दूसरे भाग में विस्तार से की है। यहाँ पर पिष्टपेषण नहीं करना चाहते हैं। नाटक के सम्बन्ध में इन्होंने लिखा कि वह अभिनय योग्य एक प्रकार की वर्णना है। उसके उन्होंने द्विपदी, शम्या, रासक, स्कन्धक आदि कुछ भेदोपभेद भी गिनाए हैं। ये भेदोपभेद आजकल पंडितों में मान्य नहीं हैं। इसलिए हम इनकी विस्तृत चर्चा नहीं कर रहे हैं। आख्यायिका और कथा के स्वरूप को इन्होंने बहुत स्पष्टता से समझाने की चेष्टा की। आख्यायिका को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

प्रकृतानुकूलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना ।

गद्येन युक्तोदात्तार्थो सोच्छ्वासाख्यायिका मता—॥१।२५॥

वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।

वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यायंशंसि च—॥१।२६॥

अर्थात् जिस रचना में प्रकरण की अस्पष्टता नहीं होती, शब्द और अर्थ श्रव्य होते हैं, गद्य का प्रयोग किया जाता है, अर्थ उत्तम होता है, उसका विभाजन उच्छ्वासों में किया जाता है। नायक स्वयं अपने वृत्त और चेष्टा का वर्णन करता है, वक्त्र और अपर वक्त्र छन्दों की प्रचुरता पाई जाती है, यथास्थान भावी अर्थ की व्यंजना भी की जाती है, उसे आख्यायिका कहते हैं।

कथा के स्वरूप को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कंश्चिदंकिता ।

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता—॥१।२७॥

न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ।

संस्कृत संस्कृता चेष्टा कथापञ्चशभाक्तया—॥१।२८॥

अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन नु नोच्यते ।

स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः—॥१।२९॥

अर्थात् जिस रचना में कवि के साभिप्राय कथनों की प्रचुरता हो, कन्यापहरण, युद्ध, वियोग आदि की वर्णना हो, वक्त्र और अपर वक्त्र छन्दों का प्रयोग न किया हो, उच्छ्वास भी न हों, संस्कृत और अपभ्रंश दोनों भाषाएँ प्रयुक्त की गई हों, तथा नायक के द्वारा उसकी आत्म-प्रशंसा भी न हो, उसे कथा कहेंगे।

अनिबद्ध अथवा गाथा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, कि जो रचना प्रबन्ध रहित होती है, तथा श्लोकों में लिखी जाती है, तथा जिसमें वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति आदि की प्रतिष्ठा पाई जाती है, उसे गाथा, अनिबद्ध वा मुक्तक कहेंगे।

भामह ने वृत्तदेवादिकरितशंती, उत्पाद्य, कलाश्रित और शास्त्राश्रित नामक काव्य-भेदों के स्वरूप का निरूपण बिस्तार से नहीं किया है।

अग्नि पुराण में दिए गए भेद—अग्नि पुराणकार ने भी काव्य के भेदों पर विचार किया है। किन्तु उसके भेद बहुत स्थूल हैं। उसने सम्पूर्ण काव्य को तीन भागों में विभाजित किया है, १. श्रव्य—जिसके अन्तर्गत काव्यादि रखे गए हैं; २. अभिनेय—जिसके अन्तर्गत नाटकादि आते हैं; तथा ३. प्रकीर्ण—जिसके अन्तर्गत पत्रादि समेटे गए हैं।

‘श्रव्यं श्रव्याभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः’,

आचार्य दण्डी कृत काव्य भेद—आचार्य दण्डी ने काव्य विभेदों का वर्णन निम्नलिखित श्लोकों में किया है—

पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिवेद व्यवस्थितम्।

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा—।१।११॥

छन्दोविचित्र्या सकलस्तत्प्रबन्धो निर्दिशितः।

सा विद्या नौर्बविक्षणां गम्भीरं काव्यसागरम्—॥१।१२॥

मुक्तक कुलकं कोशः संघात इति तावृशः।

सर्गबन्धांशरूपस्यावमुक्तः पद्यविस्तरः ॥

अर्थात् काव्य के स्थूल रूप से पद्य, गद्य तथा मिश्र ये तीन विभाग किये जा सकते हैं। पद्य में चार चरण होते हैं। कुछ छन्द जाति छन्द में होते हैं और कुछ वृत्त छन्द में। मुक्तक, कुलक, कोश और संघात आदि का, सर्गबन्ध अथवा महाकाव्य का अंश होने के कारण पद्य-विस्तार नहीं किया गया है।

आचार्य वामन कृत काव्य के भेद—वामन ने काव्य के प्रमुख रूप से दो भेद बताए हैं—एक गद्य और दूसरे पद्य। ‘काव्यं गद्यं पद्यं च’। गद्य के भी उसने तीन भेद किए हैं—१. वृत्तगन्धी, २. चूर्ण और ३. उत्कलिका। जो गद्य पद्य के सदृश प्रतीत होता है, उसे वृत्तगन्धी कहते हैं। इसमें छन्द नहीं होते किन्तु फिर भी छन्दों जैसा आनन्द रहता है। इसीलिए इसे वृत्तगन्धी कहा जाता है। चूर्ण छोटे समास वाली रचना को कहते हैं। वामन ने उसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

‘अनाविद्याग्यदीर्घसमासानि ललितान्यनुदत्तानि पदानि यस्मिंस्तदनाविद्धललित-पदं चूर्णमिति।’

अर्थात् जिस रचना में दीर्घ समास नहीं होते तथा जो सुन्दर कौमल पदों से युक्त होते हैं, उस अनाविद्ध ललित पद विशिष्ट गद्य को चूर्ण कहते हैं।

उत्कलिका चूर्ण के विपरीत रचना होती है। उसमें दीर्घ समास होते हैं तथा उद्धत पद पाए जाते हैं। पद्य के इन्होंने दो भेद बताए हैं—१. निबद्ध, और २. अनिबद्ध। इसमें इन्होंने निबद्ध को उत्तम और अनिबद्ध को उसकी अपेक्षा कुछ हेय व्यंजित किया है। मुक्तक या अनिबद्ध के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

असंकलित रूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता ।

न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसः परमाणवः ॥२६॥

अर्थात् मुक्तक काव्य में चारुता का अभाव रहता है। जिस प्रकार अग्नि के अलग-अलग स्फुलिंग उतना प्रकाशमान नहीं होते जितना कि उसका संघात प्रकाशित होता है, उसी प्रकार मुक्तक पद उतने शोभित नहीं होते, जितना कि उनका क्रमबद्ध संघात-प्रबन्ध-काव्य। प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत इन्होंने दशरूपक, काव्य, आख्यायिका आदि सबका समावेश माना है। उन्होंने लिखा है—

“ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति । यच्च कथाख्यायिकं महाकाव्यमिति ।”

अर्थात् दशरूपक से काव्यादि के अन्य भेदों की कल्पना की गई है, जो कथा आख्यायिका, महाकाव्य आदि हैं।

आचार्य रुद्रट कृत भेद—आचार्य रुद्रट ने काव्य के गद्य और पद्य भेद करके ६ काव्य-भाषाओं की चर्चा की है। उनके नाम हैं—संस्कृत, मागधी, पंशाची, शूरसेनी और अपभ्रंश। गद्य-पद्य भेद से इन भाषाओं के आधार पर १२ प्रकार के काव्य कल्पित किये गए हैं। किन्तु यह विभाजन बहुत ही स्थूल और अनुपयुक्त है।

आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त कृत काव्य के भेद—आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अपने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में काव्य के भेदों का निर्देश किया है, जो इस प्रकार है—

“काव्यस्य प्रभेदाः—मुक्तकं, संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्, सन्दानितकविशेषक कलापककुलकानि, पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथासकलकथे, सर्गबन्धोभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे इत्येवमादयः” (ध्वन्यालोक, ३ य उद्योत)

अर्थात् काव्य के भेदों का वर्णन किया जाता है। वे इस प्रकार हैं—

१. संस्कृत-प्राकृत किंवा अपभ्रंश भाषा-निबद्ध मुक्तक, २. सन्दानितक, ३. विशेषक, ४. कलापक, ५. कुलक, ६. पर्यायबन्ध, ७. परिकथा, ८. खण्डकथा, ९. सकलकथा, १०. सर्गबन्ध, ११. नाटक, १२. आख्यायिका, १३. कथा आदि।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त को स्थूल रूप से काव्य के दो ही भेद मान्य थे। एक सरस काव्य जिसे ध्वनि-काव्य कहते थे तथा दूसरा गुणीभूत-व्यंग्य।

आचार्य मम्मट कृत काव्य-भेद—आचार्य मम्मट ने ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त कृत सरस काव्य तथा गुणीभूत व्यंग्य काव्य इन दो

भेदों को मान्यता दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपर या चित्रकाव्य की कल्पना और की। इस प्रकार उन्होंने उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य, २. मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यंग्य काव्य, तथा ३. अवर काव्य या चित्रकाव्य, नामक भेद निरूपित किए। इन तीनों काव्यों का स्वरूप निरूपण उन्होंने क्रमशः इस प्रकार किया है—

उत्तम काव्य का स्वरूप—उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—

इवमुत्तममतिशयिनी व्यंग्यं वाचयाद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥

अर्थात् जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक प्रधान और चमत्कारक होता है, उसे ध्वनि काव्य कहते हैं। यहाँ पर मम्मट के अनुसार ध्वनि का अर्थ है स्फोट रूप व्यंग्य को अभिव्यक्त करने वाला शब्द। स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्र ग्राह्य ध्वनि रूप शब्द से होती है। इसलिए जिस प्रकार वैयाकरणों ने अपने यहाँ प्रधान रूप स्फोट के अभिव्यंजक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है, उसी प्रकार प्रधानभूत व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्दार्थ के लिए आनन्दवर्द्धन आदि आलंकारिकों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया। इनकी दृष्टि में यह ध्वनि काव्य उत्तम या श्रेष्ठ काव्य था।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य—इसकी परिभाषा मम्मट ने इस प्रकार दी है—

‘अतादृशि गुणीभूतव्यंग्ये तु मध्यमम् ।’

अर्थात् जहाँ पर व्यंग्य अर्थ गौण पड़ जाता है, वाच्यार्थ की प्रधानता दिखलाई पड़ने लगती है, तब उस रचना को मध्यम कोटि की रचना माना जाता है तथा उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य की संज्ञा दी जाती है।

चित्र काव्य—मम्मट ने चित्रकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

अर्थात् जब काव्य में गुण और अलंकारों की प्रधानता रहती है, तथा व्यंग्यार्थ का अभाव पाया जाता है तब उस काव्य को अवर, अधम अलंकार या चित्र काव्य कहते हैं।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने काव्य का विभाजन उसके प्राण के आधार पर किया है।

आचार्य विश्वनाथ कृत काव्य के भेद—आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के भेदोप-भेदों का बड़ा विस्तृत निरूपण किया है। उन्होंने स्थूल रूप से उसके दो भेद माने हैं। दृश्य के अन्तर्गत उन्होंने रूपकों और उपरूपकों का निर्देश किया है तथा श्रव्य के फिर उन्होंने दो भेद किए हैं—१. गद्य, तथा २. पद्य। पद्य के भी उन्होंने दश भेद किए हैं—१. मुक्तक, २. युग्मक, ३. संदानितक, ४. कलापक, ५. कुलक, ६. महाकाव्य, ७. काव्य, ८. सण्डकाव्य, ९. कोश, और १०. ब्रज्या। गद्य में उन्होंने वामन कृत भेद ही स्वीकार किए हैं। केवल एक नया भेद, मुक्तक नाम से और जोड़ दिया है। इस प्रकार इसके उन्होंने चार भेद बढाए हैं—१. मुक्तक, २. वृत्तगन्ध, ३. उत्कलिका, और ४. चूर्ण। उधर दृश्य काव्य में उन्होंने रूपकों के दश भेद गिनाए हैं—१. नाटक, २.

प्रकरण, ३. भाण, ४. व्यायोग, ५. समवकार, ६. डिम, ७. इहामृग, ८. अंक, ९. बीधि, तथा १०. प्रहसन। उपरूपकों के उन्होंने १६ भेद परिगणित किए हैं। उनके नाम हैं—१. नाटिका, २. मोटक, ३. गोष्ठी, ४. सट्टक, ५. नाट्य रासक, ६. श्रीगदित, ७. शिल्पक, ८. विलासिका, ९. द्रुममल्लिका, १०. प्रकरणी, ११. हल्लीश, १२. भणिका, १३. संलापक, १४. प्रस्थानक, १५. उल्लास्य, १६. काव्य, १७. प्रेख, और १८. रासक आदि।

हिन्दी आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य के भेद

हिन्दी में रीतिकालीन आचार्यों ने अधिकतर आचार्य मम्मट कृत काव्य-भेदों को ही मान्यता दी थी। आचार्या चिन्तामणि ने मम्मट कृत तीन भेदों का ही निरूपण किया है—

“उत्तम मध्यम अधम ए त्रिविध कविन पहिचानि ।
तिनके लक्षण उदाहरन देत लु लेहु मन ग्रानि ॥
वाक अर्थ ते कहत मन व्यंग अधिक जहँ होई ।
सो जन उत्तम कवित है ! यह जानत कवि कोइ ॥
उत्तम व्यंग प्रधान मन अप्रधान गम व्यंग ।
सो मध्यम पुनि अधम नद त्रिविध चित्र अव्यंग ॥
वाक्या मक्ष ते भिन्न जे कवित सुनो ते अर्थ ।
भासे ते सऽ व्यंग कहि बरनत सुकवि समर्थ ॥

रीतिकालीन आचार्य सोमनाथ ने भी मम्मट कृत भेदों को ही मान्यता दी है—

“उत्तम मध्यम अधम अथ त्रिविध कवित सुमानि ।”

पाश्चात्य काव्य-विभाजन

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के प्रमुख दो भेद किए हैं—

१. विषयीगत (Subjective)
२. विषयगत (Objective)

काव्य के अग्य सभी प्रचलित रूप इन्हीं दो स्थूल भेदों के अन्तर्गत आते हैं। विलियम हेनरी हडसन ने “An Introduction to the Study of Literature” में काव्य के विभिन्न रूपों का विभाजन किया है। उन्होंने विषयीगत काव्य (Subjective Poetry) के अन्तर्गत निम्नलिखित काव्य-विधान रखे हैं—

१. दार्शनिक एवं विचारात्मक गीत (Meditative and Philosophical Lyrics)
२. सम्बोधन गीत (Ode)
३. दुःसहस्य गीत (Elegy)
४. पत्र गीत (Epistle)
५. व्यंग्य गीत (Satire)
६. वर्णनात्मक गीत (Descriptive Poetry)

हृदयन ने विषयगत काव्य (Objective Poetry) के दो भेद किये हैं—

१. वर्णनात्मक कविता (Narrative Poetry)
२. अभिनयात्मक काव्य (Dramatic Poetry)

वर्णनात्मक कविता के चार भेद हैं—

१. वीर गीत (Ballad)
२. महाकाव्य (Epic)
३. छन्दबद्ध रोमांचकारी कथाएँ (Meterical Romance)
४. कविता में यथार्थवाद (Realism in Poetry)

नाटकीय काव्य भी तीन प्रकार का है—

१. नाट्य गीत (Dramatic Lyric)
२. नाट्य कथाएँ (Dramatic Stories)
३. नाट्य स्वगत (Dramatic Monologue or Soliloquy)

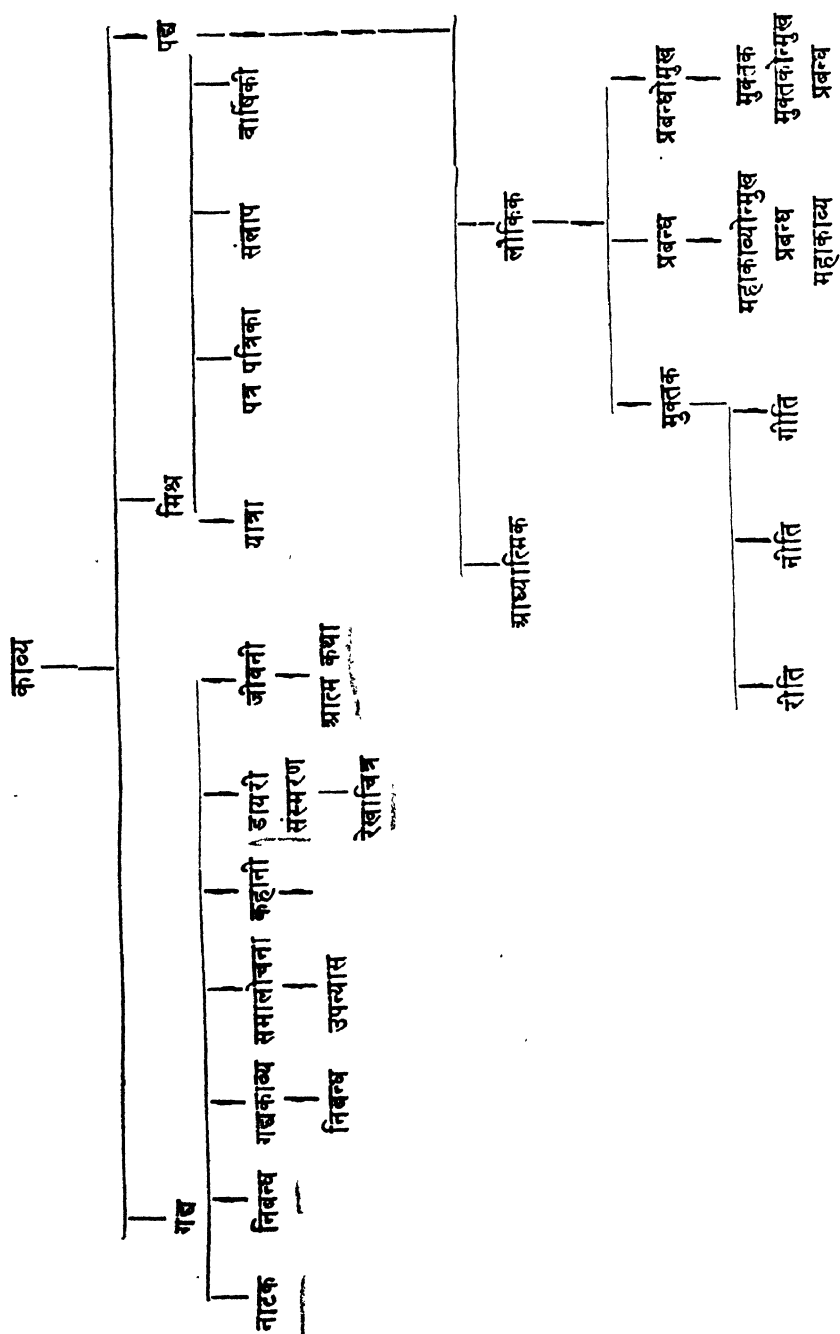
शक्ति काव्य और कला काव्य नामक काव्य के भेदों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। वे भी अंग्रेजी साहित्य में विशेष प्रसिद्ध हैं, किन्तु वे बहुत स्थूल हैं।

प्राधुनिक हिन्दी के काव्य रूप—हिन्दी साहित्य का नित्य प्रति विकास हो रहा है। उसमें नित्य नये काव्य-रूपों का उन्मेष दिखलाई पड़ रहा है। उन काव्य-रूपों की अपनी वैधानिक विशेषताएँ हैं। उन वैधानिक विशेषताओं के निरूपण की बड़ी आवश्यकता है। यहाँ पर मैं सम्पूर्ण हिन्दी काव्य को दृष्टि में रख कर उनका विभाजन इस प्रकार कर सकता हूँ। मेरी समझ में सम्पूर्ण हिन्दी काव्य के दो स्थूल भेद किए जा सकते हैं—एक गद्य और दूसरा पद्य या कविता। गद्य क्षेत्र में विकसित होने वाली प्रमुख विधाओं के नाम इस प्रकार हैं—१. नाटक, और उनके विविध भेद-प्रभेद। नाटक के भेद-प्रभेदों में एकांकी तथा उनके भेद-प्रभेद भी लिए जाएँगे। एकांकियों के प्रमुख भेद हैं—

(अ) गीति नाट्य, (ब) रेडियो नाटक। रेडियो नाटकों के भी कई भेदोपभेद दिखलाई पड़ते हैं, जिनमें छः प्रमुख हैं—१. रेडियो संगीत रूपक, २. फीचर, ३. भाव नाट्य, ४. प्रहसन या झलकियाँ, ५. सोक्ति नाटक तथा ६. रिपोर्टाज।

नाटक के इन भेद-प्रभेदों के अतिरिक्त गद्य के अंतर्गत गद्य-काव्य, निबन्ध, समालोचना, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-साहित्य, पत्र-साहित्य, संलाप-साहित्य, वार्षिकी-साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ आदि साहित्य विधाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कविता या पद्य के भेद भी अब कुछ दूसरे ही प्रकार से करने होंगे। सम्पूर्ण हिन्दी कविता को पहले विषय की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक आध्यात्मिक और दूसरा लौकिक। आध्यात्मिक के भी दो भेद किए जा सकते हैं—एक कान्त और दूसरा भक्तिपरक। लौकिक कविता को फिर स्थूल रूप से चार भागों में बाँटा जा सकता है—१. मुक्तक, २. प्रबन्ध, ३. प्रबन्धोन्मुख मुक्तक, तथा



४. मुक्तकोन्मुख प्रबन्ध । इनमें मुक्तक के भी स्थूल रूप से तीन भेद किए जा सकते हैं—१. गीति, २. नीति, तथा ३. रीति । इन तीनों के भी आगे अनेक भेदोपभेद पाए जाते हैं जिनका यथास्थान उल्लेख किया गया है । प्रबन्ध काव्य के में प्रमुख रूप से तीन भेद मानता हूँ । महाकाव्योन्मुख प्रबन्ध काव्य, महाकाव्य और खण्डकाव्य । इन सबके स्वरूप की व्याख्या द्वितीय भाग में की गई है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी काव्य आजकल शत-शत धाराओं में प्रस्फुटित हो रहा है । कल कौन से नये काव्य रूप विकसित होंगे, आज कुछ अनुमान नहीं कर सकते । प्रगतिशील साहित्य का शास्त्रीयकरण इसीलिए कठिन होता है । उपर्युक्त काव्य-भेदों का स्पष्टीकरण पीछे दिए चार्ट में किया गया है—

काव्य के वर्ण्य

काव्य का वर्ण्य बहुत विस्तृत, व्यापक और विशाल है । छोटे से छोटे रजकण से लेकर विश्व की महान्, विशाल से विशाल वस्तु, चाहे वह जड़ हो या चेतन काव्य के वर्ण्य के अंतर्गत आता है । इस विश्व की स्थूल वस्तुएँ ही नहीं, सूक्ष्मातिमूक्ष्म तत्त्व भी काव्य-वर्ण्य के अन्तर्गत आते हैं । सच तो यह है काव्य-वर्ण्य के रूप में विश्वातीत वस्तुएँ तक आ जाती हैं, तभी तो उक्ति प्रसिद्ध है 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि ।' भामह ने भी लिखा है—

“न सु शब्दो न तद् वाच्यम् न स न्यायो न सा कला ।

जायते यन्न काव्यामहीभारः महान कवेः ।” —काव्यालंकार सूत्र ५।४

अर्थात् कोई ऐसा शब्द नहीं है, कोई ऐसा अर्थ नहीं है, कोई ऐसा न्याय नहीं है, न कोई ऐसी कला है, जो काव्य का वर्ण्य न हो, कविकर्म विशाल है । भरत मुनि ने नाटक के बहाने से यही बात कही है—

“न तत् ज्ञानं न तत् शिल्पं न सा विद्या न स योगो न तत्कर्म नाद्ये-
स्मिन् यन्न दृश्यते ।” —नाट्यशास्त्र १।११७

अर्थात् संसार में कोई ऐसा ज्ञान नहीं है, ऐसा शिल्प नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं, और न कोई ऐसी कला है, जो नाटक में न मिले । इसी प्रकार रुद्रट ने भी लिखा है—

“विस्तरतस्तु किमन्यत् तत् हि वाच्यं न वाचकं न भवति यत्काव्यांगं
सर्वतत्त्वं ततो न्येष्टं ।” —काव्यालंकार सूत्र १।१

अर्थात् ऐसा न कोई वाच्य है, न कोई वाचक, न कोई अर्थ है, न शब्द जो काव्य का विषय न हो सके । आनन्दवर्द्धन ने भी लिखा है—

“वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचित् रसस्य चांगत्वं प्रतिपद्यते । न तवस्ति वस्तु किञ्चित्, यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् ।”

अर्थात् संसार की समस्त वस्तुएँ किसी न किसी रस का विषय रहती हैं ।

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो कवि की चित्तवृत्ति को प्रेरणा नहीं प्रदान करती हो ।

इसी प्रकार आचार्य धनञ्जय ने भी लिखा है कि संसार की प्रत्येक वस्तु, कवि-जगत् में पहुँच कर रस-रूप बन जाती है—

रम्यं जुगुप्सितमुबारमथापि नीचम्,

उग्रप्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।

यद् वाप्यवस्तु कवि भावकभावनीयं

तन्नास्ति यन्न रस भावमुपैति लोके । —दशरूपक ५।८५

रुद्रट ने भी लिखा है—

“तत् इह वाच्यं न वाचकं लोके न भवति यत् काव्यांगं । —१।१६

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न आचार्यों ने काव्य के वर्ण पर विचार किया है तथा उसके क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक माना है । सुविधा के लिये हम काव्य के प्रमुख तत्त्वों के आधार पर ही काव्य-वर्णों का विश्लेषण करेंगे । काव्य के स्थूल रूप से चार तत्त्व माने गये हैं—भाव तत्त्व, बुद्धि तत्त्व, कल्पना तत्त्व, और शैली तत्त्व । हम इन तत्त्वों से सम्बन्धित काव्य-वर्णों का संक्षेप में क्रमशः विश्लेषण करेंगे ।

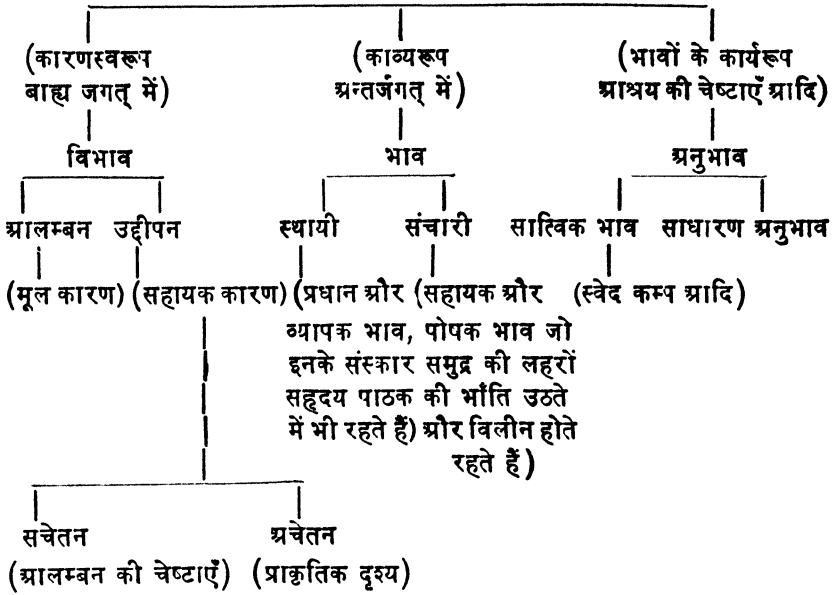
भाव-तत्त्व से सम्बन्धित काव्य-वर्ण—काव्य का मूल तत्त्व भाव है । भाव का विकसित रूप ही रस है । भरत मुनि ने इसीलिए लिखा है—

“न भावहनोऽस्ति रसः न रसहीनोऽस्तिभावः ।”

अर्थात् भाव से रहित रस नहीं हो सकता और रस से रहित भाव नहीं हो सकता । सम्भवतः यही कारण है कि भारतीय आचार्यों ने रस को काव्य का प्राण माना है । इस मत को केवल ध्वनिवादी आचार्यों ने ही नहीं स्वीकार किया है, बल्कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी सम्प्रदायों में इसकी मान्यता रही है । रस-प्रकरण में हम इस बात पर प्रकाश डाल चुके हैं । यहाँ पर हमारा लक्ष्य रस से सम्बन्धित काव्य-वर्णों पर ही विचार करना है । बाबू गुलाबराय ने अपने ‘सिद्धान्त और अध्ययन’ में काव्य के वर्णों को रस के आधार पर ही स्पष्ट करने की चेष्टा की है । भाव सम्बन्धी काव्य-वर्णों के विवेचन के लिए यह समीचीन भी है । उन्हीं के आधार पर हम यहाँ तालिका द्वारा भाव-वर्णों को स्पष्ट कर देना चाहते हैं । (तालिका अगले पृष्ठ पर देखिए)

रस-सामग्री

रस-सामग्री + सहृदय के हृदयगत स्थायी भावों के संस्कार = रस



इस तालिका के अनुसार रस से सम्बन्धित काव्य-वर्ण्यों के प्रमुख तीन रूप होते हैं—

(१) बाह्य जगत् या विभाव—यही रस का कारण है। काव्य की वर्ण्य-वस्तु या वर्ण्य-विषय बाह्य जगत् से ही ग्रहण किया जाता है। विभाव भी दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। रसोत्पत्ति में आलम्बन तो उसका आधार या मूल कारण है। उद्दीपन इस उत्पत्ति में सहायक कारण के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(२) अन्तर्जगत् या भाव—रस के कारण रूप विभाव, भाव को जाग्रत कर, उन्हें कार्य रूप में परिणत करते हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं। स्थायी और संचारी।

(३) भावों के कार्यरूपों के फलस्वरूप आश्रय की चेष्टाएँ या अनुभाव—अनुभाव दो प्रकार के हैं—सात्विक और कायिक।

काव्य के इन तीनों वर्ण्यों के समन्वित प्रयास से काव्य के प्राण रस का पूर्ण परिपाक होता है। भाव, अनुभाव और उनके भेदों पर रस-प्रकरण में विचार किया जा चुका है। इन दोनों का सम्बन्ध कवि और पाठक की अपनी अनुभूति और प्रत्यक्ष दर्शन से है। वास्तव में काव्य के वर्ण्य में विभाव के आलम्बन और उद्दीपन यह दो स्वरूप ही विशेष रूप से विचारणीय हैं। रस के साथ-साथ काव्य के कारणभूत आधार भी यही हैं। यहाँ पर क्रमशः आलम्बन और उद्दीपन के विविध रूपों पर प्रकाश डालेंगे।

आलम्बन पक्ष—काव्य के आलम्बनों के प्रमुख रूप से दो विभाग किए जा सकते हैं—

१. अलौकिक आलम्बन ।

२. लौकिक आलम्बन ।

अलौकिक आलम्बन—जीवन और जगत् की सामान्य वस्तु, रूप और गुण से भिन्न दिव्य और असामान्य रूप गुण से सम्पन्न आलम्बन अलौकिक होते हैं । धर्म और दर्शन में सृष्टि के कण-कण में व्याप्त अलौकिक सत्ता की विविध प्रकार से कल्पना की गई है । साहित्य में भी ये रूप धर्म की अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक रूप में समाहित किए गए हैं । इन रूपों को तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

१. निर्गुण अव्यक्त ।

२. सगुण अव्यक्त ।

३. साकार और सगुण व्यक्त ।

निर्गुण अव्यक्त—निर्गुणवादियों का ब्रह्म रूप रेखा रहित, अव्यक्त, रहस्य-मय और अनिर्वचनीय तत्त्व रूप है । साहित्य में भी अव्यक्त ब्रह्म को आलम्बन रूप में ग्रहण किया गया है । ऐसे कल्पित रूप को आलम्बन मानकर रचना करने वाले साहित्यिकों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है—

१. सिद्धों और नाथों का साहित्य ।

२. निर्गुण कवियों का साहित्य ।

३. छायावादी कवियों का साहित्य ।

सिद्ध साहित्य का रचना-काल विक्रम की सातवीं शताब्दी है । प्रमुख सिद्ध संख्या में चौरासी थे । इनमें से सरहपा, लुहिपा, विरुपा, कण्ठपा, कुक्कुरिपा, तानिपा आदि सिद्धों की रचनाएँ भी प्राप्त हैं । इन्होंने बाह्याडम्बरों का विरोध कर अन्त-स्साधना पर जोर दिया—

“जहि मन पवन न संचरइ रवि ससि नाहि पवेस
तहि बट चित्त विसाम कर सरहे कहिअ उवेस
थोर अंधारे चन्दमणि जिमि उज्जोह करेइ
परम महत्सुख एखु कए बुरिअ अशेष हरेइ ॥”

—सरहपा

अन्तिम पंक्ति में ‘परम महासुख’ से ब्रह्मानन्द का संकेत किया है । इनका ब्रह्म शून्य देशवासी शून्य रूप है—

“तंगा जऊना माझे रे बहई नाई
तहि बुझिलि मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ॥”

सद्गुरु के निर्देश से इला पिंगला के मध्य सुषुम्ना के मार्ग से शून्य देश की यात्रा इनकी अन्तस्साधना का सिद्धान्त है । सिद्धि प्राप्त होने पर साधक का शून्य रूप ब्रह्म से पूर्ण एकाकार हो जाने पर महासुख की अवस्था आती है ।

सिद्धों के इसी शून्य रूप ब्रह्म का उल्लेख किंचित् परिवर्तन के साथ नाथ साहित्य में भी किया गया है। नाथ सम्प्रदाय सिद्धों का परिष्कृत रूप है। अतः इनके साहित्य में सिद्धों के अश्लील और बीभत्स चित्र नहीं मिलते। गोरखनाथ ने चौदहवीं शताब्दी में हठयोग-साधना का प्रचार किया। शून्य का निर्देश इस प्रकार किया है—

“सुरहट घाट अम्हे बणिजारा
सुनि हमारा पसारा
लेण न जाणों वेण न जाणों
एद्धा वणज हमारा ॥”

निर्गुण कवियों का साहित्य—मध्यकाल में ज्ञानदेव और नामदेव नामक सन्तों के अनुकरण पर निर्गुण काव्य-धारा का विकास हुआ। इस धारा के कवियों में कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास और अक्षर अनन्य प्रमुख हैं। कबीर इस धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि, उपदेशक और सुधारक हैं। इस धारा पर भारत में प्रचलित दर्शन की सभी शाखाओं का प्रभाव पड़ा था। नाथ पंथ के सुनिमंडलवासी अनिर्वचनीय तत्त्वरूप ब्रह्म को आलम्बन मानकर उनकी काव्य-धारा प्रवाहित हुई। कबीर का ब्रह्म वर्णन देखिए—

“जाके मुँह माथा नहीं नाहीं रूप [रूप,
पुहुष बास से पातरा ऐसा तत्त्व अनूप।”

उनका ब्रह्म ‘सुनि मंडल’ वासी है—

“सुनि मंडल में पुरुष एक ताहि रह्यो ल्यो लाय”

इतना होते हुए भी वह दिव्य ज्योतिस्वरूपी है।

कबीर ने अपने ज्ञानयोग में कविजनोचित भावयोग का भी सामञ्जस्य करके अपनी रचनाओं में सरसता का समावेश भी किया है। इस सरसता का संचार दो रूपों में मिलता है—

१. दाम्पत्य भाव द्वारा।

२. वात्सल्य भाव द्वारा।

उनके ‘हरि मोर पिउ, मे राम की बहुरिया’ में और ‘हरि जननी में बालक तोरा’ में दोनों भावों का स्पष्ट कथन है। उनके रहस्यवाद के पद ऐसे ही हैं। इन स्थलों पर कबीर पर सूफी-धारा के अव्यक्त साकार रूप का प्रभाव दिखाई पड़ता है किन्तु उनकी साखियों में वर्णित आलम्बन पूर्णरूप से निर्गुण और अव्यक्त है। अव्यक्त साकार का उल्लेख होते हुए कबीर प्रमुख रूप से अव्यक्त निर्गुण के ही उपासक हैं। निर्गुणवादी अन्य कवियों ने भी कबीर के सिद्धान्तों का अनुसरण किया है।

छायावादी कवियों का साहित्य—वर्तमान युग के छायावादी कवियों ने ब्रह्म को आलम्बन मानकर उसकी अनिर्वचनीयता और दिव्य शक्ति का उल्लेख किया है।

महाकवि प्रसाद ने कामायनी में विराट् ब्रह्म के अव्यक्त किन्तु व्यापक रूप का वर्णन किया है—

“सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?”

निर्गुण धारा के कवियों के समान इनका ब्रह्म भी अव्यक्त होते हुए भी रमणीय और दिव्य शोभासम्पन्न है। सृष्टि के सभी पदार्थ उसी की छवि से छविमान हैं—

“जिसकी सुन्दर छवि उषा है,
नव वसन्त जिसका शृङ्गार;
तारे हार किरीट सूर्य-शशि,
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार।
मलयानिल मुखवास जलधिमन,
लीला लहरों का संसार;
उस स्वरूप को तू भी अपनी,
मृदु बाँहों में लिपटा ले।”

—पंत : वीणा

रहस्यमय के प्रति कवि की जिज्ञासा वृत्ति पुरुष रूप में उनकी कल्पना करती है—

“न जाने कौन अये छविमान,
जान मुझको अबोध, अज्ञान।
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक बेते छिद्रों में गान;
अहे सुख दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकती तुम हो कौन ?”

—पन्त : मौन निमन्त्रण

छायावाद की प्रमुख कवयित्री महादेवी वर्मा ने भी विराट् ब्रह्म की कल्पना पुरुष रूप में की है। उनकी अनुभूति में एक विचित्र उत्कण्ठा, विषाद और विह्वलता और साथ-ही-साथ धैर्य भी है। जीवन के निकट होते हुए भी उनका ब्रह्म रहस्यमय और दूर है—

“इस अचल कितिज रेखा के,
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।”

(ख) सगुण अव्यक्त—सूफी काव्यधारा में आलम्बन रूप में ब्रह्म का एक दूसरा ही स्वरूप दिखाई पड़ता है। इसे सगुण अव्यक्त का नाम दिया गया है। सूफी कवियों का ब्रह्म रहस्यमय और अव्यक्त होते हुए भी निर्गुण और निराकार नहीं है। वह दिव्य रूप गुण-सम्पन्न सगुण और साकार है। ब्रह्म के इस रूप को ग्रहण करने वाले कवियों में कुतुबन, मंजन, जायसी, उसमान, शेख नबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद प्रमुख हैं। इन कवियों में भी मलिक मुहम्मद जायसी को उनके 'पद्मावत' के कारण विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। जायसी का उपास्य निर्गुण कवियों के उपास्य की अपेक्षा अधिक भावात्मक, सरस, ग्राह्य और व्यक्तित्वप्रधान है। पद्मावती के रूप में उन्होंने अपने विराट् सौन्दर्यमय उपास्य की प्रतिष्ठा की है। इस अनिर्वचनीय सौन्दर्य की छाया सम्पूर्ण सृष्टि में आभासित होती है—

“विकास कुमुब देखि ससि रेखा । भई तहें ओप जहाँ जेहि देखा ॥

नयन जो देखा कैवल भा निरमल नीर शरीर ।

हँसत जो देखा हँस भा दसन ज्योति नगहीर ॥”

जायसी की साधना प्रेम-साधना है। निर्गुण कवियों ने अपने उपास्य तक पहुँचने के लिए अधिकतर शुष्क सैद्धान्तिक आत्म-साधना का आश्रय लिया है किन्तु सूफी कवियों की साधना भावात्मक है। उन्होंने आत्मा को पुरुष रूप में और उपास्य को स्त्री रूप में कल्पित कर विरह और साक्षात्कार के मनोरम चित्र उपस्थित किए हैं। कबीर के समान उनकी साधना ऐकान्तिक नहीं है। उपासक के समान उन्होंने उपास्य में भी विरहजनित विह्वलता दिखलाई है। साधक रत्नसेन के लिए विराट् रूप पद्मावती भी उत्सुक है—

“पद्मावति तेहि जोग सँजोगा । परी पेम्बस गहे बियोगा ॥”

इस प्रकार जायसी ने अपने आलम्बन में अलौकिक और लौकिक दोनों रूपों का सामञ्जस्य कर उसे माधुर्य और आकर्षणत्व प्रदान किया है।

(ग) साकार और सगुण व्यक्त—सूफियों और निर्गुण कवियों का अव्यक्त ब्रह्म ही हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में साकार और सगुण व्यक्त के रूप में ग्रहण किया गया है। भारतीय धर्म-साधना में अवतारवाद का बहुत महत्त्व है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अव्यक्त का व्यक्त रूप प्रगट होने का रहस्य बताते हुए कहा है—

“परिप्राणाय साधूनाम् बिनाशाय च बुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥”

विभिन्न युगों में अवतरित ब्रह्म के अनेक रूपों को भी काव्य में आलम्बन के पद पर प्रतिष्ठित कर रचनाएँ की गई हैं। राम, कृष्ण, गीतम तथा अन्य देवी-देवता ऐसे ही अलौकिक साकार आलम्बन हैं। राम और कृष्ण पर की गई रचनाओं को तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में राम काव्यधारा और कृष्ण काव्यधारा के नाम से अभिहित किया गया है।

राम काव्यधारा—राम काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा तुलसीदास हैं।

इनके अतिरिक्त स्वामी अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान, हृदयराम और केशव-दास, मुनिलाल, स्वयम्भू, बलदास, प्रियादास, भूपति, सेनापति, लालादास और विश्व-नाथ भी प्रसिद्ध हैं। कवियों की शृङ्गारी रुचि को परिष्कृत और मर्यादित करने में रामकाव्य अत्यन्त अफल हुआ है। तुलसी इस धारा के प्रतिनिधि कवि है। राम के चरित्र में उन्होंने शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों का चरम उत्कर्ष दिखाया है। अपने आलम्बन राम में ब्रह्म की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों विभूतियों का सन्तुलन दिखाना तुलसी की विशेषता है। उनके राम लोकरञ्जक के साथ-साथ लोक-रक्षक भी हैं। वह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों के पथ-प्रदर्शक के रूप में चित्रित किए गए हैं। जीवन जगत् से चित् का सामञ्जस्य स्थिर करने में राम काव्यधारा के कवि ही सबसे अधिक सफल हो सके हैं।

भक्ति काल में राम का चित्रण उपास्य रूप में ही हुआ। इसके अतिरिक्त रीति काल और आधुनिक काल में राम को शृङ्गार, वीर और शान्त आदि रसों का आलम्बन भी बनाया गया है। रीति काल की शृङ्गारी प्रवृत्ति ने राम का मर्यादित रूप भी विकृत कर दिया। अनेक कवियों ने उन्हें शृङ्गारप्रिय साधारण मानव के रूप में चित्रित किया है। आधुनिक युग में अपनी वैज्ञानिक प्रवृत्ति के कारण राम भक्ति-काल के समान न तो पूर्ण अवतारी हैं और न रीति काल के समान शृङ्गारी ही। प्राचीन संस्कृति के उदासक आधुनिक कवियों ने उन्हें आदर्श मानव के रूप में चित्रित किया है। मंथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' और बलदेवप्रसाद उपाध्याय का 'साकेत सन्त' इस युग में राम काव्य परम्परा के पोषक महाकाव्य हैं। साकेत के अष्टम सर्ग में राम के महामानव के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या की गई है—

“में आयों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ बताने आया,
सुख शान्ति हेतु में क्रान्ति मचाने आया।

× × ×

सुख देने आया, दुख भेलने आया,
में मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया ॥”

कृष्ण काव्यधारा—कृष्ण काव्यधारा का विकास वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग के आधार पर हुआ है। इस धारा के कवियों ने अधिकतर भगवान् कृष्ण की मधुर लीलाओं को ही अपना विषय बनाया है। राम काव्य परम्परा के राम के समान इनके कृष्ण लोक-रक्षक नहीं हैं, वे लोकरञ्जक मात्र हैं। वह प्रमुख रूप से वात्सल्य और शृङ्गार रस के आलम्बन बनाए गए हैं। बाल्य और युवावस्था के व्रज-जीवन के लीला-गानों से व्रज भाषा का साहित्य मधुर हो गया है। राम काव्यधारा में तो ब्रह्म के सगुण स्वरूप को महत्ता देते हुए भी उनके निगुण रूप की भी मीमांसा की गई है, किन्तु कृष्ण भक्त कवियों ने निगुण अव्यक्त का तर्कपूर्ण शैली में खण्डन किया है। गोपी-उद्धव सम्वाद में सभी कवियों ने मधुर व्यंग्य शैली अपनायी है—

**“निर्गुण कौन बेस को वासी,
मधुकर ! हँसि समुभाय, सौह दे ब्रभक्ति साँच न हाँसो ।”**

उनके आलम्बन कृष्ण राम के समान अयोध्याधीश भी नहीं हैं। वे साधारण समाज में रहने वाले एक ग्रामीण हैं। राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा की गई है, किन्तु कृष्ण में सौन्दर्य का ही चरम विकास दिखाया गया है। शील और शक्ति का समावेश गौण रूप में मिलता है। कृष्ण काव्य के प्रमुख कवि सूरदास, मीराबाई, रसखान, बिहारी, जगन्नाथदास रत्नाकर, हरिऔध आदि हैं। इनके अतिरिक्त नन्ददास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, हितहरिवंशदास, गदाधर भट्ट, हरिदास, श्री भट्ट, व्यास जी, ध्रुवदास, नरोत्तम आदि भी उल्लेखनीय हैं।

राम के ही समान कृष्ण के भी विविध रूप काव्य में दिखाई पड़ते हैं। इन रूपों को चार शीर्षकों में रखा जा सकता है—

१. भक्तिपरक रूप।
२. बाललीलापरक रूप।
३. शृङ्गारपरक रूप।
४. महामानवपरक रूप।

भक्ति काल के कृष्ण की बाल लीला और शृङ्गार लीला के वर्णन अलौकिक ही कहे जायेंगे। इन वर्णनों में सात्विक भक्ति भावना का अपूर्व सम्मिश्रण है। इस काल का साहित्य भक्तिप्रधान ही कहा जाएगा। रीति काल में कृष्ण साहित्य का रूप अत्यन्त विकृत हो गया। रीतिकाल का साहित्य पूर्ण लौकिक है। कृष्ण लीला का घोर शृङ्गारी रूप रीति काल में देखा जा सकता है। मैथिल कवि विद्यापति ने कृष्ण को भक्ति और शृङ्गार दोनों का आलम्बन बनाया है। आधुनिक काल में राम के समान कृष्ण को भी महामानव का रूप दिया गया है। हरिऔध के ‘प्रियप्रवास’ में कृष्ण महामानव के रूप में ही प्रगट हुए हैं। ‘प्रियप्रवास’ कृष्णधारा के प्राचीन साहित्य का आधुनिक रूप है। जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी ‘उद्धवशतक’ में कृष्ण को काव्य का आलम्बन बनाया है। उनके काव्य में भक्ति काल और आधुनिक काल की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है। उनके कृष्ण भी नर और नारायण दोनों ही हैं। जगन्नाथदास की गणना रीति काल में की जाती है, किन्तु अपनी युगीय प्रवृत्ति के विपरीत इन्होंने काव्य को एक नवीन मौलिक रूप दिया है। हरिऔध और रत्नाकर दोनों ने ही परम्परा से प्रसिद्ध कृष्ण-कथा में मौलिक परिवर्तन कर आलम्बन कृष्ण का नवीन रूप उपस्थित किया है। यही इनके काव्यों की विशेषता है। पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने ‘कृष्णायन’ नामक काव्य में कृष्ण का चित्रण महापुरुष रूप में किया है।

गौतम बुद्ध तथा अन्य देवी-देवताओं को लेकर भी हिन्दी साहित्य में अनेक रचनाएँ हुई हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त के ‘सिद्धराज’ और ‘यशोधरा’ गौतम सम्बन्धी साहित्य के उत्कृष्टतम उदाहरण हैं।

लौकिक आलम्बन—काव्य में जीवन और जगत् के प्रत्यक्ष और सामान्य आलम्बन लौकिक आलम्बन हैं। ऐसे आलम्बनों को भी चार कोटियों में रखा जा सकता है—

१. मानव ।
२. मानवेतर जीव और पदार्थ ।
३. प्रकृति ।
४. राष्ट्र ।

काव्य मानवीय भावों की ही प्रतिच्छाया है। अतः सामान्य रूप से मानव ही काव्य के आलम्बन रहते हैं। मानव के भी नर और नारी दो रूपों में से काव्य में नारी को विशेष महत्त्व दिया गया है। लौकिक आलम्बन वीरगाथा काल, रीति काल और आधुनिक काल के प्रगतिवादी और प्रयोगवादी साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। वीरगाथा काल युद्ध और वीरता का युग था। अतः इस युग में राज-दरबार में रहने वाले कवियों ने अपने आश्रयदाता की वीरता का गान गाया है। रीति काल के ऐश्वर्य और वैभव के युग में भी ग्रामोद-प्रमोदप्रिय राजाओं की प्रशंसा की गई है। राज-प्रशंसा करने वाले यह कवि अपनी नारी-भावना का विस्मरण नहीं कर सके हैं। चन्दबरदाई आदि वीर युग के कवियों ने एक ओर तो शौर्य-वीरता की प्रशंसा की है दूसरी ओर अपनी नायिकाओं का सौन्दर्य चित्रण भी किया है। रीतिकाल का तो सम्पूर्ण साहित्य ही नायिका-भेद से भरा हुआ है। आधुनिक काल की प्रगतिवादी और प्रयोगवादी रचनाएँ भी सामान्य रूप से मानव के इन द्विविध रूपों को लेकर लिखी गई हैं। इन रचनाओं में मानव और उसकी विविध परिस्थितियों का नग्न चित्रण किया गया है। इन रचनाओं के आलम्बन पक्ष की एक विशिष्ट मौलिकता यह है कि इनके आलम्बन राजवर्ग या उच्च श्रेणी के न होकर साधारण समाज से निर्धारित किए गए हैं। प्राचीन कालों की लौकिक रचनाओं में जहाँ आलम्बन के सौन्दर्य, वैभव, पराक्रम, दानशीलता, महानता आदि का दिग्दर्शन कराया गया है, वहाँ आधुनिक समाजवादी रचनाओं में आलम्बन की हीनता, दारिद्र्य, परिश्रम और साथ ही साथ नैसर्गिक सौन्दर्य का चित्रण किया गया है।

मानव को आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित करने वाले प्राचीन कवियों में नरपति नाल्ह, चन्दबरदाई, भट्ट केदार, मधुकर कवि, जगनिक, बिहारी, मतिराम, चिंतामणि, भूषण, देव, घनानन्द आदि हैं। आधुनिक कवियों में निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, सुभद्राकुमारी चौहान, हरिवंशराय 'बच्चन', रामधारीसिंह 'दिनकर', शिवमंगलसिंह 'सुमन', प्रभाकर माचवे, गोपालसिंह नेपाली आदि उल्लेखनीय हैं।

मानव के अतिरिक्त मानवेतर अन्य जीव और पदार्थ भी काव्य में यथोचित आलम्बन पद प्राप्त कर चुके हैं। कवि की अन्तर्दृष्टि का प्रवेश चेतन में तो सामान्य रूप से होता ही है और भूक, निरीह और जड़ पदार्थों में भी वे भावयोग स्थापित कर अपनी अनुभूति को प्रधान विषय बनाते हैं। इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति छोटे-

छोटे गीतों के रूप में ही की जाती है। महाकवि पन्त की 'चींटी' शीर्षक कविता ऐसी ही है—

“चींटी को देखा ?

वह सरल, विरल, काली रेखा

तम के तागे-सी जो हिल-डुल

चलती लघु पद पल पल मिल-जुल

वह है पिपीलिका पाँति

देखो न, किस भाँति

काम करती वह संतत ?”

श्रेष्ठ कवि ऐसे आलम्बनों का प्रयोग प्रायः मानव को कोई आदर्श शिक्षात्मक सन्देश देने के लिए भी करते हैं।

काव्यगत आलम्बन का एक तीसरा लौकिक रूप राष्ट्रीय गीतों में मिलता है। कवियों ने अपनी मातृभूमि की कल्पना माता रूप में करके देश-भक्ति के गौरव-गान गाए हैं।

इसके अतिरिक्त देश-सेवक, राष्ट्र के नायक, देश-सुधारक तथा अमर शहीद आदि भी राष्ट्रीय गानों के आलम्बन बनाए गए हैं।

उद्दीपन पक्ष—आलम्बन के चरित्र-विकास, परिस्थिति आदि के चित्रण में उद्दीपन पक्ष का विशेष स्थान है। काव्य-वर्ण्य के अन्तर्गत उद्दीपन भी आते हैं। ये आलम्बन के स्थायी भावों को उद्दीप्त कर रस-संचार में सहायक होते हैं। प्रत्येक रस के उद्दीपन भी भिन्न-भिन्न होते हैं। आलम्बन में जिस रस की उद्दीप्ति दिखाई जाती है उसी रस के उद्दीपन भी चित्रित किए जाते हैं। प्रत्येक रस के उद्दीपनों का उल्लेख रस-प्रकरण में किया जा चुका है। आलम्बन के विषयालम्बन और आश्रयालम्बन दो रूपों के अनुसार उद्दीपन भी विषयगत और आश्रयगत होते हैं। उद्दीपन भी दो प्रकार के होते हैं—

१. पात्रगत उद्दीपन—इसमें पात्रों के गुण, हाव-भाव, चेष्टाएँ, वस्त्राभूषण आदि-आदि आते हैं।

२. बाह्य उद्दीपन—इसमें षट्ऋतुवर्णन, वन-उपवन, सूर्य-चन्द्र-सन्ध्या, चाँदनी, पवन आदि बाह्य वस्तुएँ आती हैं।

काव्य दोष

साहित्याचार्यों ने काव्य का स्वरूप निरूपित करते समय उसकी निर्दोषता पर विशेष बल दिया है। अग्निपुराणकार ने 'दोषवर्जित', मम्मट ने 'तददोषी', दंडी ने 'दोष वर्ज्याः', चन्द्रालोककार ने 'निर्दोषाः' लिखकर उसकी इसी विशेषता पर बल दिया है। हिन्दी आचार्यों ने संस्कृत आचार्यों का ही अनुगमन किया और काव्य में दोषों के परिहार का प्रयास किया है। उस प्रयास के फलस्वरूप ही केशव ने—'प्रभु न कुतप्त्वा सेइये, दूषणसहित कवित्त', आचार्य चितामणि ने भी 'दोषरहित', श्रीपति ने 'बिन

दोष', भिखारीदास ने 'दूषण कौ कुरूपता' लिखकर काव्य में गुणों की हेयता प्रतिपादित की है। अब प्रश्न यह उठता है कि उस दोष का स्वरूप क्या है ? जिसकी अवस्थिति काव्य में इतनी हेय बताई गई है।

भरत मुनि द्वारा दी गई दोष की परिभाषा—दोष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य भरत मुनि ने लिखा है—

“एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः ।

एतएव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ॥”

अर्थात् ऊपर जिन दोषों की चर्चा की गई है ये नाटकाश्रित हैं। यही विपरीत होकर काव्य में गुण कहलाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत मुनि ने दोषों की कोई परिभाषा न देकर उनकी व्याख्या केवल उनके विपरीत स्वरूपों, काव्य-गुणों का उल्लेख करके की है।

भामह का मत—प्राचार्य भामह ने दोषों की कोई परिभाषा नहीं दी है। केवल उनके नाम भर गिनाये हैं। इन्होंने अपना एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है और लिखा है कि कभी-कभी विशेष स्थितियों में दोषयुक्त वाक्य भी उसी प्रकार शोभायमान होते हैं जिस प्रकार मालाओं के बीच में हरा पत्ता और ललना की आँखों में काजल दोष रूप (श्याम वर्ण) होते हुए भी शोभायमान होता है।

आचार्य दंडी का मत—दंडी ने पहली बार काव्य-दोष के स्वरूप को कुछ अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने लिखा कि—

“काव्ये दोषा गुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः ।

दोषा विपत्तये तत्र गुणाः संपत्तये यथा ॥”

अर्थात् बुद्धिमान् लोगों को काव्य में गुण और दोषों की स्थिति का बोध होना चाहिए। दोषों से काव्य निन्दनीय होता है और गुणों से वही श्लाघनीय हो जाता है। दंडी के इस कथन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि दोष वे तत्त्व हैं जो काव्य की शोभा के घातक कहाते हैं।

आचार्य वामन कृत दोष स्वरूप-निरूपण—प्राचार्य वामन ने दोषों की व्याख्या उन्हें गुणों का विरोधी बतलाकर की है—

“गुणविपर्ययात्मानो दोषाः”

आचार्य मम्मट कृत दोष स्वरूप निरूपण—आचार्य मम्मट ने दोष की परिभाषा बहुत ही स्पष्ट शब्दों में दी है—

“मुख्यार्थ हतिर्दोषोरसश्च मुख्यस्तदाश्रमाद्वाच्यः ।

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥”

अर्थात् जो तत्त्व मुख्य अर्थ में बाधक होते हैं। उन्हें दोष कहते हैं काव्य का मुख्य अर्थ रस है। रस के आश्रित होने पर वाच्य अर्थ भी मुख्य हो जाया करता है। रस और वाच्यार्थ के हेतु शब्दार्थ होते हैं। अतएव दोष शब्द और अर्थ उभयगत होते

हैं। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने उन्हीं तत्त्वों को दोष बताया है जो रसानुभूति में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न करते हैं।

वामनाचार्य की परिभाषा—मम्मट के टीकाकार वामनाचार्य ने दोष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“दोषत्वं च ह्यद्देश्य प्रतीतिप्रतिबन्धकत्वम्”

अर्थात् जो तत्त्व काव्य की उद्देश्यप्रतीति में बाधक होते हैं उन्हें दोष कहते हैं। इन्होंने मम्मट की परिभाषा को थोड़ा व्यापक बनाया है।

हिन्दी आचार्यों द्वारा दोष का स्वरूप निरूपण—हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत के आचार्यों के सदृश दोष की सीमांसा की है। आचार्य चितामणि ने दोष के स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखा है—

शब्द अर्थ में प्रगट है, रस समुभन नहि देइ।

सो दूषण तन मन विथा, जो जिय को हर लेइ ॥

जाहि रहत ही जोर है, जेहि फेरो फिर जाय।

शब्द अर्थ रस सबन में, सोई दोष कहाय ॥

—रस रहस्य पंचम प्रकरण छंद २, ३,

आचार्य श्रीपति की परिभाषा भी द्रष्टव्य है—

जो पदार्थ के दोष ते आछे कवित नसाइ।

बूझन तासों कहत है श्रीपति पंडित राइ ॥—काव्य सरोज

काव्य दोषों के भेद—काव्य दोषों के भेदों के संबंध में आचार्यों में बहुत मतभेद रहा है। नाट्यशास्त्र में केवल १० दोषों की चर्चा की गई है। अग्निपुराणकार ने तीन प्रकार के भेद बतला कर उनके भेदोपभेद दिखाए हैं। भामह ने केवल १२ दोषों का उल्लेख किया है। दंडी ने भरत मुनि वाले १० दोष ही दिखलाए हैं। वामन ने दोषों का प्रथम बार ही वैज्ञानिक शैली पर वर्गीकरण किया है। उसने सम्पूर्ण दोषों के चार भेद किए हैं—शब्दगत, रसगत, अर्थगत और पदगत। आचार्य मम्मट ने भी दोषों के चार भेद ही स्वीकार किए हैं। किंतु वे वामन से कुछ भिन्न हैं। उनके नाम हैं—पदगत, वाक्यगत, अर्थगत, रसगत। मम्मट ने इन समस्त दोषों की संख्या ८० तक पहुँचा दी है। आचार्य विश्वनाथ ने इस दिशा में मम्मट का अनुकरण किया है उनका दोष सम्बन्धी अनुकरण इन से बहुत अधिक प्रभावित है।

हिन्दी आचार्यों द्वारा दोष-भेद-निरूपण—हिन्दी आचार्यों ने अधिकतर दोषों के तीन भेद ही स्वीकार किए हैं; कुछ ने चार भी माने हैं। आचार्य चितामणि ने शब्द, अर्थ, रस-संबन्धी तीन प्रकार के दोष ही माने हैं। इनका उद्धरण दोष स्वरूप विवेचन में दिया जा चुका है। आचार्य कुलपति भी दोषों के तीन भेद मानने वालों के ही अनुयायी थे। दोष स्वरूप विवेचन में जो दोष स्वरूप संबंधी उद्धरण दिया गया है उसमें ही इन तीनों भेदों का संकेत किया गया है। आचार्य भिखारीदास दोषों के चार प्रकार मानने के पक्ष में थे। उन्होंने काव्य निर्णय में स्पष्ट लिखा है—

“दोष शब्द हैं वाक्य हैं, अर्थ रसद्वय में होइ ।
तेहि तजि कविताई करें, सज्जन सुमती जोइ ॥”

विशेष—संस्कृत के कुछ आचार्यों ने प्रत्यक्ष रूप से दोष की चर्चा नहीं की है । उन्होंने दोष के लिए अनीचित्य शब्द का प्रयोग किया है । यह प्रयोग हमें ध्वनि-वादी आचार्य आनन्दवर्द्धन और औचित्यवादी आचार्य क्षेमेन्द्र में विशेष रूप से मिलता है ।

काव्य दोषों के सम्बन्ध में अपना मत

मैं दोषों के प्रमुख रूप से चार भेद मानने के पक्षमें हूँ :—

(१) शब्दगत, (२) अर्थगत, (३) रसगत, और (४) वर्णनगत ।

प्रमुख शब्दगत दोष

१. श्रुतिकटुत्व—जहाँ मधुर पदों, पदांशों या वाक्यांश का प्रयोग किया जा सकता है, वहाँ कटु पदों, पदांशों या वाक्यों का प्रयोग करना श्रुतिकटुत्व दोष माना जाता है—

“कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता

पर न क्या विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता ॥” —काव्य-दर्पण

यहाँ धृष्टता, विषयोत्कृष्टता, विचारोत्कृष्टता आदि श्रुति को कटु लगने वाले पदों के प्रयोग के कारण श्रुतिकटुत्व दोष माना गया है ।

२. च्युत संस्कृति—व्याकरण के विरुद्ध पद, पदांशों या वाक्यों का प्रयोग करना च्युत संस्कृति दोष कहलाता है ।

लिंग दोष का एक उदाहरण देखिए—

“कब आवेगा मिलन प्रात, उमड़ेगी सुख हिललोल”

—काव्य-दर्पण

इसी प्रकार वचन सम्बन्धी, कारक सम्बन्धी और सन्धि सम्बन्धी दोषों के उदाहरण दिए जा सकते हैं ।

३. अप्रयुक्त दोष—प्रचलित पदों आदि के प्रयोग चाहे वे व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध ही क्यों न हों, अप्रयुक्त दोष के अन्तर्गत आते हैं । उदाहरण—“अकाल में मंडप मांगते मांड नहीं मिलता मउडबोवन भी” । यहाँ पर ‘मण्डप’ का अर्थ मांड पीने वाला किया गया है । यद्यपि यह प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है किन्तु इसका प्रयोग प्रचलित नहीं है । इसीलिए यहाँ पर अप्रयुक्त दोष है ।

४. असमर्थ अर्थ—जो पद जिस और जितने अर्थ को द्योतित करने के लिए रखा जाय वह उतना अर्थ यदि व्यंजित न कर सके तो वहाँ असमर्थ अर्थ दोष माना जाता है, जैसे—

“मणि कंकण भूषण अलंकार

उत्सर्ग कर दिए क्यों अपार ।”

—काव्य-दर्पण

यहाँ 'उत्सर्ग' छोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है किन्तु इसमें व्यञ्जना दान की निकलती है। इसीलिए इसमें असमर्थ दोष आ गया है।

५. अयथार्थ दोष—प्रसंगानुकूल अर्थ न देने वाले शब्दों के प्रयोग से अयथार्थ दोष आ जाता है—

“लिए स्वर्ण आरती भक्त जन
करते शंखध्वनि भ्रनकार”

—काव्य दर्पण

यहाँ पर शंखध्वनि के लिए भ्रनकार शब्द का प्रयोग अयथार्थ है। इसीलिए यहाँ अयथार्थ दोष माना गया है। यह दोष कुछ लोग असमर्थ दोष के अन्तर्गत लेते हैं।

६. निहतार्थ दोष—जहाँ किसी श्लिष्ट पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाता है वहाँ यह दोष होता है—

“अथवा प्रथम ऋतुकाल का प्रदोष आज
कानन कुमारियाँ चलीं द्रुत बहलाने को
खोलतीं पटल प्रति पटल अधीरता से
अटल उरोज अनुराग दिखाने को।”

—काव्य-दर्पण

यहाँ पर अन्तिम पंक्ति में 'उरोज' शब्द का प्रयोग हृदयगत के अर्थ में किया गया है। इसका यह अर्थ अप्रसिद्ध है, इसीलिए यहाँ निहतार्थ दोष है।

७. अनुचितार्थ—जहाँ प्रयुक्त पद उचित अर्थ के स्थान पर अनुचित अर्थ देने लगे वहाँ यह दोष माना जाता है—

“पलंग से पलना पर घाल के
जननि आनन इन्दु बिलोकतो।”

—काव्य-दर्पण

यहाँ पर 'घालके' का प्रयोग खड़ी बोली में ठीक नहीं है। 'घालकर' का शब्दाथे 'मार' का होता है, किन्तु यहाँ 'डालने' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

८. निरर्थक दोष—जब पाद पूर्त्यर्थ या छन्द में लय आदि के लिए अनावश्यक पदों का प्रयोग किया जाता है तब वहाँ निरर्थक दोष माना जाता है—

“दास बनने का बहाना किसलिए
क्या मुझे दासी कहाना इसलिए
देव होकर तुम सवा मेरे रहो
और देखी ही मुझे रखो अहो।”

—साकेत

यहाँ पर 'अहो' शब्द का प्रयोग अन्त्यानुप्रास की सिद्धि के लिए रखा गया है।

९. अवाचक दोष—जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनको कवि किसी भाव विशेष की व्यञ्जना के लिए नियोजित करता है किन्तु वह शब्द उस भाव-व्यञ्जना में समर्थ नहीं हो पाता वहाँ यह दोष पाया जाता है।

“कनक-से दिन मोती-सी रात
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात ।
मिटता रंगता बारम्बार,
कौन जग का यह चित्राधार ॥”

—काव्य-दर्पण

यहाँ पर ‘चित्राधार’ शब्द का प्रयोग चित्रकार अर्थ में किया गया है, किन्तु उसका सामान्य अर्थ ‘अलबम’ होता है ।

१०. अश्लील—लज्जास्पद, घृणास्पद और अमंगलवाचक पदों के प्रयोग से काव्य में अश्लील दोष आ जाता है—

— “चोड़त हूँ पर उक्ति को जे कवि हूँ स्वच्छंद ।

वे उत्सर्ग वमन को उपभोगत मतिमंद ॥” —काव्य-दर्पण

यहाँ पर ‘उत्सर्ग’ और ‘वमन’ शब्द का प्रयोग लज्जास्पद प्रतीत होता है । इनके प्रयोग से उक्ति में अश्लील दोष आ गया है ।

११. ग्राम्यत्व—काव्य में ग्रामीण शब्दों का प्रयोग ग्राम्यत्व दोष का कारण माना जाता है—

“कैसे कहते हो इस दुआर पर फिर कभी न आऊँ ।”

यहाँ पर ‘दुआर’ शब्द ग्रामीण है ।

१२. नेयार्थ—जहाँ लक्षणा का लक्षण घटित न हो किन्तु फिर भी लक्षणा-मूलक अर्थ लिया जाय—

“बड़े मधुर हूँ प्रेम सद्य से निकले वाक्य तुम्हारे ।” —काव्य-दर्पण

यहाँ पर ‘प्रेम सद्य’ का अर्थ लक्षणा के सहारे मुख लिया गया है, किन्तु प्रयोजन वा रुढ़ि इन दोनों में से एक भी कारण व्यञ्जित नहीं किया गया है ।

• १३. क्लिष्टत्व दोष—जहाँ प्रयुक्त शब्द का अर्थ ज्ञान बड़ी कठिनता से होता हो वहाँ यह दोष होता है । सूर का यह कूट पद देखिये—

“कहत किन परदेसी की बात ।

मंदिर अरध अवध हरि बदि गए हरि अहार चलि जात ॥”

यहाँ पर ‘मंदिर अरध’, ‘हरि अहार’ आदि शब्दों का अर्थ बड़ी कठिनता से निकलता है ।

१४. अप्रतीतत्व दोष—पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से काव्य में अप्रतीतत्व दोष आ जाता है—

“नव पौरी पर दसम दुआरा,

तेहि पर बाज राज घरियारा ।”

यहाँ पर ‘दसम दुआर’ योगियों का पारिभाषिक शब्द है । उससे अर्थ समझने में कठिनाई पड़ती है । अतः यहाँ अप्रतीतत्व दोष है ।

१५. अविमृष्ट विधेयांश—जहाँ रसाभासादि के प्रयोग से किसी शब्द का वह

अर्थ व्यञ्जित न हो सके जिसका व्यंजना कवि करना चाहता है वहाँ अविमुष्ट विधेयांश दोष होता है—

“आज मेरे हाथों अन्त आया जान अपना

वेश से ही आज रामानुज में यहाँ

करता प्रचारित हूँ युद्ध हेतु तुमको”

—काव्य-दर्पण

यहाँ रामानुज शब्द से वह व्यंजना नहीं निकलती जो कवि को अभीष्ट है।

१६. प्रतिकूल वर्ण—जब रस के प्रतिकूल वर्णों की योजना की जाती है, तब वह प्रतिकूल दोष माना जाता है—

“मुकुट की छटक और लटक विविकुण्डल की” इत्यादि

यहाँ शृंगार-रस की योजना के प्रतिकूल वर्णों की योजना की गई है।

१७. न्यूनपदत्व दोष—जहाँ अभीप्सित अर्थ प्रकट करने के लिए वाक्य में किसी पद की न्यूनता मालूम पड़े वहाँ न्यूनपदत्व दोष होता है—

“शत शत संकल्प विकल्पों के अल्पों में कल्प बनाती-सी।” —काव्य-दर्पण

यहाँ पर ‘अल्प’ शब्द ‘क्षणों’ शब्द के बिना पूर्ण अर्थ की व्यंजना करने में असमर्थ है अतः यहाँ न्यूनपदत्व दोष माना गया है।

१८. अधिक पदत्व—यह न्यून पद के बिल्कुल विपरीत होता है। वाक्य में अभीप्सित अर्थ के स्पष्ट हो जाने के अतिरिक्त भी कोई पद शेष रह जाता है—

“लिपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद।”

यहाँ ‘पुहुप’ शब्द अधिक है। अभीप्सित अर्थ केवल पराग शब्द से ही निकल सकता है।

१९. व्यर्थपदत्व—जब कवि अपनी रचना में अनावश्यक और व्यर्थ के पद ढूँँस देता है, वास्तविक अर्थ व्यञ्जना में उनसे कोई सहायता नहीं पहुँचती, वहाँ व्यर्थपदत्व दोष माना जाता है—

“एक एक करके तिल तिल करके

बिए रत्नकण सारे खोल—”

यहाँ पर, तिल तिल करके पद अनावश्यक और व्यर्थ है अतः उसका प्रयोग खटकता है। अधिक पदत्व में अधिक पदता इतनी अधिक नहीं खटकती है।

२०. कथित पद—एक ही पद में कई अनावश्यक समानार्थ पदों का रखा जाना कथित पद दोष कहलाता है—

“इन म्लान मलिन अधरों पर

स्थिर रही न स्मित की रेखा।”

इस पंक्ति में ‘म्लान’ और ‘मलिन’ दोनों ही पद समानार्थक हैं। अर्थ के लिए केवल एक की ही आवश्यकता है।

२१. अस्थान पदत्व—छन्द में प्रत्येक पद का अपना निश्चित स्थान रहता है किन्तु बहुत से नौसिखिये कवियों को पदों के स्थान औचित्य का बोध नहीं हो पाता।

पदों के इस स्थान-अनौचित्य दोष को ही अस्थान-पदत्व दोष कहते हैं ।

२२. **अक्रमत्व**—छन्द में जब पदों के क्रम का अनौचित्य दिखाई पड़े तो उसे अक्रमत्व दोष मानेंगे—

“जो कुछ भी हो मैं न सन्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के ।”

इस उद्धरण में जीवन के मधुर भार न लिखने से क्रम भंग दोष आ गया है ।

२३. **अन्वय दोष**—जब पद का अन्वय करने में कठिनाई अनुभव हो तब वहाँ अन्वय दोष माना जाता है—

“थे दृग से भरते अग्निखण्ड लोहित थे
ज्यों हिंसा प्रचण्ड ।”

—काव्य-दर्पण

यहाँ यह पता ही नहीं चलता है कि ‘लोहित’ दृग का विशेषण है या अग्निखण्ड का । इसीलिए यहाँ अन्वय दोष माना जाता है ।

अर्थ-दोष

१. **अनावश्यक प्रयोग दोष**—ऐसे अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग किया जाय जिनसे वर्ण्य-वस्तु की कोई विशिष्टता न प्रकट हो और उसके बिना पदार्थ पर कोई व्याघात भी न पहुँचे—

“तिमिर पारावार में आलोक प्रतिमा है अकम्पित
‘आज ज्वाला से बरसता क्यों मधुर घनसार सुरभित ।”

यहाँ पर घनसार के साथ सुरभित शब्द का प्रयोग अनावश्यक है ।

२. **क्लिष्टार्थ या कष्टार्थ-दोष**—जहाँ अर्थ का बोध कष्ट से हो वहाँ यह दोष होता है । छायावादी कविता में तथा सूर आदि के कूट पदों में यह दोष बहुत मिलता है—

“आशाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना ।”

यहाँ पर आशाओं की करवट का क्या अर्थ है यह बहुत देर में स्पष्ट होता है ।

३. **अव्याहत**—जिसका महत्त्व व्यंजित किया जाना चाहिए, उसकी तिरस्कार व्यंजना में अव्याहत दोष होता है—

“दानी दुनियाँ में बड़े, देत न धन जन हेत”

—काव्य-दर्पण

इस पंक्ति में पहले तो दानियों का महत्त्व व्यंजित किया गया है, बाद में धन न देने की बात कहकर उनका तिरस्कार किया गया है ।

४. **पुनरुक्त दोष**—जब एक ही भाव या अर्थ भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है तब वहाँ पुनरुक्त दोष माना जाता है—

“धन्य है कलंकहीन जीना एक क्षण

युग युग जीना सकलंक धिक्कार है ।”

—काव्य-दर्पण

५. **संदिग्ध**—कवि के विवक्षित भाव का न स्पष्ट होना ही संदिग्ध दोष होता है ।

गया है ।

(६) रस न तो ज्ञाप्य होता है और न कार्य । उसका साक्षात् अनुभव भी नहीं होता । लौकिक शब्दों में उसकी व्यंजना नहीं की जा सकती । इसीलिए उसे अनिर्वचनीय और अलौकिक मानते हैं । उसकी समता निर्विकल्पक समाधि से भी नहीं कर सकते, क्योंकि उस अवस्था में अहंकार-भावना का सदा के लिए विनाश हो जाता है, किन्तु रसानुभूति की अवस्था में उसका परिहार केवल क्षणिक मात्र होता है ।

संक्षेप में रस-स्वरूप की यही विशेषताएं प्रमुख हैं । अब यदि हम भाव और रस के स्वरूपों की तुलना करें तो दोनों में निम्नलिखित अन्तर दिखाई पड़ेंगे—

(१) भावों का सम्बन्ध सत्तोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों से हो सकता है । तीनों ही प्रकार के भाव हो सकते हैं । किन्तु रस में केवल सत्त्व का ही उद्रेक रहता है ।

(२) रस का आस्वादन केवल महृदयों को होता है, किन्तु भावों का उदय मानवमात्र के हृदयों में हो सकता है ।

(३) रस का आस्वादन आनन्द रूप ही होता है, किन्तु भाव की अनुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों ही प्रकार की हो सकती है ।

(४) रस का उदय अखंड और अद्वैत रूप होता है, किन्तु भावों का उदय खण्ड रूप में ही होता है क्योंकि भाव अनेक होते हैं ।

(५) रस की अनुभूति चिन्मयी होती है पर भावों की अनुभूति अचिन्मयी भी हो सकती है ।

(६) रस की अनुभूति लोकोत्तररूपिणी होती है, किन्तु भाव की अनुभूति का यह अनिवार्य लक्षण नहीं है ।

(७) रसों की अनुभूति “ब्रह्मास्वादसहोदररूपा” होती है, किन्तु भावों की अनुभूति दुःखात्मक और सुखात्मक दोनों प्रकार हो सकती है ।

(८) रस की अभिव्यक्ति निरपेक्ष, स्वतन्त्र और अखंड रूप होती है पर भाव कोई भी निरपेक्ष और स्वतन्त्र नहीं रहता । रस और भाव में यही प्रमुख भेद है ।

रस मंत्री और रस विरोध—भारतीय साहित्य-शास्त्र में वर्णित प्रमुख नौ रसों में से कुछ रस तो परस्पर सम्बन्धित रहते हैं । काव्य में ये रस एक ही स्थल पर एक साथ भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं किन्तु इसके विपरीत कुछ रसों में परस्पर सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता । आचार्यों ने परस्पर सम्बन्धित रसों के योग को रस मंत्री और विरोधी रसों को रस विरोध की संज्ञा दी है । रस का सम्बन्ध स्थायी भावों से होता है क्योंकि इन्हीं भावों से रस की उत्पत्ति होती है अतः रस मंत्री और रस विरोध स्थायी भावों का ही होता है । रस शब्द से स्थायी भावों की ओर ही संकेत किया जाता है जैसे कि ‘काव्यप्रकाश’ में लिखा है—‘रसशब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते’ ।

रस मंत्री—जबकि परस्पर मित्र रसों का एक ही आलम्बन और आश्रय में समुचित समावेश किया जाता है, काव्य में उसे रस मंत्री कहते हैं । देव कवि ने रस

मंत्री को जन्य-जनक भाव द्वारा स्पष्ट किया है—

“होत हास्य सिंगार ते, करुण, रौद्र ते जानु,
वीर जनित अद्भुत कहो, वीभत्स ते भयानु ।
ये आपस में मित्र हैं, जन्य जनक के भाई,
मित्र वरनिये शत्रु तजि, उवासहू रस जाई ।”

—शब्दरसायन, चतुर्थ प्रकाश, पृ० ४५

इस प्रकार शृङ्गार और हास्य, करुण और रौद्र, वीर और अद्भुत, वीभत्स और भय को देव कवि ने परस्पर मित्र रस माना है ।

रस विरोध—विभिन्न रसों के योग की असमर्थता काव्य में रस विरोध कहलाती है । रसों का पारस्परिक विरोध तीन प्रकार का होता है—

(१) **एक आलम्बन विरोध**—जब एक ही आलम्बन को लेकर दो विरोधी रसों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ एक आलम्बन विरोध होता है जैसे शृङ्गार रस का रौद्र, वीर, वीभत्स आदि से एक ही आलम्बन होने पर विरोध हो जाता है, क्योंकि प्रेम, क्रोध और घृणा का एक साथ योग हो जाने पर रस का आस्वादन नहीं किया जा सकता ।

(२) **एक आश्रय विरोध**—जब एक ही आश्रय के साथ विरोधी रसों का योग किया जाय, वहाँ एक आश्रय विरोध होता है । जैसे एक ही आश्रय में वीर और वीभत्स रस का प्रयोग विरोध उत्पन्न कर देता है क्योंकि भय और उत्साह का उदय एक साथ नहीं हो सकता ।

(३) **नैरन्तर विरोध**—नैरन्तर विरोध वहाँ पर होता है जहाँ दो विरोधी रसों के मध्य में उन दोनों का अविरोधी रस नहीं रखा जा सकता है । उदाहरण के लिए हम शान्त और शृङ्गार रस को ले सकते हैं । इन दोनों का अविरोधी रस हो सकता है करुण । किन्तु यदि हम इन दोनों के बीच करुण न रखकर वीभत्स रस की योजना कर दें तो इस प्रकार का विरोध नैरन्तर विरोध कहा जाएगा ।

पारस्परिक विरोधी रस निम्नलिखित हैं—

शृङ्गार रस के विरोधी करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक और शान्त हैं ।

हास्य रस के विरोधी भयानक और करुण हैं ।

रौद्र के विरोधी हास्य, शृङ्गार और भयानक हैं ।

भयानक के विरोधी शृङ्गार, हास्य, वीर, रौद्र और शान्त हैं ।

शान्त के विरोधी रौद्र, शृङ्गार, हास्य, भयानक और वीर हैं ।

वीभत्स का विरोधी शृङ्गार है ।

वीर रस के विरोधी भयानक और शान्त हैं ।

जहाँ पर दो विरोधी रसों के विभावादि का वर्णन होता है वहाँ पर रस दोष आ जाता है ।

“विरोधीरससम्बन्धि विभावादिपरिग्रहः ।” —ध्वन्यालोक ३।१८, पृ० १६१

इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी लिखा है—

“परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ॥” —साहित्यदर्पण ७।१३

रसों के पारस्परिक विरोध का परिहार—रस विरोध का परिहार कई रूपों में किया जा सकता है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने ‘काव्यकल्पद्रुम’ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३८२ पर उदाहरण सहित रस विरोध के परिहार की निम्नलिखित स्थितियाँ बताई हैं—

१. जिन रसों में एक आलम्बन विरोध होता है उन रसों के पृथक् आलम्बन रखने से विरोध नहीं रहता है। जैसे—

“निरखत सिय मुखकमल छवि रघुबर बारहिबार ।

निसिचर दल कलकल सुनत बाँधत जटा सँभार ॥”

यहाँ आश्रय तो राम ही हैं पर शृङ्गार की आलम्बन सीता और वीर रस के आलम्बन राक्षस हैं। अतः विरोध नहीं रहा।

२. एक आश्रय में जिन रसों में विरोध होता है उनमें आश्रय-भेद कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे—

“धनुष चढ़ावत तोहि लखि सनमुख रन-भुविमाँय ॥”

मृगगन जिमि मृगराज ढिग अरि जन जाहि पलाय ॥”

यहाँ वीर और भयानक दोनों का आलम्बन तो राजा ही है किन्तु वीर के स्थायी भाव उत्साह का आश्रय राजा और वीररस के स्थायी भाव भय के आश्रय शत्रुगण हैं। इस प्रकार आश्रय भेद के कारण विरोध नहीं है।

३. जहाँ नैरन्तर का विरोध हो वहाँ बीच में कोई मित्र रस ले आने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे—

“आलिङ्गित सुरतियन सौं नभ-विमान थित वीर ।

निरखत स्यारन सौं घिरे रन निज परे सरीर ॥”

यहाँ प्रथम पंक्ति में शृङ्गार रस और दूसरी पंक्ति में वीररस है। ये दोनों विरोधी रस हैं, किन्तु इनके बीच में निश्चक प्राण त्यागने की ध्वनि निकलती है जिससे वीर रस का समावेश किया गया है। यह दोनों का विरोधी नहीं किन्तु उदासीन रस है।

रस विरोध के उपर्युक्त कथित तीन प्रमुख परिहारों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार भी हैं। मम्मट ने ‘काव्यप्रकाश’ में इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

“स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साभ्येनाप्यविवक्षितः

अंगिन्यङ्गत्वमाप्नो यो तो न दुष्टो परस्परम्”

—(७।६५)

अर्थात् जहाँ विरोधी रस केवल स्मरण मात्र ही किया गया हो या जहाँ समतापूर्वक वर्णन किया गया हो अथवा एक रस दूसरे रस के अंग रूप में प्रयुक्त किया गया हो तो परस्पर विरोधी रस भी दोष नहीं कहलाते।

इन परिहारों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

स्मर्यमाण विरोधी रस के कारण परिहार—

“है याद उस दिन की गिरा तुमने कही थी मधुमयी,
जब नेत्र कौतुक से तुम्हारे मूँद कर में रह गई ।
यह करतल स्पर्शन प्रिये ! मुझसे न छिप सकता कहीं,
फिर इस समय क्या नाथ ! मेरे हाथ वे ही हैं नहीं ॥”

उत्तरा-विलाप की इन पंक्तियों में करुण के साथ शृङ्गार का पूर्वकालिक स्मरण मात्र है ।

साम्य विवक्षित होने के कारण परिहार—जहाँ उपमान उपमेय की समानता-पूर्वक वर्णन की इच्छा से विरोधी रस का प्रयोग किया जाय जैसे—

“भक्ति तिहारी यों बसैं मो मन में श्रीराम,
बसैं कामिजन हियनि ज्यों परम सुन्दरी वाम ।”

दूसरे किसी रस या भाव के अंग हो जाने से परिहार—किसी रस के अंग रूप में प्रयुक्त किया गया विरोधी रस भी दोष नहीं कहलाता जैसे—

“आवतु है न बुलावतु हैं भई प्रायिक हैं मुख को न बिसावें
बातें अनेक रहस्यमयी सुनिके हैं नहीं कछु बोलि सुनावें
पास गए हैं न ह्वैं समुही कर्त्तव्य-विमूढ़ भई बरसावें
भूपति तेरे रिपून की बाहिनी मानवती जुवती-सी लखावें ॥”

यहाँ राजा की वीरता की प्रशंसा करते हुए शत्रु सेना की भयानक चेष्टाओं की मानिनी युवती से उपमा दी गई है । अतः भयानक और शृङ्गार दो विरोधी रस वर्णित हैं । इस दोष का परिहार भयानक के राजविषयक रति का अंग हो जाने से हो जाता है ।

विरोधी रस के बाधित हो जाने से परिहार—प्रधान रस की प्रबलता होने पर विरोधी रस प्रयुक्त होने पर बाधित हो जाता है ।

“साँचहु विभव सुरम्य हैं रमनी हू रमनीय ।

पै तरुनी-भंगि लौं चल जीवन स्मरनीय ॥”

इसमें शान्त और शृङ्गार रस है किन्तु शृङ्गार, शान्त द्वारा बाधित है ।

रस सम्बन्धी काव्य दोषों की व्यापकता और उनके परिहार के उपाय

काव्य-दोष की सामान्य परिभाषा इस प्रकार है—“मुख्य अर्थ का जिससे अपकर्ष हो उसे दोष कहते हैं ।” काव्य दोष मुख्य रूप से तीन होते हैं—

(१) शब्द दोष ३७

(२) अर्थ दोष २३

(३) रस दोष १०

स्थूल रूप से रस-दोष यद्यपि काव्य दोष का ही एक अंग है किन्तु श्रेष्ठ काव्य

को ध्यान में रखते हुए हम सभी काव्य दोषों को रस दोष ही कह सकते हैं । इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) काव्य का लक्ष्य होता है अलौकिक आनन्द की प्राप्ति । काव्य में रस की अवस्थिति होने पर ही इस आनन्द का अनुभव हो सकता है । काव्य में शब्दगत, अर्थगत या रसगत किसी भी प्रकार के दोष इस रसानुभूति में बाधक होते हैं । अतः सभी काव्य दोष रस दोष के अन्तर्गत आते हैं ।

(२) भारतीय आचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा माना है । विश्वनाथ ने तो काव्य की परिभाषा में रसपूर्ण वाक्य को ही काव्य कहा है—“वाक्यं रसात्मकं काव्यं” । अतः रस काव्य का अभिन्न अंग होने के कारण काव्य का कोई भी विकार रस में भी विकार उत्पन्न कर देता है ।

(३) भावनाओं की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से हो सकती है—

(क) अभिधामूलक शैली में

(ख) लक्षणांमूलक शैली में

(ग) व्यंजनामूलक शैली में

व्यंजनात्मक या ध्वन्यात्मक काव्य ही श्रेष्ठ काव्य माना जाता है । ध्वन्यात्मकता लाने के लिए काव्य के शब्दों में आलंकारिक सौन्दर्य लाने की आवश्यकता नहीं होती । यह ध्वनि तो व्यंजक शब्दों द्वारा अर्थगत सौन्दर्य में ही विकसित होती है और रस की धारा प्रवाहित होती है । यदि काव्य में शब्दगत या अर्थगत कोई भी दोष उपस्थित होगा तो रस का संचार भली भाँति न हो सकेगा । अतः वे शब्द और अर्थदोष रसदोष ही कहे जायेंगे ।

(४) रस संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि का ही एक प्रमुख भेद है । काव्यदोष ध्वनि को बाधित करनेवाले अर्थ दोष रस में भी अवश्य बाधा पहुँचायेंगे । रस को बाधित करने के कारण उन अर्थगत दोषों को भी रसदोष ही कहेंगे ।

(५) काव्यदोष की उपर्युक्त परिभाषा में ‘मुख्य-अर्थ’ का तात्पर्य ध्वनि से है । शब्दों द्वारा काव्य में व्यञ्जनात्मकता लाई जाती है और व्यंजनात्मकता के अर्थगत सौन्दर्य से ही मुख्य अर्थ या ध्वनि का बोध होता है । उस मुख्य अर्थ के अपकर्ष में सहायक कोई भी काव्यदोष उसकी ध्वनि या रस में भी अपकर्ष उत्पन्न करेंगे । अतः वे शब्द-अर्थगत दोष ही कहलायेंगे । तुलसी ने शब्द और अर्थ के अभिन्नत्व को “गिरा अरथ जल-बोधि सम कहियत भिन्न न भिन्न”—कहकर इसी बात को ध्वनित किया है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य दोषों और रस दोषों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है ।

रस के निम्नलिखित दस दोष माने गए हैं—

स्वशब्द वाच्य दोष, प्रतिकूल विभावादि दोष, क्लिष्ट रूपना, अस्थान में रस की स्थिति, रस-विच्छेद, रस की पुनः-पुनः दीप्ति, अंगी को भूल जाना, अंग को

प्रधानता देना, प्रकृति-विपर्यय । कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जिसमें रस दोष का परिहार हो जाता है ।

रस दोष के परिहार की अवस्थाएँ—इसके अन्तर्गत पूर्ववर्णित रस विरोध के परिहार की सभी अवस्थाएँ आधेगी । इनका उल्लेख पहले कर चुके हैं ।

रस और ध्वनि का सम्बन्ध

रस और ध्वनि के सम्बन्ध को समझने के लिए हमें रस-निष्पत्ति के सिद्धांत और ध्वनि के सिद्धांत पर अत्यन्त संक्षेप में विचार करना पड़ेगा । रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत का रससूत्र बहुत प्रसिद्ध है—

“विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्वसनिष्पत्तिः”—अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से पुष्ट होकर स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है । भरत के इस रस-सूत्र की व्याख्या के सम्बन्ध में रसगंगाधर में लगभग ११ मतों का उल्लेख किया गया है । इनमें चार मत बहुत प्रसिद्ध हैं—

- (१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद ।
- (२) शंकुक का अनुमितवाद ।
- (३) भट्टनायक का भुक्तिवाद ।
- (४) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ।

इनमें प्रथम तीन मत दोषपूर्ण हैं और आचार्यों द्वारा उनका खण्डन किया जा चुका है । अब सबसे अधिक प्रतिष्ठा अभिनवगुप्त के ‘अभिव्यक्तिवाद’ की है ।

अभिनवगुप्त ने रस की अभिव्यक्ति काव्य के व्यंजन व्यापार द्वारा मानी है । उनके मतानुसार साधक काव्य है, साध्य रस है, साधन व्यंजना है और इतिकर्त-व्यतारूप गुणालंकार औचित्यादि का अन्वय होता है । व्यंजना-वृत्ति ध्वनि सिद्धांत का प्राण है । काव्य में व्यंजक शब्द का व्यंग्य अर्थ का बोध इसी व्यंजनावृत्ति के सहारे ही होता है । इस वृत्ति को व्यंजना का अभिधान इसलिए दिया गया है कि यह अभिधा और लक्षणा से अस्फुट अर्थों को स्फुट करती है । इस वृत्ति द्वारा जो अर्थ प्राप्त होता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं । इस व्यंग्यार्थ को ध्वनिकारों ने ध्वनि की संज्ञा दी है—

“यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वाधौ”

व्ययंतः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।”

—ध्वन्यालोक १।१३

व्यंग्यार्थ भी कहीं वाच्यार्थप्रधान होता है और कहीं गौण । जहाँ वह वाच्यार्थ से प्रधान होता है वहीं उसे ध्वनि कहते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यंजना-वृत्ति से जिस व्यंग्यार्थ का बोध होता है वही रस का कारण है । रस और ध्वनि में यही सम्बन्ध है । ध्वनिकार ने तो इसलिए रस को रस ध्वनि कहा है । उपर्युक्त विवेचन से

स्पष्ट है कि रस ध्वनि का ही एक अंग है। ध्वनि के भेदों का उल्लेख करते हुए आचार्यों ने उसे स्थूल रूप से दो भेदों में बाँटा है—

(१) अभिधामूला (विवक्षित ग्रन्थपदवाच्य-ध्वनि)

(२) लक्षणामूला (अविवक्षित वाच्य-ध्वनि)

अभिधामूला ध्वनि के भी दो भेद किए गए हैं। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत ही रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति और भावशबलता आदि आठ भेद आते हैं।

रस को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत इसलिए रखा गया है कि विभावादि द्वारा जो रस की अनुभूति होती है उसमें किसी प्रकार का पूर्वापर सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता। पूर्वापर सम्बन्ध तो वहाँ भी होता है किन्तु वह क्रम “शत पत्र भेदन न्याय” के अनुसार प्रतीत नहीं होता।

संक्षेप में रस और ध्वनि का यही सम्बन्ध है।

रसों की संख्या—प्रलंकारों के समान रसों की संख्या में भी समय-समय पर विस्तार होता रहा है। रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरत मुनि ने ‘नाट्यशास्त्र’ में शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स इन चार ही रसों का प्रमुख रूप से उल्लेख किया है। इन्हीं से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार सब आठ रसों का वर्णन किया है—

“अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः”

—नाट्यशास्त्र

इन आठ रसों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

“शृंगार हास्य करुण—रौद्रवीरभयानकाः

वीभत्साद्भुतसंज्ञो चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः”

—नाट्यशास्त्र ६।१६

इन रसों के बाद ‘शान्तोऽपि नवमो रसः’ इत्यादि कहकर शान्त रस भी निरूपित किया है। वे शान्त रस से ही सब रसों की उत्पत्ति और उसी में उनका अवसान होना भी मानते हैं—

“स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते”

—नाट्यशास्त्र ६।१०८

भक्ति रस को वे शान्त रस के अन्तर्गत मानते हैं। इस प्रकार शान्त रस को नाटक में स्थान न देते हुए भी उसे सब रसों का उद्गम और अस्तस्थल कहा है।

‘विक्रमोर्वशीय’ और ‘काव्यादर्श’ में शान्त रस की चर्चा नहीं है, इनमें नाट्यशास्त्र में वर्णित ग्रन्थ आठ रसों का ही निर्देश है। किन्तु बाद में ‘उद्भट’ ने और ‘विष्णुधर्म-त्तर पुराण’ में नौ रस दिये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि शान्त रस की अवतारणा सर्वप्रथम उद्भट ने ही की थी। नाट्यशास्त्र में शान्त रस काला अंश उद्भट द्वारा ही

जोड़ा गया है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में प्रेयान नामक दशम रस माना है। इसका स्थायी भाव स्नेह है। विश्वनाथ ने प्रेयान के स्थान पर वात्सल्य को दशम रस कहा है। 'महाराजा भोज ने बारह प्रकार के रसों की कल्पना की है। वे प्रेयान् उदात्त और उद्धत को भी रस मानते हैं—

“वीभत्सहास्यप्रेयांसः शांतोदात्तोद्धता रसाः”

—सरस्वती कण्ठाभरण

रूप गोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती आदि ने भक्ति को स्वतन्त्र रस कहा है। भक्ति रस के समर्थक भक्ति रस में ही नवरसों की स्थिति निरूपित करते हैं। 'भागवत' में यह भक्ति रस भागवत रस के नाम से दिया गया है—

**“निगमकल्पतरोगलितं फलं शुक्मुखादभूतद्रवसंयुतम्
पिबत् भागवतं रसमालयं सुदुरहो रसिका भुवि भावुकाः”**

उज्ज्वल नीलमणि में भक्ति को उज्ज्वल रस तथा रस गंगाधर में इसे भाव ध्वनि कहा गया है। 'रस तरङ्गिणी' में शान्त रस के विपरीत माया रस की भी चर्चा है। 'संगीत सुधाकर' में ब्रह्म, सम्भोग और विप्रलम्भ नामक रसों का भी उल्लेख है। उद्धट, मधुसूदन आदि कुछ विद्वानों ने तथा मानसशास्त्र आदि में प्रत्येक आस्वादनीय भाव का रस रूप में परिवर्तित होना कहा है।

अभिनवगुप्त ने स्नेह रस और लौल्य रस की कल्पना की है। श्रद्धा कार्पण्य आदि को भी रस की संज्ञा दी गयी है किन्तु अधिकांश विद्वानों ने इन्हें स्वतंत्र रस न मानकर प्रमुख नौ रसों के ही अंग माने हैं।

इस प्रकार रसों की संख्या और नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। वे स्वतन्त्रतापूर्वक नवीन रसों के नामकरण करते रहे। रस संख्या के इस स्वतंत्र विस्तार का अनेक विद्वानों ने विरोध किया है। पं० रामदहिन मिश्र ने अपने 'काव्य-दर्पण' की पेंतालीसवीं और छियालीसवीं छाया में 'रस संख्या विस्तार' और 'रस संख्या-संकोच' शीर्षक से इस पर प्रकाश डाला है।

केवल एक ही रस मानने वालों का कथन है कि रस अलौकिक तत्त्व है। वह अक्षर ब्रह्म के समान आनन्दमय माना गया है। आनन्द चित्त की एकाग्रवस्था है अतः आनन्दरूप रस भी अभेद है। इस मत के अनुयायी केवल एक रस ही मानते हैं किन्तु यहाँ पर भी मतभेद दिखाई पड़ता है। किसी ने शृंगार को, किसी ने करुण को, किसी ने शान्त को और किसी ने अद्भुत को ही एकमात्र रस माना है। छान्दोग्योपनिषद् में आत्मरस ही एकमात्र रस कल्पित किया गया है—

**“आत्मनोन्यत्र या तु स्यात् रसबुद्धिर्न सा श्रुता
आत्मनः खलु कामाय सर्वमन्यत् प्रियं भवेत्
सत्यो ध्रुवो विभुर्नित्यो एक आत्मरसः स्मृतः ॥”**

यहाँ पर हम आचार्यों द्वारा निरूपित कुछ प्रमुख रसों पर विचार करेंगे।

१. 'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं बिभुः'—साहित्यदर्पण

शृंगार रस

शृङ्गार शब्द की व्युत्पत्ति—शृंगार शब्द की उत्पत्ति शृङ्ग धातु से हुई है; इसका अर्थ है कामोद्रेक। शृङ्गार 'शृङ्ग' और 'आर' दो शब्दों के योग से बना है। 'आर' शब्द 'ऋ' धातु से बना है; इसका अर्थ है गति या प्राप्ति। अतः शृङ्गार का अर्थ 'कामोद्रेक की प्राप्ति' होता है। इसका स्थायी भाव रति है।

परिभाषा—आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में शृङ्गार की परिभाषा इस प्रकार दी है—

“शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुकः,

पुरुषप्रमदाभूमिः शृंगार इति गीयते।”

मम्मट ने दाम्पत्य रति को ही शृङ्गार कहा है। देवता, मुनि, गुरु, पुत्रादि में होने वाली रति को उन्होंने भाव कहा है।

भरत मुनि की शृङ्गार की परिभाषा सामान्य परिभाषाओं से कुछ भिन्न है। वे लिखते हैं—

यत्किञ्चित्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते’

—नाट्यशास्त्र

अर्थात् संसार में जो कुछ उत्तम शुचि-उज्ज्वल और दर्शनीय है, वही शृंगार है।

संस्कृत साहित्य में शृंगार रस का महत्त्व—संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने शृंगार रस को सर्वप्रथम स्थान देकर इसे रसराम के नाम से अभिहित किया है। अग्निपुराण में अन्य सब रसों की उत्पत्ति शृंगार रस से कल्पित की गई है।

“व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते

तद्भूबाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः”

—अग्निपुराण ३४।४,५

शृंगार से अन्य रसों की उत्पत्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया है—आत्मा आनन्द रूप है। इस आनन्दस्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति ही रस है जो आनन्द का विधान करता है। आनन्द के प्रथम विकार रूप अहंकार की उत्पत्ति होती है और इसी से रति का प्रादुर्भाव होता है। विभावानुभावों से पुष्ट होकर यह रति शृंगार रस कहलाती है। रति के सत्त्वादि गुणों से राग, तीक्ष्णता, गर्व और संकोच यह चार रूप दिखलाई पड़ते हैं। इन्हीं रूपों से क्रमशः शृङ्गार, रोद्र, वीर, वीभत्स रसों की उत्पत्ति होती है। इन चार रसों से हास्य, रोद्र, अद्भुत और भयानक रस उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण में शृंगार को ही सब रसों का मूल आधार कहा है।

महाराजा भोज ने अग्निपुराण के अनुसार ही शृंगार रस को प्रधानता दी है— इतना ही नहीं वह शृंगार को ही एक मात्र रस मानते हैं। अन्य रसों को रस की संज्ञा देना वे परम्परा-पालन मात्र बताते हैं। अपने ग्रन्थ ‘शृंगार प्रकाश’ में वे लिखते हैं—

“शृंगार वीर कवणाद्भूतरीह्रास्य

वीभत्सबात्सल्यभयानकशास्तनाम्नः

आम्नासिषुर्वंशरसान्मुखियो वयं तु
 शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः
 वीराङ्ग ताविषु च येह रस प्रसिद्धिः
 सिद्धा कुतोऽपि वटपक्षववाभिवाति
 लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
 मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः”

—प्रथम प्रकाश ६, ७

‘ध्वन्यालोककार’—ने भी इस रस के महत्त्व को स्वीकार किया है—

“शृंगार रसोहि संसारिणां नियमेन अनुभवविषयत्वात्
 सर्वरसे यः कमनीयतया प्रधानभूतः ।”

—ध्वन्यालोक

हिन्दी साहित्य में शृङ्गार रस का महत्त्व—हिन्दी के रीतिकाल के रसिक कवि और आचार्य देव ने शृङ्गार रस को ही प्रधानता दी है। अन्य सब रसों को उन्होंने शृङ्गार के संयोग और वियोग पक्षों से सम्बन्धित माना है। संयोग शृङ्गार का संबंध हास्य, वीर और अद्भुत से है और वियोग शृंगार का सम्बन्ध करुण, रौद्र और भयानक से। वीभत्स और शान्त रसों को वे दोनों पक्षों में मानते हैं। शृंगार रस की प्रधानता को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

“तीनि मुख्य नव ही रसनि, द्व द्व प्रथमनि लीन,
 प्रथम मुख्य तिनहन में, दोऊ तेहि आधीन ।
 हास, भाव, सिंगार रस, रुद्र, करुण रस वीर,
 अद्भुत और वीभत्स संग, सातो वरतन वीर ॥

—शब्दरसायन तृ० प्रकाश; पृ० ३१

इन पंक्तियों में देव कवि ने तीन-तीन रसों को एक साथ रस मानकर प्रथम दो को तीसरे में लीन होना बताया है। इस प्रकार हास और भाव शृङ्गार में, रौद्र और करुण वीर में तथा अद्भुत और वीभत्स शान्त रस में लीन होते हैं। अतः देव ने शृंगार, वीर और शान्त यह तीन प्रमुख रस कहे हैं। इन तीनों में भी वे शृङ्गार को मुख्य और अन्य दो को उसके अधीन मानते हैं।

‘भवानी विलास’ में भी देव कवि ने शृंगार को ही सब रसों का मूल मानते हुए लिखा है—

“भूलि कहत नवरस सकवि सकल मूल शृङ्गार ।

तेहि उछाह निरखेव लं वीर सांत संचार ॥” (१।१०)

देव कवि के समान रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने शृंगार रस को ही महत्त्व दिया है। मतिराम कवि की ‘रसराज’ नामक पुस्तक इसी उद्देश्य के हेतु रची गई है। केशवदास ने भी अपनी ‘रसिक प्रिया’ में लिखा है—

“नव हू रस को भाव वह तिनको भिन्न बिचार ।

सबको केशवदास कहि, नायक है सिंगार ॥”

इनके अतिरिक्त सुखदेव मिश्र, कवीन्द्र, दास, तोष, वेनी, पद्माकर आदि कवियों ने भी शृङ्गार रस को सर्वाधिक महत्त्व दिया है—

“स्याम वरण ब्रजराज पति, थाई है रतिभाव ।

ताहि कहत सिंगार है, सकल रसन को राब ॥”

—वेनीप्रवीन, नवरसतरंग

कवि पद्माकर ‘जगद्विनोद’ में लिखते हैं—

“नवरस में सिंगार रस, सिरे कहत सब कोइ”

शृङ्गार का रसरजत्व—शृङ्गार रस को अधिकांश आचार्यों ने रसरजत्व की उपाधि दी है। इसका सर्वप्रमुख कारण है शृङ्गार-भावना की व्यापकता। शृङ्गार का स्थायी भाव रति है। रति प्रत्येक प्राणी की शाश्वत भावना है। आचार्य रुद्रट ने एक स्थल पर लिखा है—

“अनुसरति रसानां रत्यतामस्य नान्यः सकलमिदमेन व्याप्तवातवृद्धम्
तदिति विरचनीयः सम्यगेवः प्रयत्नात् भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्”

—काव्यालंकार

अर्थात् शृङ्गार रस की स्थिति आवाल-वृद्ध में रहती है। इसके समान सरस रस अन्य कोई नहीं है। काव्य में इस रस का सम्यक् निरूपण होना चाहिए क्योंकि शृङ्गार रहित काव्य नीरस हो जाता है।

अभिनवगुप्त ने भी अपनी ‘अभिनवभारती’ में ‘तत्र कामस्य सकल जाति सुलभ-तया’ इत्यादि शब्दों में शृंगार भावना को जाति सुलभ सामान्य भाव कहा है। यह प्रत्येक काल और जाति में नित्य रूप से विद्यमान रहा है इसीलिए इसे आदि रस भी कहा गया है। काव्य मानव-भावनाओं का वर्णमय चित्र होता है अतः मानव की प्रधान भावना को भी शृंगार रस के नाम से प्रधान रूप दिया गया है।

शृंगार रस की सरसता और कमनीयता ने भी उसे आकर्षणत्व प्रदान किया है। यही कारण है कि साहित्य के किसी भी युग के लेखक और कवि अपनी रचना में शृंगार रस का त्याग नहीं कर सके हैं। शृंगार रस-प्रधान ग्रन्थों की संख्या अन्य रसों की अपेक्षा अधिक है। अन्य किसी रस को जहाँ कहीं प्रधानता भी दी गई है वहाँ भी लेखक शृंगार की उपेक्षा नहीं कर सके। वास्तव में दाम्पत्य और वात्सल्य में से किसी-न-किसी रूप में रति-भावना का विस्तार अवश्य देखा जाता है।

शृङ्गार रस के भेदों और उसके भाव, अनुभाव और संचारी आदि का जितना विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन लक्षण ग्रन्थों में किया गया है उतना अन्य किसी रस का नहीं किया गया। इसका कारण भी यही है कि शृंगार रस में जितना लेखकों का मन रमा है उतना अन्य रसों में नहीं। अन्य रसों को तो अधिकांश विद्वानों ने शृंगार

के अधीन कहकर एकमात्र शृंगार रस ही माना है। कवि कर्णपूर ने 'अलंकार कौस्तुभ' में कहा है—

“उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमखण्डरसत्वतः
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव बारिधौ ।”

अर्थात् जिम प्रकार समुद्र में तरंगें उन्मीलित होती हैं उसी प्रकार प्रेम में अन्य सभी रसों का उन्मीलन होता है।

शृंगार के अन्तर्गत सभी संचारी भावों का निदर्शन हो जाता है। अन्य रसों में सभी संचारियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। आलस्य, जुगुप्सा, मरण आदि जो संचारी भाव संयोग शृंगार में वर्जित हैं वे वियोग शृंगार में वर्णित किए जा सकते हैं। देव कवि ने शृंगार का रूप अनन्त कहा है। पक्षी जिस प्रकार आकाश का अन्त नहीं पा सकते उसी प्रकार अन्य रस भी उसकी अनन्तता तक नहीं पहुँच सकते—

“विमल सुदृ सिंहार-रस, देव अकास अनन्त ।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस विवस न पावत अन्त ॥”

हिन्दी के रीतिकालीन कवि बेनी प्रवीन ने शृङ्गार की रसरাজता का एक दूसरा ही कारण कल्पित किया है। शृङ्गार का रंग श्याम वर्ण का माना गया है। यही वर्ण उनके काव्यालम्बन रसिक कृष्ण का भी है। रति जैसा मधुर भाव इसका स्थायी भाव है इसीलिए वे शृङ्गार को प्रधानता देते हुए लिखते हैं—

“श्याम वरण ब्रजराजपति, थाई है रतिभाव ।

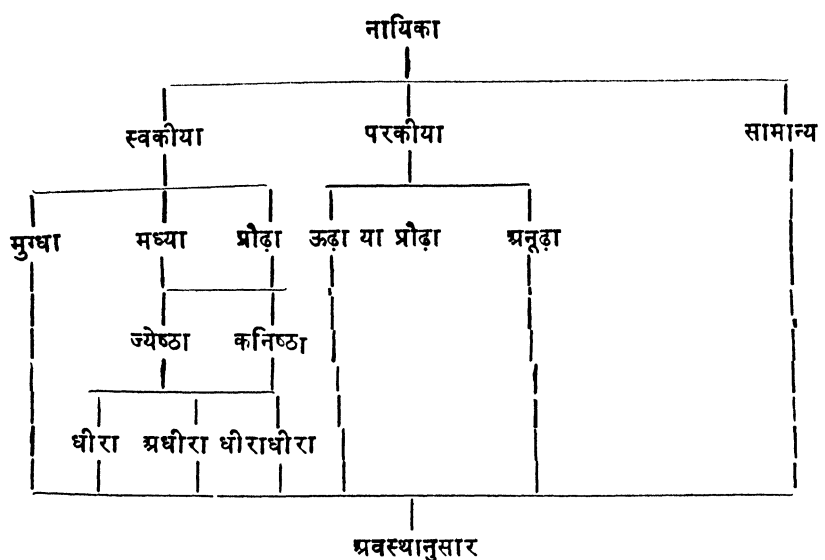
ताहि कहत सिंगार हैं, सकल रसन को राज ॥” —नवरसतरंग

शृङ्गार रस का शास्त्रीय रूप

आचार्यों ने शृङ्गार का श्याम वर्ण माना है। विष्णु इसके देवता हैं—‘श्याम वर्णो विष्णुदेवतोऽयं शृङ्गारः’ ।

स्थायी भाव—शृंगार का स्थायी भाव रति है। साहित्य-दर्पण में रति को स्पष्ट करते हुए लिखा है—‘रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्’ अर्थात् मनोजुकूल वस्तु के प्रति प्रमाद होने को रति कहते हैं।

आलम्बन विभाव—(नायिका और नायक) इस रस की नायिका प्रौढ़ा और प्रेम-शून्य वेश्या के प्रतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की हो सकती हैं। नायिका के निम्न-लिखित भेद रसतरङ्गिणी में दिए हुए हैं—



स्वकीया (पतिव्रता) नायिका तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। अंकुरित यौवना नायिका को मुग्धा कहा गया है। मध्या में लज्जा और काम का सम्मिश्रण रहता है। प्रौढ़ा नायिका में लज्जा नहीं रहती। वह अन्यासक्त नायक को कठोर वाक्य कहती है। मध्या और प्रौढ़ा नायिकाएँ दो प्रकार की होती हैं। ज्येष्ठा—जिसके प्रति पति का प्रेम अधिक होता है, दूसरी कनिष्ठा—इस पर प्रेम कम होता है। मध्या ज्येष्ठा और कनिष्ठा तथा प्रौढ़ा ज्येष्ठा और कनिष्ठा तीन-तीन प्रकार की होती हैं। धीरा, अधीरा और धीराधीरा। मध्या धीरा नायिका अन्यासक्त नायक पर परिहास के व्याज से कोप करती है, किन्तु अधीरा नायिका रुदन द्वारा और धीराधीरा वक्रोक्ति द्वारा नायक को दुःखित कर कोप करती है। प्रौढ़ा धीरा नायिका ऐसे नायक का बहिर्रूप से तो आदर करती है किन्तु अन्दर से कुपित रहती है। अधीरा प्रौढ़ा अन्यासक्त नायक का ताड़न करती है और धीराधीरा वक्रोक्ति द्वारा उसे लज्जित करती है। परकीया (प्रेमिका) नायिका दो प्रकार की होती है। ऊढ़ा (प्रौढ़ा) और अनूढ़ा। ऊढ़ा वह है जो अन्य पुरुष से विवाहित होती है। अनूढ़ा अविवाहित होती है। सामान्या प्रेमयुक्त वेश्या होती है।

अवस्थानुसार किया गया नायिका-भेद इस प्रकार है—

१. प्रोषित पतिका—जिसका नायक परदेश चला गया हो।
२. खण्डिता—परासक्त नायक को देख ईर्ष्या से युक्त।

३. कलहान्तरिता—नायक से कलह कर पश्चात्ताप करने वाली ।
४. विप्रलब्धा—संकेत स्थान पर नायक के न आने से अपमानित ।
५. उत्का—नायक के न आने से चिन्तित ।
६. वासकसज्जा—नायक के आने से पूर्व शृङ्गार करने वाली ।
७. स्वाधीनपतिका—प्रपने गुणों से नायक को अधीन करने वाली ।
८. अभिसारिका—संकेत स्थल पर जाने वाली नायिका ।

प्रकृति के अनुसार नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं—

उत्तमा—अन्यासक्त नायक का भी हित चाहने वाली ।

मध्यमा—नायक के अनुसार हित-अहित करने वाली ।

अधमा—नायक द्वारा हित करने पर भी उसका अहित करने वाली ।

स्वभावानुसार नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं—

अन्य सम्भोगदुःखिता—नायक के साथ प्रेम करने वाली अन्य नायिका को देख दुःखित होने वाली ।

वक्रोक्तिगविता—स्वरूप और नायक के प्रेम पर गर्व करने वाली ।

मानवती—अन्यासक्त नायक पर कोप करने वाली ।

मुग्धा अवस्थानुसार चार प्रकार की होती हैं—

ज्ञातयीवना ।

अज्ञातयीवना ।

नवोद्धा ।

विश्रब्ध नवोद्धा ।

प्रौढ़ा नायिका के क्रियानुसार दो भेद हैं—

रतिप्रिया ।

आनन्दसम्मोहिता ।

परकीया के क्रियानुसार छः भेद हैं—

गुप्ता—अपने प्रेम को छिपाने वाली ।

विदग्धा—चातुरी से नायक को संकेत करने वाली ।

लक्षिता—जिसका प्रेम सखियों पर प्रगट हो गया हो ।

अनुशयाना—संकेत स्थान पर जाने वाली ।

कुलटा—कई पुरुषों से प्रेम करने वाली ।

मुदिता—इच्छित बातों पर मुग्ध होने वाली ।

अनुशयाना परकीया तीन प्रकार की होती है—

संकेत विघट्टना—संकेत स्थान के नष्ट होने से दुःखित ।

भावीसंकेत विघट्टना—भावी स्थान की चिन्ता करने वाली ।

रमणगता—संकेत स्थल पर कारणवश न पहुँचने वाली ।

नायक के भेद—नायक तीन प्रकार के होते हैं—

पति—विवाहित नायक

उपपति—अन्यासक्त नायक ।

वैशेषिक—व्यभिचारी नायक ।

पति चार प्रकार के होते हैं—

अनुकूल—पत्नी पर अनुरक्त ।

दक्षिण—कई नायिकाओं पर समान रूप से अनुरक्त ।

धृष्ट—अपराधी और तिरस्कृत होने पर भी विनय करने वाला ।

शठ—अपराधी चतुर नायक ।

उद्दीपन विभाव—शृङ्गार के उद्दीपन विभाव नायिका की सखी, नायक के सखा और दूती, देश-काल आदि हैं । सखी की शिक्षा, परिहास, उपालम्भ आदि से रति-भावना उद्दीप्त होती है । सखा चार प्रकार के होते हैं—

पीठमर्द, विट, चेट, विदूषक । दूती भी चार प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा, अधमा और स्वयंदूतिका ।

इनके अतिरिक्त वन, उपवन, ऋतु, पुष्प, भ्रमर, कोकिल आदि देश-काल सम्बन्धी वस्तुएँ भी उद्दीपन रूप में प्रयुक्त होती हैं ।

अनुभाव—नायक नायिका की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ और अवस्थाएँ शृङ्गार रस के अनुभाव होते हैं । जैसे भ्रूभंग, भुजाक्षेप, पारस्परिक अवलोकन, स्वेद, रोमाञ्च आदि । अनुभाव असंख्य होते हैं । स्त्रियों के २८ अलंकार भी अनुभाव ही हैं ।

व्यभिचारी या संचारी भाव—जुगुप्सा, उग्रता, मरण को छोड़कर हर्ष, मोह, चिन्ता, लज्जा, उत्मुक्ता आदि सभी संचारी शृङ्गार रस के अन्तर्गत होते हैं । संयोग शृङ्गार में आनन्दोत्पादक संचारी का प्राचुर्य रहता है और वियोग शृङ्गार में कष्टोत्पादक संचारियों की अधिकता रहती है ।

शृङ्गार रस से भेद—शृङ्गार रस के प्रमुख दो भेद किए गए हैं—संयोग और वियोग ।

‘शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ । सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।’

—ध्वन्यालोक

संयोग और वियोग के भी अनेक अवान्तर विभेद हैं ।

सम्भोग शृङ्गार

किसी कवि के सम्भोग शृङ्गार का वर्णन करते समय किसी आलोचक को कौन-कौन सी बातों पर विचार करना चाहिए, इस विषय पर प्राच्य या पश्चात्य किसी आचार्य ने विशेष कुछ नहीं लिखा है । वास्तव में सम्भोग शृङ्गार कामशास्त्र का विषय है । शृङ्गारी कवियों ने प्रायः सम्भोग शृङ्गार का वर्णन करते समय कामशास्त्र के

ग्रंथों का ही अनुकरण किया है। अतएव यहाँ पर हम कामसूत्र के प्रकाश में ही शृङ्गार की बातों पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

सम्भोग और कलाएँ—

हमारे यहाँ कामशास्त्र में काम-कलाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है। ये काम-कलाएँ चार प्रकार की होती हैं—

१. कर्माश्रित—नृत्य, संगीत, वाद्य, चित्रकला आदि २४ कलाएँ कर्माश्रित होती हैं।

२. द्यूताश्रित—कुछ कलाएँ ऐसी होती हैं जिनका सम्बन्ध द्यूत-क्रीड़ा से होता है। जैसे अक्षविद्या, नयजनन रूप, संख्या आदि। यह संख्या में २० हैं।

३. शयनोपचारिक—भावग्रहण, प्रत्यङ्गदान आदि १५ कलाएँ शयनोपचारिक नाम से अभिहित की जाती हैं।

४. उत्तर कलाएँ—इनके अन्तर्गत शापदान, तिरस्कार, शपथ करना, प्रस्थितानुगमन इत्यादि।

कलाओं के इन भेदों से स्पष्ट पता चलता है कि संयोगावस्था में नायक और नायिका कुछ निश्चित परिपाटियों का पालन करते थे। किसी कवि के संयोग शृङ्गार की आलोचना करते समय आलोचक को उस कवि की कृतियों में इन कलाओं की स्थिति का निर्देश करना चाहिए।

संयोग शृङ्गार का आवश्यक वर्णनीय अंग नायक और नायिका का सौन्दर्य-चित्रण भी होता है। अधिकतर नायिका के सौन्दर्य-वर्णन को ही महत्त्व दिया जाता है। नायिका के सौन्दर्य-वर्णन से साहित्य भरा पड़ा है। ज्योतिषशास्त्र और कामशास्त्र के अनुसार श्रेष्ठ नायिका में निम्नलिखित स्थूल शारीरिक सौन्दर्य सम्बन्धी बत्तीस लक्षण होते हैं—१. नख—रक्त-वर्ण, २. पादपृष्ठ—कछुए की पीठ जैसा, ३. गुल्फ—गोलाकार, ४. पैर की उंगली—अविरल, ५. तलवा—लाल और शुभचिह्न युक्त, ६. जंघा—गोल चढ़ाव-उतारदार, ७. जानु—सुडौल, ८. ऊरु—अविरल, ९. भग—पीपल पत्र जैसी, १०. भग का मध्य भाग—गुप्त, ११. पेड़—कूर्म पृष्ठवत्, १२. नितम्ब—मांसल, १३. नाभि—गम्भीर, १४. नाभि का ऊपरी भाग—त्रिवली युक्त, १५. स्तन—गोल और कठोर, १६. पेट—मृदु, लोमरहित, १७. ग्रीवा—कम्बुवत्, १८. श्रोष्ठ—लाल, १९. दाँत—कुंदवत्, २०. वाणी—मधुर, २१. नासिका—सीधी, २२. नेत्र—कंजवत्, २३. भौंह—घनुषवत्, २४. ललाट—अर्धचन्द्रवत्, २५. कर्ण—कोमल, २६. केश—नीले, सटकारे, सुकुमार, २७. शीश—सुडौल, २८. कलाई—गोल, कोमल, २९. बाँह—सुडौल, ३०. मणिबंध—नीचे को दबा हुआ, ३१. हथेली—रक्तवर्ण, ३२. हाथ की उंगली—पतली, सुडौल। सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित ३२ लक्षण इन से भिन्न हैं। वे इस प्रकार हैं—१. छाता २. कमल ३. घनुष ४. रथ ५. वज्र ६. कछुआ ७. अंकुश ८. बावली ९. स्वस्तिक १०. तोरण ११. वाण १२. सिंह १३. चक्र १४. शङ्ख १५. हाथी १६. समुद्र १७. कलश १८. मंदिर १९. मछली

२०. यव २१. जुवा २२. स्तूप २३. कमंडल २४. पर्वत २५. विष्णु २६. चमर २७. दर्पण २८. वृष २९. पताका ३०. लक्ष्मी ३१. पुष्पमाला ३२. मोर ।

इन बत्तीस लक्षणों के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र में नायिकाओं के अट्ठाईस अलंकार भी गिनाए गए हैं । उनमें से तीन अंगज, सात अयत्तज और अठारह स्वभावज होते हैं । इन्हें हम सूक्ष्म शारीरिक सौन्दर्य सम्बन्धी उपादान कह सकते हैं । वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

अंगज—१. भाव—यदि हृदय में प्रथम बार काम-विकार को भाव कहते हैं । २. हाव—नेत्र, भ्रुकुटी आदि से संभोग की अभिलाषा को प्रकट करने वाले विकार हाव कहलाते हैं । ३. हेला—हावों के अत्यन्त स्फुट रूप को हेला कहते हैं ।

अयत्तज—१. शोभा—रूप यौवनादि के उन्मेष से उदित हुआ सौन्दर्य । २. कान्ति—विलासोद्भूत एक अनिर्वचनीय छवि । ३. दीप्ति—कान्ति का स्फुटतम रूप । ४. माधुर्य—सब प्रकार से मधुर लगने वाली रूप संबंधी विशेषता । ५. प्रगल्भता—रूप-यौवनजनित निर्भयता । ६. औदार्य—रूप यौवनोद्भूत विनय-भाव । ७. धैर्य—आत्मविश्वासजनित गम्भीरता ।

स्वभावज—१. स्नेहाधिक्य से प्रियतम की वेशभूषा, प्रेमालाप आदि का अनुकरण करना । २. विलास—प्रियतम को देखकर सहसा उत्पन्न होने वाली आकृष्टकारक कामोद्दीपक विशेषता । ३. विच्छित्ति—रूप को बढ़ाने वाला हलका शृङ्गार । ४. विवशोक—रूप-यौवनजनित गर्व के कारण प्रिय का अनादर करने का भाव । ५. किल्बिंकित्—अतिप्रिय व्यक्ति के सहसा मिलन से उद्भूत हर्ष-विषाद-त्रास आदि से मिश्रित एक विचित्र भाव । ६. मोट्टायित—प्रियतम की कथा सुन उत्पन्न होने वाला प्रेम, लज्जा और उपेक्षा मिश्रित एक विचित्र भाव । ७. कुट्टमित—प्रियतम द्वारा केश, स्तन, आंचल आदि पकड़ने पर आंतरिक हर्ष और घबराहट मिश्रित एक विचित्र भाव का उदय । ८. विभ्रम—प्रियतम के आगमन से प्रसन्न होकर तथा घबड़ाकर आभूषणों को उलट-फेर करके पहन लेना विभ्रम कहलाता है । ९. ललित—अंगों को सुकुमारता से संचालित करना । १०. मद—सौभाग्य रूप यौवनादिजनित गर्व से उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का काममय अनुभाव । ११. विहृत—लज्जा के कारण कहने के समय भी कुछ न कह सकना । १२. तपन—प्रियतम के वियोग में कामजनित संताप-पूर्ण अनुभूति । १३. मोघ्य—जानी हुई बात को भी अनजाने की भाँति पूछना । १४. विक्षेप—प्रियसामीप्य से उद्भूत हर्ष और घबराहट के भावों से प्रेरित होकर इधर-उधर देखना तथा कुछ रहस्यमय बातें करना । १५. कुतूहल—चित्ताकर्षक वस्तु या व्यक्ति को देखने के लिए आतुर होना । १६. हसित—यौवनजनित अकारण हास्य । १७. चकित—प्रिय के आगे अकारण डरना या घबराना । १८. केलि—प्रियतम की कामिनी से काम-क्रीड़ा ।

सौन्दर्य के इन लक्षणों के होते हुए भी नायिका के लिए शृङ्गार करना आवश्यक होता है । शृङ्गार सोलह माने गये हैं । वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

उबटन, वस्त्र, ललाट पर बिन्दी, बाल की जोटी, कान में कुण्डल, नाक में मोती की नथिया, हार, केसर का अनुलेपन, अंगिया, पान, कमर में करधनी, हाथ में कंगन या चूड़ी, अन्य रत्नजटित आभूषण आदि ।

कामसूत्र में विलासी नागरिक की दिनचर्या का विस्तार से उल्लेख किया गया है । यह दिनचर्या भी संयोग शृङ्गार में वर्णनीय होती है । आलोचक को चाहिए कि शृङ्गार रस के आलम्बन रूप नायक और नायिका की दिनचर्या का विश्लेषण करे । बहुत से कवियों ने विशेष करके रीतिकालीन कवियों ने नायक और नायिका की दिनचर्या पर लम्बे-चौड़े ग्रन्थ लिखे हैं ।

संयोग शृङ्गार का वर्णन करते समय हमें नायिका-भेद पर भी विचार करना पड़ता है । साहित्यशास्त्र में नायिका-भेद के अतिरिक्त कवियों ने कामशास्त्र में वर्णित नायिका-भेद का भी अनुसरण किया है । कामशास्त्र में चार प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख है—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी । साहित्य में कवियों ने अधिकतर पद्मिनी नारी का ही उल्लेख किया है । रति-रहस्य में पद्मिनी के निम्नलिखित लक्षण दिए हैं—

“भवति कमलनेत्रा नासिका क्षुद्र रन्ध्रा
अविरल कुच युग्मा दीर्घ केशी कृशाङ्गी
मृदु वचन सुशीला नृत्य गीतानुरक्ता
सकल सुतनुवेशा पद्मिनी पद्मगंधा ।”

अर्थात् पद्मगंधवाली पद्मिनी के नेत्र कमल सदृश, नासिका-छिद्र छोटे, युगल-कुच अविरल, केश दीर्घ और शेष अंग दुबला होता है । वह सुशीला नायिका मधुर वचन बोलने वाली, नृत्य-गीतादि में अनुरक्त और सुडौल शरीर वाली होती है । कामशास्त्र में भी लगभग इसी प्रकार का वर्णन मिलता है—

पद्मिनी नारी कमनीय वदन वाली नवनीत या कमलदल के समान कोमल होती है । इसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर और नेत्र हरिणी के शावक के समान चपल होते हैं । इसके शरीर से पद्मपराग की सुगन्ध आती है । नेत्रों के कोरों में लालिमा छाई रहती है । उन्नत कुच बिल्वफल के समान मनोहर और आकर्षक होते हैं । नासिका तिल के पुष्प के समान मृदु और सुघर होती है । वह धार्मिक बातों में रुचि रखती है । इसका शरीर चम्पा के समान गौर वर्ण होता है । राजहंसिनी की तरह इसकी गति होती है । हंसिनी के सदृश मधुर वाणी बोलती है । यह लज्जाशीला और मानिनी भी होती है । पति का आदर करती है और लक्ष्मी रूपा होती है ।

पद्मिनी के बाद चित्रिणी जाति की नारी श्रेष्ठ होती है । वह तन्वगी, गज-गामिनी, चपल दृग, संगीत शिल्पान्विता होती है । वह आकार में न बहुत छोटी होती है न बड़ी । उसकी कटि क्षीण होती है । मयूर सदृश उसकी बोली होती है । श्रेणी और पयोधर पीन होते हैं । बिम्बाफल के सदृश होठ होते हैं । चित्र, वस्त्र, मासा, भूषण आदि शृङ्गार के बनाने में सदैव लगी रहती है । प्रणयोपचारों की अनुरागिनी होती है, इत्यादि ।

शंखिनी जाति की स्त्री इन दोनों की अपेक्षा हेय होती है। वह मोटी या पतली होती है। बाँहें लम्बी, सिर छोटा, पैर बड़े होते हैं। छोटे स्तन होते हैं। लाल पुष्पों के समान वस्त्रों की इच्छा रखती है। पित्त प्रकृति की होती है। कर्कश स्वर बोलती है। इसकी नासिका उन्नत होती है। यह व्यभिचार में मन रखती है।

हस्तिनी नायिका इन सब में निकृष्ट होती है। वह बुरे ढंग से चलने वाली होती है। पैर मोटी-मोटी उँगलियों से समन्वित होते हैं। आकार में गोलमटोल होते हैं। उसके शरीर से हाथी के मद के सदृश दुर्गन्ध आती है। ओठ चंचल और बड़े होते हैं। आँखें पिंगल वर्ण की होती हैं। विलास और व्यभिचार में अनुराग रखती है।

संयोग में प्रणय-लीला

संयोग शृङ्गार में प्रणय-लाला को विशेष महत्त्व दिया गया है। अंग्रेजी में इस प्रणय-लीला को कोर्टशिप (Courtship) कहते हैं। कामशास्त्र में भी तथा भरत मुनि ने भी आठ प्रणयोपचार बतलाए हैं—

“आश्लेषचुम्बननखक्षत ताडनानिसं मर्दनं प्रासरणं खलु शिक्षितानि
जिह्वाप्रवेशरसनाग्रहणंतुनाभी क्षोभं रतं वदति बाह्यरतानि तञ्जः ॥”

अर्थात् आलिगन, चुम्बन, नखक्षत, प्रहणन, मर्दन, प्रसरण, जिह्वा-प्रवेश, रसना-ग्रहण एवं नाभि का क्षोभ करना बाह्य रतोपचार कहे गये हैं।

वात्स्यायन ने दस प्रकार के रतोपचार माने हैं। वे भरतमुनि से थोड़े भिन्न हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—आलिगन, चुम्बन, नखक्षत, दन्तदशन, आसन, प्रहणन, सीतकार, पुरुषायित, उपरिष्ठक, उपसृप्तक। इनके भी अनेक भेदोपभेद बताए गए हैं। शृङ्गारी कवियों ने स्थान-स्थान पर इन विविध प्रकार के रतोपचारों और विविध काम-कलाओं का अपनी रचना में समावेश किया है। आलोचक को चाहिए कि आलोचना करते समय उन सब पर प्रकाश डालें। इन शारीरिक रतोपचारों के अतिरिक्त प्रणय-लीला के अन्तर्गत कुछ बाह्य उपचार भी आते हैं। इनका उल्लेख कामसूत्र में गान्धर्व-विवाह शीर्षक पराग में किया गया है। आलोचक को चाहिए कि वह इन सब का अध्ययन कर शृङ्गारी कवि के संयोग शृङ्गार का विश्लेषण करते समय उनका संकेत करे। यहाँ पर विस्तारभय से उन तमाम बातों का उल्लेख नहीं किया जा रहा है। प्रणयोपचारों के सहायक भूत पात्र दूत और दूती होते हैं। संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत इन दूत-दूतियों पर भी विचार करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमारी समझ में किसी कवि के संयोग शृङ्गार की आलोचना करते समय आलोचक को निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डालना चाहिए—

१. नायक और नायिका का रति स्वरूप।

२. नायक और नायिका का सौन्दर्य-चित्रण—(इसी के अंतर्गत नायिका के २८ अलंकार, ३२ लक्षण और १६ शृङ्गार आर्येण तथा नायक के ‘दश रूपक’ और ‘नाट्यशास्त्र’ में वर्णित १० लक्षण आर्येण)।

३. नायक और नायिका का शास्त्रीय रूप (इसके अंतर्गत नायिका के साहित्यिक और कामशास्त्रीय दोनों रूपों का संकेत किया जायगा) ।

४. मानसिक प्रणयोपचार ।

५. कर्माश्रित प्रणयोपचार (इनके अन्तर्गत कर्माश्रित २४ कलाओं का प्रणय के सहारे जो विकास होता है उसका निर्देश किया जायगा) ।

६. सामाजिक प्रणयोपचार (इसके अन्तर्गत कामशास्त्र में वर्णित द्यूताश्रित कलाएँ आयेंगी) ।

७. शाब्दिक प्रणयोपचार (इसके अन्तर्गत नायक और नायिका के मधुर संलाप और वाग्वैदग्ध्य आदि आयेंगे) ।

८. आंगिक रतोपचार (इसके अन्तर्गत कामशास्त्र में वर्णित शयनोपचारिक कलायें आयेंगी तथा भरत मुनि द्वारा निर्देशित आठ प्रणयोपचार या वात्स्यायन वाले दस प्रणयोपचार इसी के अन्तर्गत आयेंगे) ।

९. संयोग वृत्ति के उद्दीपन में प्रकृति का हाथ ।

१०. संयोग में मान और मानमूलक विरह ।

विरह पक्ष—शृङ्गार का विरह-पक्ष अत्यधिक मार्मिक होता है । आलोचक का कर्तव्य है कि वह किसी भी कवि-कृत विरह का सहृदयता से उद्घाटन करे । इसके लिए उसे निम्नलिखित बातों पर विचार करना होगा ।

विरह-वर्णन के स्थल—प्रायः देखा जाता है कि एक ही कवि एक ही रचना में कई पात्रों का कई प्रकार से कई स्थलों पर विरह-वर्णन प्रस्तुत करता है । आलोचक को चाहिए कि उन सबका अध्ययन कर उनका पात्रानुकूल वर्गीकरण कर, आवश्यकतानुसार उस पर विचार करे । ऐसा करने से एक ओर तो विवेचन की वैज्ञानिकता बनी रहेगी और दूसरी ओर दो पात्रों का विरह-वर्णन एक में नहीं मिलने पावेगा ।

विरह-वर्णन पर पड़े हुए प्रभाव—प्रत्येक कवि का विरह-वर्णन अपनी कुछ अलग विशेषताएँ रखता है । वे विशेषताएँ प्रभावों के अनुरूप हुआ करती हैं । उदाहरण के लिए हम जायसी को ले सकते हैं । जायसी पर सूफी-साधना का पर्याप्त प्रभाव था । उनके विरह-वर्णन की आत्मा सूफी-साधना के प्रकाश में ही प्रकाशित हो सकती है । अतः आलोचक को कवि पर पड़े प्रभावों पर विशेष ध्यान रखना पड़ेगा ।

विरह-वर्णन का शास्त्रीय पक्ष—विरह की मार्मिकता का उद्घाटन करते समय विरह के शास्त्रीय पक्ष का स्पष्टीकरण नितान्त आवश्यक होता है । शास्त्र में विरह पाँच प्रकार का माना गया है—

१. अभिलाषामूलक ।

२. विरहमूलक ।

३. ईर्ष्यामूलक ।

४. प्रवासमूलक ।

५. शापमूलक ।

आलोचक का कर्तव्य है कि विवेच्य विरह की प्रकृति ढूँढ निकाले और उसके उपयुक्त शास्त्रीय बंधन में बाँधकर प्रस्तुत करे। शास्त्रीय पक्ष के अन्तर्गत विरही नायक और नायिका के शास्त्रीय प्रकारों का भी उल्लेख करना होगा। भारतीय साहित्य-शास्त्र में अधिकतर नायिका ही विरहमयी चित्रित की जाती है। इसीलिए विरह की दृष्टि से प्रोषित पतिका, प्रवत्स्य पतिका आदि विभाग किए गए हैं। आलोचक को चाहिए कि वह विरही नायिका के रूप और प्रकार को ढूँढ निकाले।

विरह का शारीरिक पक्ष—विरह का शारीरिक प्रभाव शरीर पर भी बहुत बुरा पड़ता है। किन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र में विरह के शारीरिक पक्ष पर विशेष बल नहीं दिया गया है। उसका कारण यह है कि यहाँ की नायिका मर्यादा और लज्जा के कारण अपने विरह के शारीरिक पक्ष को व्यक्त नहीं होने देती है। किन्तु मुसलमानी साहित्य के प्रभाव से मध्यकालीन नायिकाओं में विरह के शारीरिक पक्ष का चित्रण भी किया गया है। विरह के शारीरिक पक्ष की अभिव्यक्ति कई रूपों में होती देखी जाती है—

१. सात्विकों के रूप में।

२. अन्य अनुभावों के रूप में।

३. शारीरिक दुर्बलताओं आदि के रूप में।

सात्विक भाव आठ होते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

‘स्तम्भप्रलयरोमाञ्चास्वेदो वैवर्ण्यं वेपथुः।

अथ वैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता।

प्रलयो नष्ट संज्ञत्व शेषाः सुदृढतलक्षणा।’

अर्थात् स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु तथा वैस्वर्य आदि ये आठ सात्विक भाव होते हैं। स्तम्भ शरीर के क्रियाशून्य हो जाने को कहते हैं। प्रलय संज्ञाशून्यता को कहते हैं। शेष के लक्षण स्पष्ट ही हैं। इनमें से कुछ सात्विक की अभिव्यक्ति संयोग में भी हो सकती है, किन्तु अधिकतर इनका विधान वियोग में ही किया गया है।

विरह में शरीर की दशा कुदशा हो जाती है। शरीर सूख जाता है, रंग पीला पड़ जाता है। ठंडी आर्हें आती हैं। आलोचक को चाहिये कि कवि-कृत विरह में पात्र के विरह के शारीरिक पक्ष का खोजपूर्ण उद्घाटन करे।

मानसिक पक्ष—भारतीय काव्य-शास्त्र में विरह के मानसिक पक्ष पर ही विशेष बल दिया गया है। विरह की दस दशाएँ अधिकतर मानसिक ही हैं। दशरूपक-कार ने उनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुणमथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) संज्वर या व्याधि, (९) जड़ता, और (१०) मरण।

फारसी काव्यशास्त्र में भी विरह की अवस्थाओं का संकेत किया गया है, किन्तु वे दस न होकर केवल नौ ही हैं। उनमें तीन शारीरिक पक्ष से सम्बन्धित हैं, तीन

मानसिक और तीन व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित हैं। वे नवों इस प्रकार हैं—

- (१) ठंडी साँसें लेना (आहे सदों)।
- (२) रंग का पीला पड़ जाना (रंगे जदों)।
- (३) आँसुओं का बहना (चश्मेतर)।
- (४) प्रतीक्षा करना (इन्तिज़ारी)।
- (५) व्याकुल होना (बेकरारी)।
- (६) अशान्त और धैर्यहीन होना (बेसवर)
- (७) अल्पाहारी होना (कमखुर्दनी)।
- (८) बहुत कम बोलना (कम गुप्तनी)।
- (९) नींदैन आना (नींदे हराम)।

विरह का व्यावहारिक पक्ष—विरह-वर्णन में कवि लोग जीवन के व्यवहार पक्ष की अस्तव्यस्तता भी व्यंजित करते रहे हैं। नायिका जीवन की तो सभी करती हैं, किन्तु उसका रूप ही कुछ और होता है और उनके करने की मानसिक स्थिति ही कुछ और होती है। साकेत की उमिला बेचारी भोजन बनाती है किन्तु वह सब उसे व्यर्थ मालूम होते हैं—

“सखि मुझे यही है रोना
कैसे खिलाऊँ अलोना सलोना।”

कहने का अभिप्राय यह है कि कवि का कर्तव्य है कि विरही की चर्चा का भी निरीक्षण करे।

विरह और प्रकृति—प्रकृति मानव-जीवन की चिरसंगिनी है। फिर भला विरह में वह मानव का साथ कैसे छोड़ सकती है। अतः विरह-वर्णन में आलोचक को प्रकृति-पक्ष का उद्घाटन भी करना चाहिए। विरह में प्रकृति का चित्रण प्रायः तीन प्रकार का होता है—

१. आलम्बन रूप में।
२. उद्दीपन रूप में।
३. पृष्ठभूमि के रूप में।

संदेश पक्ष—संदेश पक्ष विरह का बड़ा ही मार्मिक पक्ष होता है। यही कारण है कि केवल इसी पक्ष को लेकर कवियों ने सुन्दरतम काव्यों की रचना की है। ‘मेघ-दूत’, ‘पवनदूत’ आदि इसी का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रायः सभी कहीं कवियों ने किसी-न-किसी रूप में विरह-वर्णन में संदेश अवश्य भेजा है। आलोचकों को उस संदेश की मार्मिकता का उद्घाटन करना चाहिए।

वर्णनकर्त्ता—विरह का वर्णन काव्यों में कवि लोग या तो स्वयं करते हैं या किसी पात्र द्वारा कराते हैं। पात्र द्वारा विरह-वर्णन कराना अपेक्षाकृत अधिक श्रेयस्कर होता है। इससे शैली में अभिनयात्मकता आ जाती है।

विरह और देश-काल—विरह की अवस्था में देश-काल में परिवर्तन आ जाते

है। कवि लोग उनका भी वर्णन करते हैं। जो देश संयोग में अमरावती-सा लगता है, विरह में वही कठोर मरुभूमि में बदल जाता है। जो तीज, त्यौहार हर्ष-समुद्र उडेलते थे वे अब विरह-विष बरसाते हैं। बारहमासा भी इसी के अन्तर्गत है। हिन्दी साहित्य में बारहमासा का विधान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। कवि विरह की बारहों महीनों की मार्मिकता का वर्णन कर वेदना की अनिवर्चनीयता व्यंजित करता है। आलोचक का कर्तव्य है कि विरह में बारहमासा के रहस्य और उसकी मार्मिकता का विवेचन अवश्य करे।

विरह-वर्णन की शैलियाँ—कवि लोग विरह-वर्णन प्रायः दो प्रकार की शैलियों में करते हैं—

(१) ऊहात्मक।

(२) संवेदनात्मक।

आचार्य शुक्ल ने ऊहात्मक शैली के भी तीन रूप बतलाए हैं—

(१) ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य अर्थात् कवि प्रौढोक्ति सिद्ध।

(२) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या स्वतः संभव। और किसी प्रकार की कल्पना नहीं की गई है।

(३) ऊहा की आधारभूत वस्तु तो सत्य हो किन्तु उसके हेतु की कल्पना की गई है।

संवेदनात्मक शैली भी दो प्रकार की हो सकती है—

(१) वस्तु रूप में;

(२) अलंकार रूप में।

वस्तु रूप में कवि लोग विरह का वर्णन सहानुभूति का पुट देकर इस प्रकार करते हैं कि विरह की मार्मिकता प्रकट हो जाती है। अलंकार रूप में प्रायः उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग किया जाता है जिससे ऊहा की असत्यता नष्ट हो जाती है और वह संवेदना की सीमा तक पहुँच जाती है।

अन्त में समस्त विरह-वर्णन की व्याख्या करके उसकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालना चाहिए। प्रत्येक प्रकार का विरह वर्णन कुछ अपनी मौलिक विशेषताएँ रखता है। उनको खोज कर उनका निर्देश किया जाना चाहिए।

करुण रस

शास्त्रीय रूप—प्रिय-वियोग, बन्धु-विनाश, निराशा, धर्माघात, द्रव्य-नाश आदि अनिष्टों से करुण रस उत्पन्न होता है। आचार्यों ने यमराज को, इसका देवता माना है और वर्ण कपोत के समान बताया है (अयं कपोतवर्णो यमदैवतश्च)।

आलम्बन—नायक नायिका, पराभव, वियोग आदि।

उद्दीपन—प्रिय-वियोग तथा उसके गुण का स्मरण, चित्र-दर्शन आदि।

अनुभाव—रोदन, उच्छ्वास, प्रलाप, भूमि-पतन, मूर्च्छा, ववर्ण, कम्प, दैव-निन्दा आदि।

संचारी भाव—निर्वेद, ग्लानि, मोह, स्मृति, चिन्ता, विषाद, उन्माद, दैन्य, व्याधि आदि ।

स्थायी भाव—शोक 'दृष्टनाशाभिलतोवैषचेव्यं शोकशब्दभाक्' ।

करुण के भेद—करुणा कई प्रकार की होती है । प्रिय-विनाशजनित, प्रिय-वियोगजनित, घननाशजनित और पराभवजनित आदि करुणा के भेद हैं ।

मात्रा के अनुसार भी करुणा के भेद किए गए हैं—

“करुण अतिकरुण औ’ महाकरुण लघुकरुण हेतु ।

एक कहत हैं पाँच यों दुख में सुखहि सचेतु ।”

अर्थात् करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण यह करुणा के पाँच भेद हैं ।

करुण रस का महत्त्व—संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि भवभूति ने 'करुण एव एको रसः' कहकर करुण रस को प्रधान रस कहा है । इसके विपरीत रुद्रट, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने शृंगार को 'जाति सुलभ' रस होने के कारण 'रसराज' के पद से विभूषित किया है । निस्संदेह शृङ्गार इस दृष्टि से व्यापक और मधुर रस है किन्तु करुणा की व्यापकता ने शृंगार के क्षेत्र को भी आवृत कर लिया है । काव्य के प्रधानभूत नव रसों के शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अनुशीलन से करुण रस की महत्ता का दिग्दर्शन किया जा सकता है ।

काव्यगत सभी रसों में करुण रस किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है । शृङ्गार रस के वियोग पक्ष में करुणा कवि की लेखनी का आधार पाकर साकार हो उठती है । हास्य रस में भी उपहासास्पद व्यक्ति के साथ पाठक या दर्शक की सहानुभूति जाग्रत हो जाती है । अन्य रस तो करुण चित्रों को चित्रित किये बिना विकसित ही नहीं होते । सांसारिक द्वन्द्वों से निर्लिप्त करने वाले शान्त रस का पूर्ण परिपाक भी कारुणिक दृश्यों के चित्रण से किया जाता है । संसार से विरक्ति उत्पन्न करने के लिए शांत रस प्रधान काव्य में बीभत्स रस का नियोजन आवश्यक माना गया है । करुणा के इस व्यापक प्रसार के कारण ही महाकवि भवभूति ने करुण रस को प्रकृति रस कहा है । अन्य सभी रसों को करुण रस के विवर्त्त रूप में कल्पित किया है । उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

“एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्

मिन्नः पृथग्पृथगिवाभ्रयते विवर्तान्

आवर्त बुद्बुद्-तरङ्गमयान् विकारान्

अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समप्रम्”

अर्थात् करुण ही सर्वप्रमुख रस है ।

करुण रस के संचारी भी अन्य रसों के संचारियों से अधिक व्यापक हैं । अनु-भावों के अंतर्गत आने वाले सभी सार्विक भाव इसके संचारी भाव हैं ।

रसों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा भी करुण रस सर्वाधिक व्यापक रस

सिद्ध होता है। करुण रस में भाव-तादात्म्य की शक्ति अन्य रसों की अपेक्षा अधिक होती है। काव्य की सफलता की पूर्ण पराकाष्ठा भाव-तादात्म्य पर आधारित है। भाव-तादात्म्य की पराकाष्ठा ही साधारणीकरण की स्थिति है। साधारणीकरण को स्पष्ट करने वाले प्रधान आचार्य भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों में थोड़ा अंतर अवश्य है, किन्तु दोनों ने ही अहम्मन्यता और ममत्व के नष्ट होने या पाठक और कवि की भावधाराओं का एक ही रसमयी भूमिका में आ जाना साधारणीकरण माना है। भावनाओं की यही समभूमि रस का प्राणभूत तत्त्व है। साधारणीकरण रति-भावना से उतना तीव्र रूप नहीं धारण करता क्योंकि उसमें अहं भावना का पूर्ण लोप नहीं हो पाता। करुण रस के संचार से पाठकगण एक दूसरे में पूर्णतः लीन हो जाते हैं और व्यक्ति-भेद की सीमा नहीं रह जाती। पाश्चात्य विद्वान् 'बूचर' ने भी कारुणिक दृश्यों में ही पूर्ण भाव-तादात्म्य (Empathy) संभव माना है—वे लिखते हैं—"The spectator is lifted out of himself. He becomes one with the tragic sufferer and through him with humanity at large."

करुण रस में पाठक की चित्तवृत्तियों के तन्मय हो जाने के अनेक मनोवैज्ञानिक कारण हैं। प्रत्येक मनुष्य की अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ और रुचि होती हैं। कोमल और भावुक हृदय शृङ्गारप्रधान काव्य की ओर आकृष्ट होते हैं। वीरोचित उत्साह और स्फूर्ति से युक्त व्यक्ति वीर रस प्रधान काव्य में आनंदानुभव करते हैं। किन्तु करुण रस ऐसा विश्वव्यापी रस है जिसमें किसी भी सहृदय को आकृष्ट कर लेने की अपूर्व क्षमता है। मुनि और महात्माओं के विरक्त हृदय भी करुणा के प्रभाव से वंचित नहीं रहते। इसके प्रमाण में महर्षि वाल्मीकि की क्रीच पक्षी वाली घटना उद्धृत की जा सकती है। वे क्रीच पक्षी के संयोग शृंगार से प्रभावित नहीं हुए बल्कि उसके वियोग-जनित शोक को देखकर द्रवीभूत हो उठे और उनकी सरस वाक्धारा सहसा ही प्रसारित हो गई—

“क्रीञ्च द्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकस्वभागतः”

—ध्वन्यालोक

वाल्मीकि आदि कवि हैं और यह क्रीच व्यथा ही उनके आदि-काव्य रामायण की जननी है। अतः करुण रस ही काव्य का विधायक रस है। करुणा की अतिरेकता से स्वतः उमड़ी हुई भाव धारा जिस स्वाभाविक और रमणीय काव्य की सृष्टि कर सकती है वह सुखातिरेक में संभव नहीं हो सकती। करुणा में सहृदय मानव का हृदय अत्यधिक संवेदनशील हो उठता है। मानव-जीवन की करुण विभीषिका ने ही राजपुत्र सिद्धार्थ को अपने अतुल वंभव और ऐश्वर्य से विरक्त कर प्रबुद्ध होने की प्रेरणा प्रदान की थी। सुख के क्षणों में यह संवेदनशीलता साधारण मानव में ईर्ष्या का रूप धारण कर लेती है। दुःख और सुख का यह मनोवैज्ञानिक सत्य काव्य जगत् में भी इसी रूप में वर्तमान रहता है। काव्य जीवन की प्रतिच्छाया है। जीवन में द्वेषात्मक क्षणों का आधिक्य मानव को अत्यधिक संवेदनशील बना देता है। और काव्य के करुण पक्ष

का वे अधिक सरलता से अनुभव करने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि करुण रस में अन्य रसों की अपेक्षा अधिक तन्मय कर देने की शक्ति है।

करुण रस की शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक व्यापकता पर विचार करने के पश्चात् उसके आध्यात्मिक स्वरूप पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। करुण की व्यापकता उसके आध्यात्मिक स्वरूप पर भी निर्भर है। काव्यगत रस अलौकिक वस्तु है। अलौकिक आनन्द का विधान करने के कारण ही रस तत्त्व ब्रह्म के समकक्ष माना गया है। जीवन की प्रत्यक्ष करुणा भी काव्य जगत् में प्रवेश करके आनन्द प्रदान करती है। साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—

“करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।”

अर्थात् करुणा से भी अलौकिक आनन्दजन्य रस की उत्पत्ति होती है। सहृदयों का अनुभव ही इसका प्रमाण है।

करुणा से उद्भूत इस आनन्द का प्रभाव भी अन्य रसों से अधिक व्यापक है। दुःख का अतिरेक दुर्गुणों का दमन कर सद्गुणों और आदर्श की ओर प्रवृत्त करता है। साहित्य का लक्ष्य भी आदर्शात्मक होता है। यही कारण है कि भवभूति आदि आचार्यों ने करुण रस को प्रधान रस कहा है। सत् साहित्य में इसीलिए नायक और सत् पात्रों का जीवन संघर्षमय चित्रित किया जाता है। पाश्चात्य साहित्य में तो दुःखान्त नाटक श्रेष्ठ समझा जाता है। विषादान्त नाटक का प्रभाव सुखान्त नाटक की अपेक्षा अधिक समय तक बना रहता है। इससे मानवीय वृत्तियों का परिष्करण होता है और मानव महान् पथ की ओर अग्रसर होता है। हिन्दी के महान् कलाकारों ने भी जीवन में करुणा की महत्ता का बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। ‘चिन्ता’ का विश्लेषण करते हुए महान् कवि ‘प्रसाद’ उसे ‘मधुमय अभिशाप’ कहकर सम्बोधित करते हैं। महाकवि पंत की ‘वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान’ वाली पंक्तियाँ करुण काव्य को सरस और वास्तविक काव्य होने की ओर संकेत करती हैं।

अद्भुत रस

शास्त्रीय रूप—वस्तु वैचित्र्य को देखकर आश्चर्य के संचार से अद्भुत रस का उदय होता है।

इस रस के देवता गंधर्व हैं और वर्ण पीत है। (विस्मयः स्थायी यस्य सोऽयं पीतवर्णो गन्धर्वदेवतोऽद्भुतरसो भवति)।

आलम्बन—अलौकिक, विचित्र दृश्य या वस्तु आदि।

उद्दीपन—इन्द्रजाल आलम्बन के विस्मयकारी वर्णन या दृश्य आदि।

अनुभाव—नेत्र-विस्फारण, स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद होना, सम्भ्रम, उत्फुल्लता आदि।

संचारी भाव—भ्रान्ति, तर्क, आवेग, जड़ता, दैन्य, शंका, हर्ष, चपलता, औत्सुक्य आदि ।

स्थायी भाव—विस्मय 'विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उवाहृतः ।'

—साहित्यदर्पण ३।१८०

शृङ्गार, करुण, शान्त आदि अन्य रसों के समान अद्भुत रस को भी कुछ आचार्यों ने रसरज कहा है । साहित्यदर्पण में कविराज विश्वनाथ ने आचार्य धर्मदत्त के मत को उद्धृत किया है । धर्मदत्त ने चमत्कार को सब रसों का आधार मानकर अद्भुत को ही प्रधान रस कहा है—

“रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।

तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥”

अर्थात् चमत्कार रस का सार है, सर्वत्र चमत्कार ही दिखाई पड़ता है । अद्भुत चमत्कार का सार है । अतः सर्वत्र अद्भुत रस ही है ।

नारायण पण्डित ने भी चमत्कार को रस का सार कहा है । चमत्कार में विलक्षणता होने से आकर्षण और जिज्ञासा उत्पन्न होती है । इसी से अन्य रसों का संचार होता है ।

हास्य रस

शास्त्रीय रूप—रूप, आकार, वाणी, वेश और कार्य आदि के विकृत हो जाने से हास्य की उत्पत्ति होती है ।

“वागादिबिकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ।”

—साहित्यदर्पण

हास्य की सीमा वहीं तक रहती है जहाँ तक इस विकृति से कोई अनिष्ट न हो, अनिष्ट होने पर करुण रस हो जायेगा । हास्य दो प्रकार से उत्पन्न होता है— एक तो हास्य के विषय को स्वयं देखकर, यह आत्मस्थ कहलाता है; दूसरा वह जो दूसरे को हँसता देखकर उत्पन्न होता है, यह परस्थ कहलाता है । ‘रस गंगाधर’ में आत्मस्थ और परस्थ हास्य का उल्लेख है—

“आत्मस्थो द्रष्टुं उत्पन्नो विभावे क्षणमात्रतः ।

हसतमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते ।

योऽसौ हास्यरसस्तज्जः परस्थः परिकीर्तितः ॥”

हास्य रस के देवता प्रमथ (शिव के गण) और रंग इवेत माना गया है (हास्य-रसस्य इवेतो वर्णः प्रमथो वेवश्च) । भरत मुनि ने हास्य की उत्पत्ति शृङ्गार से मानी है, ‘शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः ।’

आलम्बन—विकृत रूपाकार, व्यंग्य, मूर्खता के कार्य, निर्लज्जता आदि ।

उद्दीपन—हास्यजनक वस्तु या व्यक्ति की चेष्टाएँ ।

अनुभाव—व्यंग्य वाक्य कहना, ओठ, नासिका और कपोल का स्फुरित होना, नेत्र बन्द होना, मुख पर प्रसन्नताजनक दीप्ति आदि ।

संचारी—अवहित्था, अश्रु, रोमांच, कम्प, हर्ष, स्वेद, चंचलता, आलस्य, निद्रा आदि ।

स्थायी भाव—हास

हास्य के भेद—हास्य छः प्रकार का होता है—

स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित अतिहसित । साहित्यदर्पण में इनका निर्देश इस प्रकार किया गया है—

“ज्येष्ठानाम् स्मितहसिते, मध्यानां विहसितावहसिते च ।

नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः ॥”

रौद्र रस

शास्त्रीय रूप—शत्रु की अपमानजनित चेष्टाओं से तथा गुरु-निन्दा, देश-धर्म का अपकार और अपमान होने पर रौद्र रस का उदय होता है । इस रस का देवता रुद्र और वर्ण रक्त के समान है (रक्तवर्णो रुद्राधिदेवतयो रौद्रो रसो भवति) ।

आलम्बन—शत्रु या अनुचित बात कहने वाला व्यक्ति ।

उद्दीपन—विरोधी दल द्वारा किए गए अनुचित कार्य या कठोर वचन आदि ।

अनुभाव—मुख और नेत्र का लाल होना, दाँत पीसना, ओठ चबाना, झूँभंग, शस्त्र ग्रहण करना, आत्म-प्रशंसा, वेग गर्जन, कठोरता से देखना, कम्प, रोमाञ्च तथा प्रस्वेद आदि ।

संचारी—रुक्षता, उग्रता, अमर्ष, मद, स्मृति, उद्वेग, असूया आदि ।

स्थायी भाव—क्रोध—“प्रतिकूलेषु संक्षण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ।”

—साहित्यदर्पण ३।१७७

रौद्र और वीर रसों में आलम्बन विभाव एक-से ही होते हैं किन्तु दोनों ही के स्थायी भावों में अन्तर है । रौद्र का स्थायी भाव क्रोध और वीर का उत्साह है ।

वीर रस

शास्त्रीय रूप—युद्ध, दया और दान आदि कार्यों के अत्यधिक उत्साह के साथ किए जाने पर वीर रस की उत्पत्ति होती है । इसके देवता इन्द्र और वर्ण स्वर्ण के समान माना गया है—

“.....महेन्द्र देवतो हेमवर्णो वीररसो भवति ।” —चन्द्रालोक

आलम्बन विभाव—नायक, शत्रु, याचक, दीन, तीर्थ-स्थान आदि ।

उद्दीपन विभाव—शत्रु का प्रभाव, शक्ति, अहंकार, याचक या दीन की दशा तथा उनके द्वारा की गई प्रशंसा आदि ।

अनुभाव—स्थैर्य, रोमांच, सत्कार आदि ।

संचारी भाव—गर्व, धृति, तर्क, स्मृति, हर्ष, दया, असूया, आवेग आदि ।

स्थायी भाव—उत्साह । साहित्यदर्पण में उत्साह का लक्षण इस प्रकार दिया

है—

“कार्यारम्भेषु संरम्भः स्पेयानुत्साह उच्यते ।” (३।१७८)

अर्थात् कार्य के आरम्भ से अन्त तक विद्यमान अत्यधिक संलग्नता को उत्साह कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से उत्साह का प्रदर्शन केवल युद्ध में ही नहीं बल्कि दान, दया, धर्म आदि कार्यों में भी होता है। इन सभी कार्यों में वीर रस का संचार भी होता है। इस दृष्टि से वीर रस के निम्नलिखित भेद किए गए हैं—

१. युद्धवीर ।
२. दानवीर ।
३. धर्मवीर ।
४. दयावीर ।

भयानक रस

शास्त्रीय रूप—भयदायक अनिष्टकारी दृश्य को देखने, सुनने या स्मरण करने से भयानक रस संचरित होता है। इस रस के देवता भूतपिशाच और रंग कृष्ण माना गया है—“भूताधिर्वन्तः स्त्रीनीलप्रकृतिः कृष्णवर्णो भयानकरसो भवति ।”

आलम्बन—स्त्री, नीच मनुष्य, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु, बाल, श्मशान आदि निर्जन स्थान, अत्याचारी शत्रु, भूत-प्रेत आदि ।

उद्दीपन—आलम्बन की भयानक चेष्टाएँ और व्यवहार, भयानक निर्जनता आदि ।

अनुभाव—कम्प, वैवर्ण्य, कारुणिक रुदन, रोमांच आदि ।

संचारी भाव—त्रास, जुगुप्सा, शंका, चिन्ता, मूर्च्छा, आवेग, दैन्य, मोह आदि ।

स्थायी भाव—भय । साहित्यदर्पण में भय का लक्षण इस प्रकार दिया है—

“रौद्रं शक्त्या तु जितं चित्तवैकल्यव्यजं भयम् ।” (३।१७८)

वीभत्स रस

शास्त्रीय रूप—रुधिर, मांस, नैतिक पतन आदि घृणित वस्तुओं को देखकर या सुनकर उत्पन्न हुई घृणा या जुगुप्सा से वीभत्स रस प्रवाहित होता है। इसका नीलवर्ण है और महाकाल देवता है (‘‘स नीलवर्णो महाकालदेवतो वीभत्सो रसः कथ्यते) । वीभत्स दृश्यों को देखने से संसार की असारता और असत्यता का आभास मिलता है। दर्शकगणों के हृदय में उस समय संसार से विरक्ति हो जाती है। विरक्ति की ओर अग्रसर करने के कारण वीभत्स रस शान्त रस का सहायक रस माना गया है।

आलम्बन—घृणोत्पादक प्राणी या पदार्थ, रक्त, मांस, श्मशान आदि ।

उद्दीपन—कीड़े-मकोड़े, दुर्गन्ध, कुत्सित रूप, मांस-भक्षण और उसके लिए युद्ध, आहत जीवों का चीत्कार आदि ।

अनुभाव—आँखें बन्द करना, नाक सिकोड़ना, थूकना आदि ।

संचारी—निर्वेद, ग्लानि, आवेग, जड़ता, व्याधि, अपस्मार, वैवर्ण्य, चिन्ता, मोह आदि ।

स्थायी भाव—घृणा या जुगुप्सा । साहित्यदर्पण में जुगुप्सा का लक्षण देते हुए

लिखा है—

“दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विस्मयोऽद्भुता ।” (३।१७६)

बीभत्स रस का वर्णन अधिकतर अन्य रसों के सहायक के रूप में ही किया जाता है ।

भक्ति रस

भक्ति रस स्वतन्त्र रस है या नहीं इस विषय में विद्वानों में मतभेद है । आचार्य मम्मट के समय तक के प्रमुख साहित्याचार्यों ने भक्ति रस की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया है । पंडितराज जगन्नाथ ने एक स्थल पर भक्ति की स्वतन्त्र महत्ता की ओर संकेत मात्र करके परम्परानुगत नव रसों का ही उल्लेख किया है । चैतन्य महाप्रभु के वंणव सम्प्रदाय के भक्तों और आचार्यों ने सर्वप्रथम इस विषय में विरोध प्रगट किया । वंणवाचार्य रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती आदि ने भक्ति को भी स्वतन्त्र रस कहा है । रूपगोस्वामी ने ‘भक्तिरसामृत सिन्धु’ में भक्ति रस को उज्ज्वल रस कहा है—

“शान्तप्रीतिप्रेयो वत्सलोज्ज्वलनामसु ।”

अपने दूसरे ग्रन्थ ‘उज्ज्वल नीलमणि’ में भी इन्होंने भक्ति रस का स्वरूप निरूपित किया है । वे लिखते हैं—

“वक्ष्यमाणं विभावार्थः स्वाद्यतां मधुरा रतिः ।

नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः ।”

भक्ति रस को स्वतन्त्र रस मानने के लिए निम्नलिखित आधारों का उल्लेख किया जा सकता है—

भरत मुनि ने भक्ति को शान्त रस का ही विषय कहकर ज्ञान और भक्ति दोनों का सम्मिश्रण कर दिया है । किन्तु ज्ञान विरागप्रधान और भक्ति रागप्रधान होती है अतः दोनों का समुचित सम्मिश्रण करना कठिन है इसलिए इसे स्वतन्त्र रस ही मानना चाहिए ।

‘साहित्यदर्पण’ में रति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

“रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।”

अर्थात् मन के अनुकूल वस्तु से मन का प्रेमाद्र होता रति है ।

भक्ति का स्थायी भाव भी देवादि विषयक रति है । भक्त के हृदय में स्थित इस रति में भी उतनी ही तन्मयता और कोमलता रहती है जितनी कि रसोत्कर्ष के लिए अपेक्षित होती है । रति की उपर्युक्त परिभाषा में रति को व्यापक दृष्टिकोण द्वारा स्पष्ट किया गया है ; कुछ आचार्यों ने इसी के आधार पर देव-रति और पुत्र-रति को भी शृङ्गार के अन्तर्गत माना है । किन्तु वास्तव में ये दोनों शृङ्गार के अन्तर्गत नहीं आने चाहिएँ । दोनों के स्थायी भाव रति होते हुए भी उनके स्वरूप और भाव में अन्तर है । शृङ्गार शब्द का व्युत्पत्तिशूलक अर्थ करने पर यह भेद स्पष्ट हो जाएगा । आचार्य मम्मट ने शृङ्गार की परिभाषा देते हुए कहा है—

“शृङ्गं हि मन्मथोद्रेकस्तदागमनहेतुकः ।” अर्थात् शृङ्ग (कामदेव) के आगमन का हेतु ही शृङ्गार कहलाता है ।

यहाँ मम्मट ने शृङ्गार के अन्तर्गत केवल दाम्पत्य-रति को ही स्थान दिया है । देवता, गुरु, पुत्र आदि की रति को वे भाव की संज्ञा देते हैं । अलंकारवादी आचार्य भामह और दण्डी आदि ने रस को प्रेय अलंकार का विषय कहा है । इन आचार्यों के विरोध में यह कहा जा सकता है कि यह किसी भी रस की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर अलंकार में ही रसों की स्थिति मानते थे ।

भक्ति में आलम्बन विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि रस के सभी अंग-प्रत्यंगों का समुचित योग होता है—इसका स्थायी भाव देव-रति, अनुभाव अनन्यासक्तिजनित अश्रु, रोमाञ्च आदि और व्यभिचारी हर्ष, औत्सुक्य, आवेग, चपलता, दैन्य, स्मरण आदि हैं । भक्ति के आलम्बन पूर्णवितार कृष्ण या राम आदि हैं । भक्त के हृदय में अपने आराध्य के प्रति उठती हुई भावनाओं का चरम उत्कर्ष होता है और वे रस दशा को पहुँच जाती हैं । जीवन के द्वेषात्मक भाव, क्रोध, शोक, भय, वीभत्स आदि की रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स रसों में प्रतिष्ठा की गई है । भगवद्विषयक रति इन भावों से अधिक श्रेष्ठ और आनन्ददायक है । अतः इसे भी स्वतन्त्र रस रूप में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए ।

वैष्णवाचार्य भक्ति रस को केवल स्वतन्त्र रस ही नहीं मानते बल्कि इसे सर्व-रसों में श्रेष्ठ प्रधान रस भी कहते हैं । इतना ही नहीं वे भक्ति रस के अन्तर्गत ही अन्य रसों को निरूपित भी करते हैं । शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार को भक्ति रस के प्रमुख भेद माने हैं, और हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स गौण भेद किए हैं ।

रूपगोस्वामी ने भक्ति रस को रसरज शृङ्गार से श्रेष्ठ बताया है । ‘महा-महोपाध्याय पी० वी० काने ने ‘हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स’ पृष्ठ ३०० पर लिखा है—

“रूपगोस्वामी Says that what is called illicit and secret love and is ordinarily condemned is the highest pinnacle of sringara and that the condemnation applies only to ordinary mortals and not to a completely perfect Avatara (krsna) who took to an incarnation to give a taste of mystic love to his devotees.”

शृङ्गार रस के आलम्बन इस लोक के ही होते हैं किन्तु भक्ति रस के आलम्बन

१. “अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः । तथा च मुनिः । बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च । या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः । लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत् प्राकृतनायके । न कृष्णे रसनिर्यात्वादायंभवतारिणि ।”

—उज्ज्वल नीलमणि

श्रवतारी कृष्ण या राम आदि देव श्रेणी के होते हैं। इस दृष्टि से भी भक्ति रस शृङ्गार रस से श्रेष्ठ है।

अद्वैतवादी आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रस को समाधिजन्य आनन्द के समान कहा है—

“समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतंत्रपुरुषार्थत्वात्...”

भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम् ॥”

—भक्तिरसायन, प्रथम उल्लास, पृ० ६

श्रीमद्भागवत में तो भक्ति रसानन्द ब्रह्मानन्द से भी अधिक मुग्धकारी कहा गया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है कि भक्ति रसजनित सुख के समान अन्य कोई सुख नहीं है—

“या व्यापारवती रसान्नरसयितुं काचित्कवीनां नवा,

दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वंपश्चिती।

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयम्,

आन्ता नैव च लब्धमब्धिशयन् त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥”

—ध्वन्यालोक, पृ० २२७

वात्सल्य रस

प्राचीन आचार्यों ने वात्सल्य रस का वर्णन नहीं किया है। वात्सल्य रस की मान्यता बालकृष्ण के उपासकों में उदित हुई। बाद में सूरदास, तुलसीदास जैसे प्रतिभाशाली कवियों के हाथों इसका सुन्दर परिपाक हुआ। इसका स्थायी वात्सल्य-पूर्ण स्नेह माना जाता है। पुत्र-पुत्री आदि इसके आलम्बन होते हैं। बालक की चेष्टाएँ, उनकी बाल-क्रीड़ाएँ उद्दीपन के अन्तर्गत आवेंगी। हर्ष, गर्व, आवेश आदि इसके संचारी होते हैं। माता और पिता तथा अन्य गुरुजन इसके आश्रय हुआ करते हैं। वात्सल्य का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

“कबहूँ ससि मांगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।

कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सब मन मोद भरैं॥

कबहूँ रिसिआई कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।

अवधेश के बालक चारि सदा, तुलसी मन मंदिर में बिहरैं॥”

शान्त रस

साहित्यशास्त्र में शान्त रस की मान्यता सातवीं शताब्दी में हुई। इससे पूर्व के ग्रन्थों में केवल आठ ही रसों का उल्लेख है और शान्त को संचारी भाव कहा गया है। भरत मुनि ने यद्यपि सब रसों का अवसान शान्त में होना कहा है पर शान्त रस को नाटक में स्थान नहीं दिया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इस विषय में कहा है—

“शान्तस्य शमसाध्यत्वान्ते च तदसंभवात्

अष्टादेव रसा नादये शान्तस्तत्र न युज्यते।”

—रसगंगाधर; पृ० २६

अर्थात् नट अपनी चंचलता के कारण शान्त के स्थायी भाव शम की मुद्रा धारण नहीं कर सकता इसलिए नाटक में आठ ही रस होते हैं। शान्त रस की योजना नहीं हो सकती।

किन्तु 'संगीत रत्नाकर' में 'कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः' कहकर नट का रस से निर्लिप्त रहना बताया गया है। वह जिस प्रकार रोद, कृष्ण आदि का अभिनय कर सकता है, उसी प्रकार शान्त का भी कर सकता है।

दशरूपक और भाव प्रकाश में कहा गया है कि शान्त रस काव्य का विषय हो सकता है नाटक का नहीं क्योंकि नट के साथ-साथ सभी सामाजिक भी शान्त रस का आस्वाद नहीं कर सकते—'सामाजिकानां मनसि रसः शान्तो न जायते' (भाव-प्रकाश, पृ० ४७)। इसके विपरीत कुछ आचार्यों का मत है कि नाटक में भी शान्त रस वर्तमान रहता है। ध्वन्यालोककार ने 'नागानन्द' नामक नाटक में शृङ्गार और शान्त दोनों रसों की स्थिति मानी है। उन्होंने नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत किया है—'अलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः' अर्थात् लोक के भावों का अनुकीर्तन नाटक में रहता है, उसमें कभी धर्म, कभी क्रीडा, कभी अर्थ और कभी काम का निदर्शन होता है।

इस प्रकार शम की स्थिति भी नाटक में रहती है। यह बात दूसरी है कि सब लोग उसके रस का आस्वाद न करते हों।

'भावप्रकाश' में शान्त रस के आदि-प्रवर्तक आचार्य वासुकि माने गए हैं। अभिनवगुप्त ने शान्त रस को सर्वश्रेष्ठ रस कहा है क्योंकि इसका लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होता है और मोक्ष जीवन-साधना का अन्तिम और चरम लक्ष्य कहा गया है। काव्य का उद्देश्य भी इसी प्रकार रसास्वादन माना गया है, जो ब्रह्मानन्द के समकक्ष है। अतः काव्य में शान्त रस का समावेश भी अपेक्षित माना है—वे अपनी अभिनवभारती में लिखते हैं—

“सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः”

—भा० १; पृ० ३४०

शान्त रस का स्थायी भाव शम है—

“शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्”

—साहित्यदर्पण ३।१८०

साहित्यदर्पण में शान्त रस का लक्षण इस प्रकार दिया है। भावों के समत्व को अर्थात् जहाँ दुःख, सुख, चिन्ता, राग, द्वेष कुछ भी नहीं है उसे मुनियों ने शान्त कहा है—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागी न च काचिविच्छा

रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु सम प्रमाणः”

अभिनवगुप्त और धनञ्जय ने भी शम को शान्त का स्थायी भाव कहा है।

४. यह गोदावरी तट इस प्रकार का नहीं है, क्योंकि यहाँ भय का कारण रूप सिंह रहता है (उपनय वाक्य)

५. इसलिए यह गोदावरी तट भीरुओं के भ्रमण के अयोग्य है। (निगमन)

इस प्रकार अनुमान के पंचावयव के सहारे महिम भट्ट ने भ्रमण के निषेधपरक अर्थ की उपलब्धि बताई है।

महिम भट्ट के उपर्युक्त मत का खण्डन आचार्य मम्मट ने बड़े सशक्त तर्कों के आधार पर किया है। उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है और उन्होंने लिखा है कि महिम भट्ट के द्वारा दिया गया हेतु, हेतु न होकर हेत्वाभास है। उनके अनुसार महिम भट्ट के इस हेतु में अनेकान्तिक विरुद्ध और स्वरूपासिद्ध हेत्वाभासों के लक्षण घटित होते हैं। प्रत्येक शुद्ध हेतु में तीन बातें अवश्य पाई जाती हैं—

१. पक्ष सत्त्व, २. सपक्षसत्त्व, ३. विपक्ष-व्यावृत्तत्व।

इनमें से यदि किसी एक धर्म में भी अन्तर पड़ जाता है तो हेतु हेत्वाभास कहलाने लगता है। जिस हेतु में “विपक्ष व्यावृत्तत्व धर्म” में बाधा दिखाई पड़ती है, वहाँ अनेकान्तिक हेत्वाभास होता है। इसी प्रकार जो पक्ष सत्त्व नहीं होता उसमें स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होता है।

आचार्य महिम भट्ट की अनुमान प्रक्रिया में “गोदावरी का तट भीरुओं के भ्रमण अयोग्य है।” प्रतिज्ञा का हेतु, भय का कारण रूप सिंह की स्थिति है। किन्तु यह हेतु अनेकान्तिक है क्योंकि जहाँ-जहाँ भीरु भ्रमण करता है, वहाँ-वहाँ भय के कारण का अभाव होता है। इस प्रकार व्याप्ति भी नहीं बनती क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि वनों, पर्वतों के भयानक परिणामों को जानते हुए भी भीरु प्रेमी लोग अपनी प्रिया को ढूँढ़ते फिरते हैं। इस अनुमान प्रक्रिया में एक दोष और है। वह यह है कि पण्डित जी ने स्वयं कभी प्रत्यक्ष में सिंह को देखा नहीं है। अतः पक्ष सत्त्व वाली बात भी घटित नहीं होती। अतः स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास है। एक तीसरी बात यह भी है, वह यह कि कुत्ते से डरने पर भी वीर सिंह से नहीं भी डर सकते हैं। अतः यहाँ विरुद्ध हेत्वाभास भी है। इस प्रकार त्रिदोषग्रस्त हेतु से साध्य की सिद्धि अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। अतः यहाँ पर व्यञ्जना का मानना सर्वथा अपरिहार्य है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने ध्वनि विरोधी सभी तर्कों का खण्डन कर ध्वनि और उसकी विधायिका व्यञ्जना वृत्ति की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठा की है।

ध्वनि के भेद—ध्वनि के काव्याचार्यों ने अनेक भेदोपभेद गिनाए हैं। प्रमुख भेद दो होते हैं—एक अविवक्षित वाच्य ध्वनि, दूसरी विवक्षित वाच्य ध्वनि। प्रथम को लक्षणामूला ध्वनि और द्वितीय को अभिधामूला भी कहते हैं।

१. लक्षणामूला ध्वनि या अविवक्षित वाच्य ध्वनि—जिस ध्वनि में वाच्य विवक्षित नहीं होता उसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते हैं। इसके भी प्रमुख भेद दो हैं—अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और दूसरा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य।

(क) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि—जहाँ पर प्रयुक्त पद अपने वाच्यार्थ के अनुपयुक्त होने से किसी दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाते हैं, वहाँ अर्थान्तर वाच्य ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि उपादान लक्षणा में रहती है। उदाहरण रूप में हम बिहारी का यह दोहा ले सकते हैं—

कोन भीति रहिहै विरद अब देखबो मुरारि ।

बीधे मोसे आइके गीधे गीधहि तारि ॥

यहाँ पर “गीधे गीधहि तारि” का वाच्यार्थ हुआ कि हे भगवान् ! आप गीध को तार कर गिध गए हैं। किन्तु सहस्रों बड़े-बड़े पापियों को तारने की विरुद्ध वाले भगवान् की गीध के तारने में क्या महत्ता हो सकती है। यह अर्थ ग्राह्य नहीं है। अतः इसका लक्ष्यार्थ लगाया गया कि “निम्न कोटि के पापियों को तार कर आपको गर्व हो गया है।” इस अर्थ का यहाँ उपादान करना पड़ा है। इसका व्यंग्यार्थ है—“हे मुरारि! अर्थात् मुर नामक राक्षस का वध करने वाले महान् वीर आपकी विरुद्ध गीध जैसे छोटे से पक्षी के तारने से नहीं है, मेरे जैसे महान् पापी का उद्धार करने में ही आपकी वीरता की विरुद्ध स्थिर रह सकेगी।” यहाँ पर ‘गीध’ शब्द में अर्थान्तर संक्रमित किया गया है। इसीलिए इसमें अर्थान्तर संक्रमित व्यंग्य ध्वनि मानी गई है।

(ख) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि—इसमें वाच्यार्थ असंगत होने से सर्वथः तिरस्कृत हो जाता है। केवल व्यंग्य ही प्रधान रहता है। यह प्रायः वहीं रहती है, जहाँ लक्षणा लक्षणा रहती है। यह शब्दगत और वाक्यगत भेद से दो प्रकार की होती है—

(i) शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि—जहाँ पर किसी शब्द विशेष के अभिधेयार्थ का लोप होता है, वहाँ शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि मानी जाती है। इसके उदाहरण में हम कामायनी की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत करेंगे—

अश्वकार में मलिन मित्र की,

धुंधली आभा लीन हुई।

वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा,

स्तर स्तर जमती पीन हुई ॥

जम कोई द्रव पदार्थ ही सकता है, कालिमा नहीं। इससे कवि प्रसाद ने कालिमा की कठोरता व्यञ्जित की है—

(ii) वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि—इसमें सम्पूर्ण वाक्य का अभिधेयार्थ तिरस्कृत हो जाता है तथा उसके स्थान पर किसी अन्य व्यंग्यार्थ का अनुसंधान कर लिया जाता है। जैसे बिहारी का यह दोहा लिया जा सकता है—

तंत्री नख कबित रस, सरस राग, रति रंज ।

अनबूढ़े बूढ़े तारे जे बूढ़े सब अंग ॥

हूबना तरना आदि तो सरोवर आदि में ही सम्भव है। तंत्री नाद आदि में

नहीं। अतः डूबने, तरने, आदि पूरे वाक्यार्थ का वाच्यार्थ तिरस्कृत होकर रस से सराबोर होने के कारण व्यंग्यार्थ का बोधक बन जाता है।

२. विवक्षित वाच्य-ध्वनि या अभिधामूला ध्वनि—इस कोटि के ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ विवक्षित तो रहता है किन्तु वह होता व्यंग्यनिष्ठ ही है, स्वनिष्ठ नहीं होता।

लक्षणामूला और अभिधामूला ध्वनि में अन्तर—लक्षणामूला ध्वनि में लक्षणा की स्थिति सर्वथा अनिवार्य होती है। जहाँ पर यह ध्वनि होती है, वहाँ लक्षणा अवश्य होती है और जहाँ लक्षणा नहीं होती, वहाँ यह ध्वनि भी नहीं होती। अभिधामूला ध्वनि में इस प्रकार का नियम नहीं है। किन्तु फिर भी वह सर्वथा निरपेक्ष नहीं हो सकती। कुछ आधार हुआ करते हैं। आचार्य मम्मट ने उनमें से कुछ आधारों का उल्लेख किया है। वे हैं—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्य वाच्यान्यसन्निधेः।

प्रस्तावदेशकालादिबैशिष्ट्यात्प्रतिभाषाम्॥

अर्थात् वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य से, प्रतिभाशाली सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाले अर्थ का जो व्यापार होता है, उसे व्यञ्जना कहते हैं। यों तो उपर्युक्त तत्त्व सभी ध्वनियों में कारणभूत हो सकते हैं किन्तु अर्थ शक्ति मूला व्यञ्जना में इनका सहयोग नितान्त आवश्यक होता है। इनके उदाहरण देकर हम अनावश्यक विस्तार नहीं करना चाहते। यहाँ पर इतना ही कहना अभीष्ट है कि अभिधामूला ध्वनि के कुछ उपर्युक्त आधार अवश्य हुआ करते हैं, वह निराधार नहीं होती।

अभिधामूला ध्वनि के भेद—आचार्यों ने इसके तीन भेद माने हैं—

१. रस ध्वनि।
२. अलंकार ध्वनि।
३. वस्तु ध्वनि।

इनमें रस ध्वनि तथा अन्तिम दोनों ध्वनियों में अन्तर होता है। रस ध्वनि की प्रतीति वाच्यार्थ के व्यवधान-ज्ञान के बिना हो जाती है, किन्तु अन्तिम में यह बात नहीं होती। इस भेद के कारण ही कुछ आचार्यों ने अभिधामूला ध्वनि के दो स्थूल भेद बताए हैं—

१. असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि या अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।
२. संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि या लक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।

१. असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि—जब व्याचार्य और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम प्रतीत नहीं होता तब उसे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहते हैं। इसके आठ भेद माने जाते हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के आठ भेद

- (१) रस
- (२) रसाभास
- (३) भाव
- (४) भावाभास
- (५) भावशान्ति
- (६) भावोदय
- (७) भावसन्धि
- (८) भावशबलता

(१) रस की विवेचना रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत हो चुकी है ।

(२) रसाभास—जब रस-निष्पत्ति में या तत् विधायक विभावादि में किसी भी प्रकार का अनौचित्य दोष आ जाता है, तब उसे रसाभास कहते हैं । उदाहरण के रूप में हम केशव का यह दोहा ले सकते हैं—

“केशव केसनि अस करी जस अरिहू न कराहि ।

चन्द्र वदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहि ॥”

यहाँ पर बयोवृद्ध महाकवि केशव की चन्द्रवदनी बालाओं के प्रति अनुराग-वृत्ति की व्यञ्जना अनौचित्यपूर्ण होने के कारण रसाभास उत्पन्न कर रही है ।

(३) भाव—“प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि, संचारी, देवता आदि विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्बुद्ध-मात्र रति आदि स्थायी भावों को भाव कहते हैं ।”—साहित्यदर्पण ।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार भाव के केवल तीन भेद हुए—

(क) प्रधान रूप से प्रकट होने वाले संचारी आदि ।

(ख) देवादि विषयक रति ।

(ग) केवल उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव ।

(क) प्रधान रूप से प्रगट होने वाले संचारी के उदाहरण के रूप में हम सूर का निम्नलिखित पद ले सकते हैं । यहाँ पर शंका नाम के संचारी की प्रधानता व्यंजित की गई है—

“मधुकर ! देखि इयाम तन तेरो

हरिमुख की सुन मीठी बातें डरपत है मन मेरो ।”

(ख) देवादिविषयक रति के उदाहरण में हम सूर का निम्नलिखित पद ले सकते हैं ।

“चरण कमल बन्दों हरि राई ।”

(ग) उद्बुद्ध मात्र स्थायी के रूप में तुलसी की ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

“जो राउर अनुशासन पाऊं, कंबुक इव ब्रह्मांड उठाऊं
कचि घट ज्यों डारौं फोरी, सकौं मरु मूलक इव तोरी ॥”

(४) भावाभास—भाव-व्यञ्जना के किसी पक्ष में जब अनौचित्य दोष आ जाता है तब वहाँ भावाभास असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक ध्वनि मानी जाती है—

“दरपन में निज छाँह संग लखि प्रीतम की छाँह ।
खरी ललाई रोस की ल्याई अँखियन माँहि ॥”

—काव्यदर्पण

(५) भावशान्ति—जब एक प्रवेग से उदय होते हुए भाव की कारण विशेष शान्ति दिखायी जाय तब भावशान्ति नामक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है । उदाहरण रूप में प्रियप्रवास का यह छंद द्रष्टव्य है—

“अतीव उत्कण्ठित ग्वाल बाल हो
सवेग आते रथ के समीप थे
परन्तु होते अति ही मलीन थे
न देखते थे जब वे मुकन्द को ॥”

(६) भावोदय—जहाँ एक भाव के शान्त होते ही किसी दूसरे भाव का चमत्कारपूर्ण उदय दिखाया जाय, वहाँ भावोदय का होना माना जाता है । भावशान्ति के प्रसंग में उद्धृत छंद की अन्तिम पंक्ति में भावोदय की स्थिति भी दिखाई पड़ती है ।

(७) भाव सन्धि—जहाँ पर समान चमत्कार विधायक दो भावों का एक साथ उदय दिखाया जाय, वहाँ भाव सन्धि का होना बताया गया है । सूर के इस पद में प्रेम भाव के अन्तर्गत भुँभलाहट का भाव देखिये—और सन्धि भी देखिये—

“तब तू मारबोई करत ।

रिसनि आगे कहै जो आवत अब लै भाउँ भरति ॥”

(८) भावशबलता—जहाँ एक ही क्रम से दो से अधिक चमत्कारकारक समान भावों का उदय हो वहाँ भावशबलता होती है । इसके उदाहरण रूप में हम सूर का निम्नलिखित उदाहरण ले सकते हैं—

“नंद व्रज लीजे ठोंक बजाय

देहु बिदा मिलि जाहि मधुपुरी गोकुलराय ।”

यहाँ पर उत्सुकता, अधीरता, विरक्ति, खिजलाहट आदि कई भावों का मिश्रण है ।

२. संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि काव्य—इसमें व्यञ्जक की प्रतीति और व्यंग्य की प्रतीति का पौर्वापर्य भाव स्पष्ट रहता है तथा व्यञ्जक और व्यंग्य क्रम ऐसा रहता है जैसा कि रणन और अनुरणन का हुआ करता है ।

यह ध्वनि-काव्य शब्द अर्थ और शब्दार्थ उभय की व्यञ्जना शक्तियों से प्रादुर्भूत होने वाले व्यंग्य रूप अर्थ के कारण तीन प्रकार से होता है—

(क) शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि—इसमें शाब्दी व्यञ्जना अनु-

रणन सदृश व्यंग्यार्थ का बोध कराती है।

(ख) अर्थशक्तिसूलानुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि—इसमें आर्थी व्यंजना अनुरणन सदृश व्यंग्यार्थ का बोध कराती है।

(ग) उभयशक्तिसूलानुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि—इसमें शाब्दी और आर्थी दोनों व्यंजनाएँ अनुरणन के सदृश व्यंग्यार्थ का बोध कराती हैं।

(घ) शब्दशक्तिसूलानुरणन व्यंग्य ध्वनि के भेद—इसके दो भेद होते हैं—

(i) शब्द शक्ति से अलंकार ध्वनि।

(ii) शब्द शक्ति से वस्तु ध्वनि।

(i) अलंकार ध्वनि—जहाँ व्यंग्यार्थ अलंकारमूलक होता है, उसे अलंकार ध्वनि कहते हैं। यहाँ पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह यह कि अलंकार्य रूप ध्वनि अलंकार कैसे हो सकती है। संस्कृत आचार्यों ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि अलंकार्य ध्वनि को अलंकार ब्राह्मण श्रमण न्याय से कहेंगे। जिस प्रकार श्रमण हो जाने पर ब्राह्मणत्व क्षीण हो जाता है, तथा वह ब्राह्मण श्रमण कहलाता है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ रूप अलंकार न रहने पर भी अलंकार ध्वनि कहलाता है। इसके उत्तर में गुप्त जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत कर सकते हैं—

करुणे क्यों रोती है ! उत्तर में और अधिक तू रोई।

है मेरी विभूति जो, उसे भवभूति क्यों कहे कोई॥

यहाँ पर कुछ शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं—उत्तर—१. जवाब, २. उत्तररामचरित नाटक; भवभूति—१. संसार की सम्पत्ति, २. भवभूति नामक नाटककार। यहाँ पर दो वाच्यार्थ हैं—१. हे करुणे ! तू इतना अधिक क्यों दुखी होती है। इस प्रश्न से वह और अधिक दुखी हुई। कवि कहता है कि जो मेरी सम्पत्ति है, उसे लोग संसार की सम्पत्ति क्यों कहते हैं। इसका दूसरा वाच्यार्थ है कि हे करुणा (रस), तू शोक (स्थायी) से समन्वित क्यों है ? रति आदि मधु भावों से समन्वित क्यों नहीं है। उत्तररामचरित में इसका बहुत अधिक परिपाक है। तू (करुणा) तो साकेत की निधि है। लोग उसकी प्रतिष्ठा उत्तररामचरित में क्यों मानते हैं। यह दोनों वाच्यार्थ असंगत हैं। इस असंगतता को दूर करने के लिए उपमा अलंकार व्यंग्य ग्रहण किया जाना आवश्यक है। व्यंग्यार्थ है—जिस प्रकार करुण रस भवभूति कवि की निधि है, उसी प्रकार हमारी रचना भी करुणा से ओत-प्रोत है—यह अलंकार्य हुआ। प्रत्यक्ष अलंकार मुद्रा है।

(ii) वस्तु ध्वनि—जहाँ व्यंग्यार्थ केवल वस्तु रूप होता है, वहाँ वस्तु ध्वनि मानी जाती है। इस ध्वनि में प्रायः द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये शब्द ऐसे होते हैं कि उनके पर्याय उनका काम नहीं दे सकते हैं क्योंकि दूसरे पर्याय रखने से व्यंग्यार्थ में अन्तर पड़ सकता है। वस्तु ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण यह दोहा है—

चिरजीबो जोरी कुरं क्यों न सनेह गम्भीर ।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर ॥

यहाँ पर वृषभानुजा के तीन अर्थ हैं—१. वृषभानु की पुत्री, २. वृषभ + अनुजा = बैल की बहन, गाय । ३. वृष के सूर्य की पुत्री । इसी प्रकार हलधर के भी तीन अर्थ हैं—१. बलराम, २. बैल, ३. शेषनाग । श्लिष्ट होने के कारण उपर्युक्त शब्द अन्य व्यंग्य अर्थों की ओर भी संकेत करता है । बैल और गाय परक अर्थ को दृष्टि में रख कर दोहे से हम इस प्रकार व्यंग्यार्थ ले सकते हैं—“परस्पर दोनों में बड़ा प्रेम बना रहे । प्रेम बना भी क्यों न रहे दोनों एक ही पशु जाति के स्त्री और पुरुष रूप हैं । जब एक ही जाति के स्त्री पुरुष हैं, तो फिर परस्पर आकर्षण बढ़ना स्वाभाविक है ।” इसी प्रकार वृषभानुजा और हलधर के क्रमशः वृष के सूर्य की पुत्री और शेषनाग अर्थ लेने पर व्यंग्यार्थ होगा—“ईश्वर करे दोनों में परस्पर प्रेम बढ़े, क्योंकि दोनों में कलह बढ़ने की बड़ी सम्भावना रहती है क्योंकि प्रचण्डता और तीक्ष्णता में दोनों एक से एक बढ़ कर हैं । अगर एक सूर्य-पुत्री होने के कारण चण्डी रूप है तो दूसरा शेषनाग रूप होने के कारण भयंकर विषधर है ।” चूँकि यहाँ पर व्यंग्यार्थ वस्तु रूप है, अतः यह शब्दशक्तिमूला वस्तु ध्वनि है ।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि—जब प्रकरण आदि के सहारे शब्द के बल पर नहीं, अपितु अर्थ शक्ति के बल पर किसी भी व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति की जाती है, तब उसे अर्थ-शक्ति मूलक ध्वनि कहते हैं ।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के दो प्रमुख भेद—

आचार्यों ने अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के स्थूल रूप से दो भेद माने हैं—

- १—अर्थशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि ।
- २—अर्थशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि ।

अर्थशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि—इसके भी आचार्यों ने व्यंग्य व्यञ्जक भेद से दो स्थूल प्रकार निर्दिष्ट किए हैं । इनके भी क्रमशः स्वतः सम्भवी कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध भेद होते हैं । सब मिला कर अर्थशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि के ६ भेद होते हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य ।
२. स्वतः सम्भवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य ।
३. कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य ।
४. कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य ।
५. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य ।
६. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति अलंकार से वस्तु व्यंग्य ।

अर्थशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि—इसके उदाहरण के रूप में हम बिहारी का निम्नलिखित दोहा ले सकते हैं—

लखि गुरुजन बिच कमल सो सीसु छुवायो श्याम ।

हरि सन्मुख करि आरसी हियै लगाई बाम ॥

इस दोहे में कवि ने व्यंग्यार्थ रूप में पहले तो नायक के द्वारा सम्भोग की प्रार्थना प्रकट की है। फिर नायिका द्वारा उसकी स्वीकृति व्यंजित की है। ये दोनों व्यंजनाएँ लोकसम्भव वस्तु होने से वस्तु ध्वनि का उदाहरण हैं। इसी प्रकार कवि-कल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि, कविनिबद्धवस्तु कल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि, स्वतः सम्भव अलङ्कार से वस्तु ध्वनि, आदि के भी साहित्य में सँकड़ों उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं।

अर्थमूलक अलंकार ध्वनि—इस ध्वनि के व्यंग्य, व्यंजक, स्वतः सम्भवी, कवि प्रौढोक्ति सिद्ध, और कविनिबद्धवस्तु प्रौढोक्ति सिद्ध भेदों से वस्तु ध्वनि के सदृश ६ भेद होते हैं। उनके नाम हैं—

१. स्वतः सम्भवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य ।
२. स्वतः सम्भवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य ।
३. कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य ।
४. कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य ।
५. कविनिबद्धवस्तु प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु से अलंकार ध्वनि ।
६. कविनिबद्धवस्तु प्रौढोक्ति अलंकार से अलंकार व्यंग्य ।

स्वतः सम्भव वस्तु से अर्थमूलक अलंकार ध्वनि का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

रंग राती रातें हियै प्रियतम लिखी बनाय ।

काती पाती विरह की छाती रही लगाय ॥

इस दोहे में जिस व्यंग्यार्थ की व्यंजना की गई है, उससे अपह्नति अलंकार की ध्वनि निकलती है। वह सम्भव वस्तु 'प्रियतम की पाती' से प्रकट हुई है। प्रियतम की पाती नहीं, नायिका ने मानो विरह की पाती ही हृदय से लगा ली हो, यही व्यंग्य है। इससे प्रियतम के विरहाधिक्य की व्यंजना की गई है। इसी प्रकार अन्य पाँच प्रकार की अलंकार ध्वनि के उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं।

उभयशक्तिमूलक ध्वनि—कहीं-कहीं शब्द और अर्थ उभयमूलक ध्वनि के मिश्रित उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

अनुपम चन्द्राभरन जुत मनसथ प्रबल बढ़ातु ।

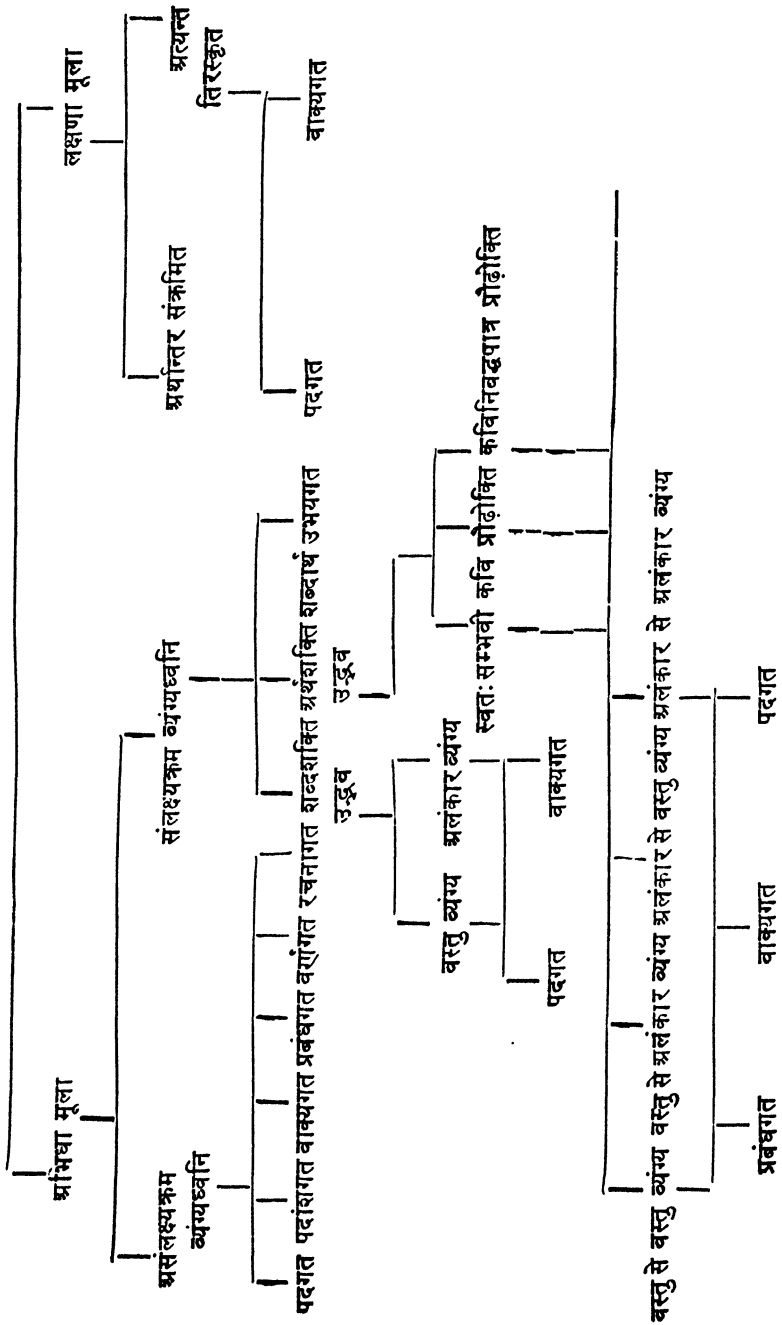
तरल तारका कलित यह, श्याम ललित सुहातु ॥

श्लेष के बल पर इसके दो वस्तुगत वाच्यार्थ निकलते हैं—एक रात्रि-परक है, और दूसरा रमणीपरक। रात्रिपरक अर्थ इस प्रकार है—चन्द्रमा से विभूषित तारकों से युक्त काम को उद्दीप्त करने वाली रात्रि शोभित हो रही है। रमणीपरक अर्थ लेने पर श्यामा का अर्थ रमणी लिया जाय तो इस प्रकार अर्थ होगा—चन्द्राभूषण से अलंकृत अपल तारकों वाली रमणी काम-भावना उद्दीप्त करती हुई शोभायमान हो

रही है। यदि 'चन्द्रतरल' और 'श्यामा' शब्दों के लिए पर्यायवाची शब्द रख दिए जाएँ तो उपर्युक्त दो अर्थ नहीं लग सकते। इस दृष्टि से तो यहाँ शब्द शक्तिमूलकता है। किन्तु 'आभरण' और 'बढ़ातु' शब्द के पर्यायवाची रख देने पर भी उपर्युक्त दोनों अर्थों में अन्तर नहीं पड़ सकता। यह अर्थ-शक्तिमूलकता हुई। इसीलिए उसे उभय शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि का उदाहरण माना गया है।

ध्वनि के भेदोपभेदों की गणना—संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि के कुल मिलाकर १५ भेदों का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। शब्द शक्तिमूलक व्यंग्य के २, अर्थशक्ति मूलक के १२; तथा उभय शक्ति मूलक का १ भेद। इनमें असंलक्ष्य-क्रम नामक भेद को और मिला देने से १६ हो जाते हैं। इनमें लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद जोड़ देने से संख्या १८ हो जाती है। आचार्य मम्मट ने इन्हीं १८ भेदों की गणना की है। इन अठारह भेदों में से उभय शक्ति उत्थ को छोड़कर शेष १७ भेदों के, पदगत तथा वाक्यगत, भेद होने से ३४ प्रकार की ध्वनि हो जाती है। इनमें एक भेद उभय शक्ति उत्थ को मिला देने से इनकी संख्या ३५ हो जाती है। इनके अतिरिक्त प्रबन्ध में अर्थ-शक्ति उत्थ के १२ भेद बताए गए हैं। ३५ में इन्हें जोड़ देने से कुल ४७ भेद हो गए। इनमें असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के पदांश, वर्ण, रचना तथा प्रबन्धगत भेद होने से ध्वनियों के भेद ५१ हुए। इनके भी आगे भेदोपभेद किए गए हैं। सब मिलाकर इनकी संख्या १०,४५५ गिनाई गई है।

ध्वनि के ५१ भेद



अलंकार सम्प्रदाय

भारतीय साहित्यशास्त्र में अलंकार अपना विशिष्ट स्थान और महत्त्व रखते हैं। साहित्य को सुसज्जित करने वाले उपादान के रूप में तो अलंकारों का विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता आया है। पर कुछ आचार्यों ने इन्हें काव्य के प्राण-भूत तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करके अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना की है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और अनुवर्ती आचार्यों का अलंकार विवेचन विवादास्पद होते हुए भी रोचक है।

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति, व्याख्या और स्वरूप-निरूपण—अलंकार सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक 'वामन' ने 'सौन्दर्यम 'कारः' कहकर अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय-वाची माना है। 'भामह' से पूर्व अलंकार शब्द काव्य के बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों को अलंकृत करने वाले सभी उपादानों के लिए प्रयुक्त होता था। अतः साहित्य-शास्त्र के स्थान पर भी अलंकारशास्त्र शब्द प्रचलित था। किन्तु बाद में काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद होने पर अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ। अलंकारशास्त्र के स्थान पर साहित्यशास्त्र शब्द प्रयुक्त किया गया। अलंकार के व्यापक अर्थ का तिरोभाव हो गया। वह अपने संकुचित अर्थ में काव्य के अनित्य धर्म के रूप में ग्रहण किया गया। किन्तु अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य में इनके महत्त्व को स्थिर करते हुए इनका स्वरूप निरूपण किया है। कुछ प्रमुखाचार्यों द्वारा दी गई अलंकार की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

भामह—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः ।'

अर्थात् शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है।

दण्डी—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।'

अर्थात् अलंकार काव्य को सौन्दर्य प्रदान करने वाले धर्म हैं।

वामन—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकारः ।'

अर्थात् अलंकार द्वारा ही काव्य ग्राह्य होता है और सौन्दर्य ही अलंकार है।

रुद्रट—'अभिधानप्रकारविशेषा एवं चालंकाराः ।'

ये सभी विद्वान् अलंकारवादी थे। अतः अलंकार से इनका तात्पर्य काव्य के बाह्य रूप को अलंकृत करने वाले तत्त्व से ही नहीं है बल्कि रस, गुण आदि काव्य की अन्तरात्मा को पुष्ट करने वाले सभी तथ्यों का विकास इन्होंने अलंकार के द्वारा ही मानकर काव्य से अलंकार का समवाय सम्बन्ध स्थिर किया है। इसे वे काव्य का स्थिर धर्म मानते हैं। किन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार को रस, भाव आदि के सहायक उपादान के रूप में काव्य का अस्थिर धर्म माना है। वे अलंकार का कार्य काव्य को सुसज्जित करना मात्र मानते हैं। रसवादी विश्वनाथ की परिभाषा इस प्रकार है—

'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशयिनः ।

रसादीन्यकुर्वन्तेऽलंकारास्तेऽङ्गवाचिनः ॥'

—साहित्यदर्पण

अर्थात् अलंकार काव्य-शोभा को बढ़ाने वाले, रस, भाव आदि के उत्कर्ष में सहायक शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। अंगद आदि आभूषणों के समान ही ये अस्थिर धर्म भी काव्य के आभूषण या अलंकार कहलाते हैं।

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् शुक्ल जी भी रसवादी ही थे। उन्होंने भी अलंकार की परिभाषा रसवादी आचार्यों के समान ही दी है। यह परिभाषा इस प्रकार है—

“भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव करने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।”

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों के समान शुक्ल जी भी अलंकारों को काव्य के अस्थिर धर्म मानते हैं। परिभाषा में ‘कभी-कभी’ शब्द का प्रयोग इसी ओर संकेत कर रहा है।

काव्य में अलंकारों का स्थान और महत्त्व—अलंकार की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि काव्य में अलंकार प्रमुख दो रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं—

१. ‘भामह’ आदि अलंकारवादी आचार्यों के अनुसार काव्य-शोभा के सृष्टि-कारक स्थायी धर्म के रूप में।

२. काव्य-शोभा के सृष्टिकारक नहीं, बल्कि वृद्धिकारक अस्थायी धर्म के रूप में। अलंकार को इस रूप में ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों ने ग्रहण किया है।

उपर्युक्त दोनों रूपों में अलंकार शब्द सौन्दर्य विधान करने के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। काव्य में अलंकार शब्द सार्थक है। इसकी व्युत्पत्ति अलम् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है आभूषण। अतः भूषित करने वाले उपादान ही अलंकार हैं। अलंकार साहित्य सृष्टि के सभी कालों में किसी न किसी रूप में अवश्य प्रयुक्त हुए हैं। यह शब्द में, अर्थ में, या शब्द और अर्थ दोनों में ही होते हैं। प्रायः चमत्कारवादी लेखक शब्दालंकारों को ही महत्त्व देते हैं। राजा भोज ने अपने ‘सरस्वती कण्ठाभरण’ में शब्दालंकारों की परिभाषा इस प्रकार दी है—

“ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिहक्षमाः

शब्दालङ्कारसंज्ञास्ते ।”

जो शब्दों के वैचित्र्य द्वारा काव्य को अलंकृत करते हैं वे शब्दालंकार कहलाते हैं। किन्तु जो शब्द अर्थ-गाम्भीर्य के प्रदर्शक होते हैं वे अर्थालंकार कहलाते हैं।

“अलमर्थमलंकर्तुं यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना ।

ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञं स्तेऽर्थालङ्कारसंज्ञया ॥”

वास्तव में अर्थगत उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य को सुशोभित करने में सहायक होता है। ‘अग्निपुराण’ में यद्यपि ‘वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्’ कहकर रस को

महत्ता दी गई है, किन्तु साथ ही साथ अर्थालंकार की महत्ता को भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“अर्थालङ्काररहिता विषयेव भारती ।”

भामह आदि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व माना है। रस का उद्भव भी वे रसवत् नामक अलंकार से ही मानते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों की अलंकार की परिभाषाएँ ऊपर दी जा चुकी हैं। उनसे काव्य में उनके अलंकार सम्बन्धी मत की पुष्टि हो जाती है। इन आचार्यों के मत का विवेचन करते हुए रुय्यक ने ‘अलंकारसर्वस्व’ में यह निष्कर्ष दिया है—

“अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।”

अर्थात् प्राच्य साहित्याचार्यों ने काव्य में अलंकार को ही प्रधानता दी है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकारों को अंग रूप में स्वीकार किया है। ध्वनिकार ने ‘ध्वन्यालोक’ में लिखा है—

“अंगभितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् ।”

अर्थात् काव्य में अलंकारों की स्थिति अंग रूप में कटक आदि आभूषणों के समान होती है। ध्वनि के पोषक आचार्यों ने व्यंग्यार्थ को काव्य का प्रधान अंग कहा है। किन्तु वे गुणीभूत व्यंग्य जिसमें ध्वन्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों समान रहते हैं और केवल वाच्यार्थ में भी काव्यत्व स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के काव्य में कवि अपनी प्रतिभा द्वारा अलंकारादि के समावेश से काव्यत्व प्रदान करते हैं—

“ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाध्यात् ।

न काव्यार्थविरामोऽस्ति यद्विस्तारप्रतिभागुणः ।”

अर्थात् यदि कवि प्रतिभाशाली है तो ध्वनिरहित गुणीभूतव्यंग्य और वाच्यार्थ मात्र युक्त काव्य में भी काव्यत्व का अभाव नहीं हो सकता। ध्वनिकाव्यों में अलंकार का समावेश कवि की प्रतिभा की सहज प्रवृत्ति द्वारा ही हो जाता है। उसके लिए वे न चिन्ता ही करते हैं और न प्रयास ही। ‘ध्वन्यालोक’ की ये पंक्तियाँ देखिए—

“अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः ।

प्रतिभानवतः कवेः अहंपूर्विकया परापतन्ति ।”

अर्थात् काव्य में रस की ओर दृष्टि रखने वाले प्रतिभावान कवियों को निरूप्यमाण की कठिनाई होने पर भी अलंकार की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। अलंकार स्वतः ही प्रथम स्थान ग्रहण करने के लिए एक के बाद एक समाविष्ट होते जाते हैं।

किन्तु रस रहित काव्य को अलंकार भी अलंकृत नहीं कर सकते—

“तथाहि अचेतनं शबशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति,

अलंकार्यस्याभावात् ।”

—ध्वन्यालोकलोचन

अर्थात् जिस प्रकार प्राणरहित शव में कुण्डल आदि शोभा नहीं देते उसी प्रकार काव्य में अलंकार्य या रस के अभाव में अलंकार भी निरर्थक हैं ।

अतः ध्वनिवादी आचार्यों ने रस-भाव आदि के उत्कर्ष के लिए अलंकारों का काव्य में महत्ता दी है । आचार्य मम्मट ने भी ध्वनिवादी आचार्यों के समान व्यंग्यार्थ को काव्य में महत्त्व दिया है किन्तु व्यंग्य-रहित अलंकारयुक्त रचना में भी काव्यत्व की स्थिति मानी है । मम्मट ने अलंकारों का काव्य में स्थान निर्धारित करते हुए उनका सामान्य लक्षण इस प्रकार दिया है—

“उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवबलङ्कारोस्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥”

—काव्यप्रकाश ८।६७

मम्मट ने अलंकारों को रस का नित्य धर्म नहीं कहा है बल्कि नीरस काव्यों में भी अलंकारों का प्रयुक्त किया जाना कहा है । अपनी काव्य-परिभाषा में मम्मट ने ‘सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि’ कहकर काव्य में सदा अलंकार की स्थिति आवश्यक भी नहीं मानी है । ‘चन्द्रालोक’ के प्रणेता जयदेव ने मम्मट के उस मत का खण्डन करते हुए काव्य में सदा ही अलंकारों की उपस्थिति को महत्त्व देते हुए लिखा है—

“अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती

असौ न मन्यते कस्मादनलङ्घनलंकृती” —चन्द्रालोक १।८

अर्थात् जो शब्दार्थ विशिष्ट काव्य को अलङ्काररहित मानते हैं वे फिर अग्नि को अस्तित्व से रहित भी मान सकते हैं ।

जयदेव, विद्याधर, अण्णय दीक्षित आदि अलंकार सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे । इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में एक बार फिर अलङ्कार की महत्ता को काव्य में स्थिर करने का प्रयत्न किया था किन्तु ध्वनि और रस सिद्धान्तों के सम्मुख इनका मत अधिक मान्य न हो सका । हिन्दी में केशवदास अलङ्कारवादी आचार्य थे ।

इस प्रकार अलङ्कार सदैव काव्य में किसी न किसी रूप में मान्य रहे हैं । काव्य में अधिकतर रस और गुण के पश्चात् अलङ्कार का स्थान निर्धारित किया जाता है ।

अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद—अलङ्कार और अलङ्कार्य दोनों काव्य के प्रमुख पक्षों के सहायक तत्त्व हैं । काव्य के भाव और कला दो पक्ष हैं । अलङ्कार्य जिसके अन्तर्गत रस वस्तु आदि आते हैं, भाव पक्ष से सम्बन्धित है । अलङ्कार का सम्बन्ध उसके कला-पक्ष से है । अतः भाव-पक्ष और कला-पक्ष में जो सम्बन्ध और विभेद हैं वही अलङ्कार और अलङ्कार्य में भी हो सकता है । डा० श्यामसुन्दरदास ने ‘साहित्यालोचन’ में काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष के सम्बन्ध की नित्यता की ओर संकेत करते हुए कहा है—

“दोनों का नित्य सम्बन्ध है, जो सदा अक्षुण्ण बनी रहता है । जहाँ एक का

दूसरे से बिछोह हुआ वहाँ काव्य की अन्तरात्मा को अपने को प्रगट करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती ।”

—रस और शैली; पृ० ३०२

काव्य की अन्तरात्मा है रस । रस को क्रियाशील बनाने वाला कला-पक्ष ही होता है । कला-पक्ष के अन्तर्गत शैली सम्बन्धी सभी तत्त्व आ जाते हैं । अलङ्कार शैली का एक ही तत्त्व और विशेषता है । कुशल कलाकार की शैली में यह नित्य रूप से वर्तमान रहते हैं । उनकी वाणी बिना प्रयास के ही सुन्दरतम अलङ्कारों की सृष्टि करती चलती है । हिन्दी साहित्य के भक्ति युग की रचनाओं में अलङ्कारों की योजना इसी रूप में मिलती है । काव्य में अलङ्कार जहाँ इस रूप में प्रयुक्त हुए हैं वहाँ वे रस के उत्कर्ष के आवश्यक उपादान सिद्ध हुए हैं । इसके विपरीत जब अलङ्कारों का प्रयोग चमत्कारवाद की प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है तो रस से उनका यह सहज सम्बन्ध विच्छिन्न-सा होता दिखाई पड़ता है । उसका स्वाभाविक सौन्दर्य विकृत हो जाता है और वे काव्य में विजृम्भित दोष का समावेश करने लगते हैं ।

सैद्धान्तिक दृष्टि से अलङ्कार और अलङ्कार्य में कोई भेद नहीं कहा जा सकता । पाश्चात्य कलावादी और अभिव्यञ्जनावादी विद्वान् इसी दृष्टिकोण को लेकर दोनों के भेद को निराधार सिद्ध करते हैं । दार्शनिक क्रोचे की ये पंक्तियाँ देखिये—

“One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally ? In that case it must always remain separate. Internally ? In that case either it does not assist expression and mars it; or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole.”

(Expression & Rhetoric, Croce)

अर्थात् “यह प्रश्न हो सकता है कि अलङ्कार का समावेश अलङ्कार्य में कैसे किया जा सकता है । यदि बाह्यात्मक रूप से किया जाय तो वह उसके साथ ऐक्य नहीं स्थापित कर सकता । यदि आन्तरिक रूप में किया जायेगा तभी वह या तो स्वयं प्रधानता ग्रहण कर भाव-व्यञ्जना में बाधक हो जायेगा या भाव का मूल तत्त्व होकर अलङ्कार रूप न रहकर भाव के साथ अभिन्न हो जायेगा ।”

क्रोचे के अनुसार कुशल काव्यकार की कृति में अलङ्कार अलङ्कार्य में समाविष्ट होकर अभिन्न हो जाते हैं । किन्तु यह मृत दार्शनिक गाम्भीर्य से युक्त है । व्यावहारिक रूप में अलङ्कार और अलङ्कार्य का स्पष्ट भेद दृष्टिगत होता है । भारत में भी इस दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार ‘गिरा अरथ जल बीधि सम कहियत भिन्न न भिन्न’ कहकर दोनों के अभेद को स्वीकार किया गया है किन्तु व्यावहारिक रूप से हमारे संस्कृत आचार्य दोनों को पृथक् ही मानते रहे हैं । वक्रोक्तिवादी कुन्तल ने अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेद को धारणिक ही माना है—

“शरीरंचेदलङ्कारः किमलङ्कृतोऽपरम्
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधरोहति”

—वक्रोक्तिजीवित (१।१४)

अर्थात् “यदि शरीर को अलङ्कार भी कहा जाय तो वह दूसरी वस्तु को अलङ्कृत कैसे करेगा क्योंकि शरीर तो अलङ्कार्य है। कोई स्वयं ही अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता।”

काव्य में अलङ्कार्य अलङ्कारयुक्त होता है तभी सफल काव्य का निर्माण होता है। किन्तु उसमें अलङ्कार की प्रथम स्थिति भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। जैसा कि कुन्तल की इस उक्ति में कहा गया है—

“अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता”

—वक्रोक्तिजीवित (१।७)

अलङ्कार और गुणों में भेद—काव्य में अलङ्कार और गुण दोनों ही अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। किन्तु दोनों के स्थान और कार्य में अन्तर है। वामन से पूर्व के संस्कृत आचार्यों ने तो गुण और अलङ्कार में कोई भेद नहीं माना है। भामह ने ‘काव्यालङ्कार’ में भाविक अलङ्कार के लिए गुण शब्द का प्रयोग किया है—

“भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयगुणम्” —का० ला० ३।५३

दण्डी ने भी ‘काव्यादर्श’ में कई स्थलों पर अलङ्कार और गुण दोनों के लिये ‘मार्ग’ शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि वह गुण और अलङ्कार में कोई भेद नहीं मानते थे। अतः इन आचार्यों ने गुणों का स्वतन्त्र रूप से विवेचन नहीं किया है। ‘अग्निपुराण’ में गुण का लक्षण निम्नांकित शब्दों में दिया गया है—

“यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः”

अर्थात् काव्य में अनुपम शोभा का समावेश करने वाले कारण गुण हैं।

किन्तु दण्डी ने अलङ्कार की परिभाषा देते हुए अलङ्कारों को ही काव्य शोभा का कारण माना है—

“काव्यशोभाकरान्धर्मनलङ्कारान् प्रचक्षते”

इन परिभाषाओं से गुण और अलङ्कार का भेद स्पष्ट नहीं होता। दोनों ही काव्य शोभाकारक धर्म कहे गये हैं।

अग्निपुराण में रस, गुण और अलङ्कार तीनों की एक साथ स्थिति को आवश्यक बताते हुए तीनों के रूप और महत्त्व पर अलग-अलग विचार किया गया है। उसमें अलङ्कार को स्त्री के आभूषण और गुणों को स्त्री के सौन्दर्य के समकक्ष कहा है। ‘अर्थालङ्काररहिता विषयेव भारती’ कह कर काव्य में अलङ्कार की महत्ता प्रतिपादित की गई है किन्तु गुणों को अलङ्कार से श्रेष्ठ स्थान देते हुए लिखा है—

“अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्

वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्”—अग्निपुराण ३।६।१

अर्थात् गुण-रहित काव्य यदि अलंकारयुक्त भी हो तो भी मनोरंजक नहीं हो सकता । जिस प्रकार सौन्दर्यविहीन स्त्री पर आभूषण शोभित नहीं होते बल्कि भार रूप ही प्रतीत होते हैं ।

अग्निपुराण के बाद गुण और अलंकार के भेद की स्पष्ट व्याख्या करने वाले आचार्य वामन हैं । वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिपक्षी थे । इन्होंने रीति में गुण को सर्वप्रमुख स्थान दिया है—

“विशिष्टपदरचना रीतिः”

अर्थात् विशिष्ट गुणों से युक्त रचना ही रीति है । गुण को ये रस से भी श्रेष्ठ मानते हैं । ‘दोषतरसत्वं कान्तिः’ इस सूत्र में रस को कान्ति गुण के अन्तर्गत ही स्थान दिया है । गुण और अलंकार के भेद को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

“काव्यशोभायाः कर्तारोघर्मा गुणाः

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः” —काव्यालंकारसूत्र ३।१।१, २

अर्थात् गुण काव्य शोभाकारक धर्म हैं और अलंकार इस शोभा को अतिशय या बढ़ाने वाले हेतु हैं ।

वामन ने गुण-रहित और अलंकारयुक्त रचना में काव्यत्व नहीं माना है । ‘काव्यालंकारसूत्र’ में एक स्थल पर वे गुणों की उपमा युवती के सहज सौन्दर्य और शालीनता आदि सहज गुणों से देते हुए लिखते हैं—

“युवतेरिवरूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगणं तदप्यतीव,
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पनाभिः ॥

यदि भवति वचश्च्युतं गुणोभ्योवपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः
अपि जनदयितानि दुर्भंगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते”

—काव्यालंकारसूत्र ३।१।२ वृत्ति

अर्थात् गुणों से युक्त काव्य यदि अलंकाररहित भी हो तो भी आस्वादनीय है जिस प्रकार आभूषण रहित युवती-सौन्दर्य भी रसिक जनों के लिए आकर्षक होता है । गुणयुक्त काव्य यदि अलंकारयुक्त भी हो तो वह और भी रोचक हो जाता है जिस प्रकार सुन्दर युवती का सौंदर्य आभूषण धारण करने पर और भी बढ़ जाता है । इसके विपरीत गुणरहित पर अलंकारयुक्त काव्य मनोरंजक नहीं होता बल्कि दुर्भंग या अनादरणीय हो जाता है ।

महाराजा भोज ने ‘सरस्वतीकंठाभरण’ में अग्निपुराण और वामन के मत का मंडन करते हुए काव्य में अलंकार की स्थिति ऐच्छिक और गुण की स्थिति आवश्यक बताई है—

“अलंकृतमपि अर्थं न काव्यं गुणवर्जितम्

गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः” —सरस्वती कण्ठाभरण, १।५६

आचार्य उद्भट ने स्पष्ट शब्दों में गुण और अलंकार में भेद मानने वाले आचार्यों के मतों पर इन शब्दों में आक्षेप किया है—

“एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः । ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां बोधयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डुलिका प्रवाहेणैवेषां भेदः ।

अर्थात्, विद्वानों ने मनुष्य के शौर्य आदि गुणों के समान काव्य में गुणों का संबंध समवाय और हार आदि आभूषणों के समान अलंकारों का सम्बन्ध संयोग मात्र माना है । किन्तु यह मत गड्डुलिका प्रवाह (भेडियाधसान) मात्र है । मनुष्य के गुणों और आभूषणों में लौकिक होने के कारण भेद हो सकता है किन्तु काव्य अलौकिक वस्तु है अतः गुण और अलंकार भी अलौकिक दृष्टि से नित्य और भेदहीन है ।

आचार्य मम्मट का मत उद्धट और वामन के मत के विरोध में है । उद्धट ने अलंकार और गुण को समान माना है और वामन ने गुण को ही रीति में सर्वश्रेष्ठ कहा है किन्तु मम्मट ने रस को काव्य का प्राण बताते हुए गुण को रस का उत्कर्षक नित्य धर्म कहा है—

“ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः”—काव्यप्रकाश ८।६६

अर्थात् आत्मा के शौर्य आदि गुणों के समान काव्य-गुण रस के आश्रित धर्म, उत्कर्ष के हेतु और रस के साथ अचल या नित्य रहने वाले हैं ।

इसके विपरीत वह अलंकार को रस के धर्म नहीं बल्कि शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म मानते हैं । रस के साथ अलंकार नित्य रूप में रहकर सदा ही उसका उत्कर्ष नहीं करते । अलंकार का लक्षण वे इस प्रकार देते हैं—

“उपकुर्वन्ति तं सत्त्वं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्

हारादिबलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः”—काव्यप्रकाश ८।६७

मम्मट के अनुसार गुण और अलङ्कारों में निम्नलिखित अन्तर है—

१. गुण रस के धर्म हैं किन्तु अलङ्कार रस के धर्म न होकर शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं ।

२. गुण रस के साथ नित्य रहते हैं अलंकार रस के साथ नित्य नहीं रहते । नीरस काव्यों में भी रहते हैं ।

३. गुण रस के साथ रहकर भी कभी शब्दार्थ के द्वारा रस का उपकार करते हैं कभी उपकार नहीं भी करते हैं । इस प्रकार मम्मट ने वामन के काव्य शोभाया कर्तारोधर्माः गुणादतिशय हेतवस्तु अलङ्काराः का खण्डन कर दिया है । इस लक्षण में मम्मट ने गुणों को काव्य का शोभाकारक धर्म और अलङ्कारों को गुणकृत शोभा के उत्कर्षक कहा है । मम्मट का कहना है कि ऐसी भी रचना काव्य होती है जिसमें गुण की स्थिति ही न हो, केवल अलङ्कार ही हो ।

इस प्रकार गुण और अलङ्कार के संबंध में विद्वानों में मतभेद रहा है। काव्य में रस, गुण और अलङ्कार तीन प्रमुख तत्त्व होते हैं। किसी ने रस की महत्ता स्वीकार की है, किसी ने गुण और अलङ्कार की। विभिन्न मतों की व्याख्या करते हुए गुण और अलङ्कार सम्बन्धी निम्नलिखित मत स्पष्ट होते हैं—

१. अलंकारवादी आचार्यों का मत—ये गुण और अलंकार को समकक्ष मानते हुए रस की स्थिति इन्हीं के अन्तर्गत मानते हैं। इस मत के अनुयायी भामह, दण्डी, उद्भट आदि हैं।

२. रीतिवादी आचार्यों का मत—इस मत के प्रमुख अनुयायी वामन हैं। यह गुण को रीति का प्रधान तत्त्व और अलंकार को गुण के उत्कर्ष का कारण मानते हैं। अतः यह गुण को प्रथम और अलंकार को द्वितीय स्थान देते हैं।

३. मम्मट आदि रसवादी आचार्यों का मत—इस मत के अनुयायी रस को काव्य का प्राण मानते हैं और गुण को इसका नित्य-धर्म कहकर काव्य में गुण को द्वितीय स्थान दिया है। अलंकार को वे अंग रूप में स्वीकार करते हैं।

४. ध्वनिवादी आचार्य—ध्वनि को ही काव्य में प्रधानता देते हुए गुण को व्यंग्यार्थ ही कहते हैं।

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार—अलंकारों का निर्माण बहुत कुछ मनो-वैज्ञानिक आधार पर हुआ है। अलंकार कवि की वाणी को सौंदर्य प्रदान करने के साधन मात्र हैं। कवि स्वभाव से ही सहृदय और कलाकार होते हैं। उनकी सहृदयता उनकी भावना को उद्दीप्त कर देती है और उनकी कलाप्रियता के कारण उद्दीप्त भावनाएँ स्वतः ही अलंकृत हो जाती हैं। भावना की उद्दीप्ति मन के योज पर निर्भर है अतः मन के योज को ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अलंकारों के अस्तित्व का कारण माना गया है।

अलंकारों के महत्त्व का एक दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण भी है। अलंकार किसी भी विषय को उक्ति-वैचित्र्य रूप में कहने का एक साधन है। कवि की यह स्वाभाविक धारणा होती है कि वह अपनी रचना को अधिक से अधिक रोचक बना सके। किसी बात को सीधे ढंग से यथातथ्य रूप में कह देने से उसका प्रभाव व्यापक नहीं होता। अतः कवि जो कुछ अनुभव करते हैं उसे कल्पनामिश्रित अति-रञ्जित वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं। कवि की इसी प्रवृत्ति के कारण दण्डी आदि संस्कृताचार्यों ने अतिशयोक्ति को ही समस्त अलंकारों का मूल कहा है। इसी प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को तथा वामन ने औपम्य को अलंकारों का मूल माना है। अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, औपम्य चमत्कार इन सभी में रचना को अत्यधिक प्रभावात्मक बनाने की तीव्रतर कामना ही निहित है।

काव्य में अलंकार रस के उत्कर्षक और सौंदर्य का परिवर्धन करने वाले आवश्यक उपादान हैं। कवि की सौंदर्यप्रियता के कारण ही विभिन्न अलंकारों का अस्तित्व

“एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः । ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां बोधयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डुलिका प्रवाहेणैवेषां भेदः ।

अर्थात्, विद्वानों ने मनुष्य के शौर्य आदि गुणों के समान काव्य में गुणों का संबंध समवाय और हार आदि आभूषणों के समान अलंकारों का सम्बन्ध संयोग मात्र माना है । किन्तु यह मत गड्डुलिका प्रवाह (भेडियाधसान) मात्र है । मनुष्य के गुणों और आभूषणों में लौकिक होने के कारण भेद हो सकता है किन्तु काव्य अलौकिक वस्तु है अतः गुण और अलंकार भी अलौकिक दृष्टि से नित्य और भेदहीन है ।

आचार्य मम्मट का मत उद्धट और वामन के मत के विरोध में है । उद्धट ने अलंकार और गुण को समान माना है और वामन ने गुण को ही रीति में सर्वश्रेष्ठ कहा है किन्तु मम्मट ने रस को काव्य का प्राण बताते हुए गुण को रस का उत्कर्षक नित्य धर्म कहा है—

“ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः”—काव्यप्रकाश ८।६६

अर्थात् आत्मा के शौर्य आदि गुणों के समान काव्य-गुण रस के आश्रित धर्म, उत्कर्ष के हेतु और रस के साथ अचल या नित्य रहने वाले हैं ।

इसके विपरीत वह अलंकार को रस के धर्म नहीं बल्कि शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म मानते हैं । रस के साथ अलंकार नित्य रूप में रहकर सदा ही उसका उत्कर्ष नहीं करते । अलंकार का लक्षण वे इस प्रकार देते हैं—

“उपकुर्वन्ति तं सत्त्वं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्

हारादिवलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः”—काव्यप्रकाश ८।६७

मम्मट के अनुसार गुण और अलङ्कारों में निम्नलिखित अन्तर है—

१. गुण रस के धर्म हैं किन्तु अलङ्कार रस के धर्म न होकर शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं ।

२. गुण रस के साथ नित्य रहते हैं अलंकार रस के साथ नित्य नहीं रहते । नीरस काव्यों में भी रहते हैं ।

३. गुण रस के साथ रहकर भी कभी शब्दार्थ के द्वारा रस का उपकार करते हैं कभी उपकार नहीं भी करते हैं । इस प्रकार मम्मट ने वामन के काव्य शोभाया कर्तारोधमार्कः गुणातदतिशय हेतवस्तु अलङ्काराः का खण्डन कर दिया है । इस लक्षण में मम्मट ने गुणों को काव्य का बोधाकारक धर्म और अलङ्कारों को गुणकृत शोभा के उत्कर्षक कहा है । मम्मट का कहना है कि ऐसी भी रचना काव्य होती है जिसमें गुण की स्थिति ही न हो, केवल अलङ्कार ही हो ।

इस प्रकार गुण और अलङ्कार के संबंध में विद्वानों में मतभेद रहा है। काव्य में रस, गुण और अलङ्कार तीन प्रमुख तत्त्व होते हैं। किसी ने रस की महत्ता स्वीकार की है, किसी ने गुण और अलङ्कार की। विभिन्न मतों की व्याख्या करते हुए गुण और अलङ्कार सम्बन्धी निम्नलिखित मत स्पष्ट होते हैं—

१. अलंकारवादी आचार्यों का मत—ये गुण और अलंकार को समकक्ष मानते हुए रस की स्थिति इन्हीं के अन्तर्गत मानते हैं। इस मत के अनुयायी भामह, दण्डी, उद्भट आदि हैं।

२. रीतिवादी आचार्यों का मत—इस मत के प्रमुख अनुयायी वामन हैं। यह गुण को रीति का प्रधान तत्त्व और अलंकार को गुण के उत्कर्ष का कारण मानते हैं। अतः यह गुण को प्रथम और अलंकार को द्वितीय स्थान देते हैं।

३. मम्मट आदि रसवादी आचार्यों का मत—इस मत के अनुयायी रस को काव्य का प्राण मानते हैं और गुण को इसका नित्य-धर्म कहकर काव्य में गुण को द्वितीय स्थान दिया है। अलंकार को वे अंग रूप में स्वीकार करते हैं।

४. ध्वनिवादी आचार्य—ध्वनि को ही काव्य में प्रधानता देते हुए गुण को व्यंग्यार्थ ही कहते हैं।

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार—अलंकारों का निर्माण बहुत कुछ मनो-वैज्ञानिक आधार पर हुआ है। अलंकार कवि की वाणी को सौंदर्य प्रदान करने के साधन मात्र हैं। कवि स्वभाव से ही सहृदय और कलाकार होते हैं। उनकी सहृदयता उनकी भावना को उद्दीप्त कर देती है और उनकी कलाप्रियता के कारण उद्दीप्त भावनाएँ स्वतः ही अलंकृत हो जाती हैं। भावना की उद्दीप्ति मन के योज पर निर्भर है अतः मन के योज को ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अलंकारों के अस्तित्व का कारण माना गया है।

अलंकारों के महत्त्व का एक दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण भी है। अलंकार किसी भी विषय को उक्ति-वैचित्र्य रूप में कहने का एक साधन है। कवि की यह स्वाभाविक धारणा होती है कि वह अपनी रचना को अधिक से अधिक रोचक बना सके। किसी बात को सीधे ढंग से यथातथ्य रूप में कह देने से उसका प्रभाव व्यापक नहीं होता। अतः कवि जो कुछ अनुभव करते हैं उसे कल्पनामिश्रित अति-रञ्जित वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं। कवि की इसी प्रवृत्ति के कारण दण्डी आदि संस्कृताचार्यों ने अतिशयोक्ति को ही समस्त अलंकारों का मूल कहा है। इसी प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को तथा वामन ने औपम्य को अलंकारों का मूल माना है। अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, औपम्य चमत्कार इन सभी में रचना को अत्यधिक प्रभावात्मक बनाने की तीव्रतर कामना ही निहित है।

काव्य में अलंकार रस के उत्कर्षक और सौंदर्य का परिवर्धन करने वाले आवश्यक उपादान हैं। कवि की सौंदर्यप्रियता के कारण ही विभिन्न अलंकारों का अस्तित्व

दिखाई पड़ता है। अलंकारों का मनोवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि अपनी-अपनी रुचि-वैशिष्ट्य के अनुसार अलंकारों का प्रयोग करते हैं। अधिक आडम्बरप्रिय और चमत्कारप्रिय लेखकों की सृष्टि में शब्दालंकारों की बहुलता रहती है। सच्चे भावुक की रचना में इसके विपरीत अर्थालंकारों का स्वाभाविक नियोजन मिलता है। विद्वानों ने मनोविज्ञान के आधार पर ही अलंकारों का वर्गीकरण भी किया है। इनका मनो-वैज्ञानिक आधार आत्मगत भावावेश और इन भावावेशों की प्रभावाभिव्यञ्जक रूप से व्यक्त करने की कामना ही कही जा सकती है। इसी मनोवृत्ति के अनुसार चमत्कार को अलंकार का प्राण कहा गया है।

अलंकारों का क्रम विकास—संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि ने केवल चार अलंकारों का निर्देश किया है। इस ग्रंथ के बाद का प्रामाणिक ग्रन्थ 'अग्निपुराण' है। इसमें अलंकारों की संख्या १६ दी गई है। अग्निपुराण के बाद ईसा की छठी शताब्दी तक का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं किन्तु इस काल में भी अलंकारों की संख्या का क्रमिक विकास होता रहा। इसका प्रमाण भामह और भट्टी के ग्रन्थों से मिल जाता है। भामह ने 'काव्यालंकार' में ३८ अलंकारों का उल्लेख किया है। ये अलंकार भामह की अपनी नवीन उद्भावनाएँ नहीं हैं बल्कि इसमें भामह ने अपने पूर्ववर्ती कई आचार्यों के मतों को स्पष्ट किया है जिससे स्पष्ट होता है कि इन अलंकारों का भामह से पूर्व ही विकास हो चुका था। ईसा की आठवीं शताब्दी तक अलंकारों की संख्या ५२ हो गई थी। दण्डी, उद्भट, वामन आदि आचार्यों ने इनका उल्लेख किया है। ईसा की नवीं शताब्दी में मम्मट, रुय्यक, रुद्रट, भोज आदि के समय में १०३ अलंकारों का निर्माण हुआ। यह युग अलंकार विकास का मध्य युग माना गया है। जयदेव, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक—जिनका समय ईसा की १८वीं शताब्दी तक का है—यह संख्या १९१ तक परिवर्धित हो गई।

अलंकारों का वर्गीकरण—अलंकारों का निर्माण मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है। अतएव प्रत्येक अलंकार में स्वरूप और भाव-वैचित्र्य होते हुए भी उनके मूल तत्त्वों में साम्य रहता है। कुछ अलंकारों के मूल तत्त्व एक ही आधार पर आधारित हैं। मूल तत्त्व की इसी एकात्मता के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण किया गया है।

नवीं शताब्दी में आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम अलंकारों का वर्गीकरण किया। उन्होंने अर्थालंकारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार विभागों के अन्तर्गत विभक्त किया है। यह विभाजन अलंकारों की सजातीयता को दृष्टि में रख कर किया गया है किन्तु उनके मूल तत्त्वों पर गम्भीर रूप से विचार नहीं किया गया अतः यह वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण नहीं हो सका। 'अलंकारसर्वस्व' में रुय्यक द्वारा किया गया वर्गीकरण रुद्रट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (द्वितीय भाग) में रुय्यक द्वारा किए गए अर्थालंकारों के वर्गीकरण का निर्देश किया है। रुय्यक ने अलंकारों को सात वर्गों में विभक्त किया है—

(३) कोमला वृत्ति—उपर्युक्त दोनों प्रकार के वर्णों के प्रतिरिक्त वर्णों की रचना ।

उपनागरिका वृत्ति प्रधान व्युत्पन्नप्रास का उदाहरण—

“लोपे कोपे इन्द्र लौ रोपे प्रलय अकाल ।

गिरधारी राखे सब गो, गोपी गोपाल ॥”

परुषावृत्तिप्रधान व्युत्पन्नप्रास का उदाहरण—

“सुंङ कटत कहुं रुंङ नटत कहुं सुंङ पटत घन ।

गिद्ध लसत कहुं सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन ॥

भूत फिरत कर ब्रूत भिरत सुर ब्रूत बिरत तहँ ।

चंडि नँचत मन मंडि रचत धुनि डंडि मचत जहँ ॥

इमि ठानि घोर घमसान अति भूषण तेज कियो अटल ।

सिवराज साहि सुखप्रावल दलि अडोल ब हलोल हल ॥”

कोमलावृत्तिप्रधान व्युत्पलंकार का उदाहरण—

“जप माला, छापा, तिलक सरं न एको काम ।

मन काचें नाचें बृथा साचें राचें राम ॥”

(ग) श्रुत्यनुप्रास—जहाँ ध्वनियन्त्र के एक स्थान से उच्चारित होने वाले वर्णों की समानता हो, वहाँ श्रुत्यनुप्रास होता है । दन्त्य-वर्णों के अनुप्रास का एक उदाहरण इस प्रकार है—

“तुलसिदास सीबत निसदिन

देखत तुम्हारि निठराई ॥”

(घ) लाटानुप्रास—यह शब्द का अनुप्रास है । जब शब्द के अर्थ में कोई अन्तर न पड़े किन्तु पद का अन्वय करने से अर्थ बदल जाय तब वहाँ लाटानुप्रास माना जाता है—

“तीरथ व्रत साधन कहा जो निसदिन हरि गान ।

तीरथ व्रत साधन कहा, बिन निस दिन हरि गान ॥”

यहाँ शब्दों और अर्थों की आवृत्ति की गई है, किन्तु अन्वय से अर्थ बदल जाता है । जैसे;

“जो निसदिन हरि गान कहा तीरथ व्रत साधन”—अर्थात् जो दिन-रात भगवान् के भजन में लगे रहते हैं उन्हें तीर्थ-व्रत आदि साधनों की कोई आवश्यकता नहीं होती ।

दूसरा अन्वय इस प्रकार हो सकता है—

‘जो तीरथ व्रत साधन निसदिन हरिगान कहा’—अर्थात् जिन तीर्थ-व्रत और साधनों में रात-दिन हरि-गान का विधान रहता हो वे तीर्थ, व्रत और साधन निरर्थक होते हैं ।

(ङ) अन्त्यानुप्रास—छन्द की प्रत्येक पंक्ति के अन्तिम वर्णन की समानता को अन्त्यानुप्रास कहते हैं। इसी को तुकान्त भी कहते हैं—

“जेहि सुमिरत सिधि होय गणनायक करिवरबदन ।

करहु अनुग्रह सोय बुद्धि राशि शुभ गुण सदन ॥”

(२) यमक (Syllables similar in words)

जब एक ही छन्द में एक ही शब्द की ही भिन्न-भिन्न अर्थों में आवृत्ति होती है तब वहाँ यमक अलंकार होता है—

“तो पर बारों उरबसी सुनु राधिके सुजान ।

तू मोहन के उरबसी हूँ उरबसी समान ॥”

यहाँ पर ‘उरबसी’, शब्द पर यमक है। इसी प्रकार ‘विदेह’ पर यमक का उदाहरण देखिए—

“भूरत मधुर मनोहर बेखी,

भएहु विदेह विदेह विशेषी ॥”

(३) वक्रोक्ति (The Crooked Speech)—

जब श्रोता वक्ता के द्वारा कहे गए शब्दों का वक्ता के अभीप्सित अर्थ से भिन्न कोई और ही अर्थ लेता है तब वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इस प्रकार का भिन्न अर्थ या तो श्लेष के बल पर या काकु के सहारे ही व्यक्त होता है। अतः वक्रोक्ति के दो प्रधान भेद किए गए हैं—

(क) श्लेष वक्रोक्ति ।

(ख) काकु वक्रोक्ति ।

(क) श्लेष वक्रोक्ति—यह भी दो प्रकार की होती है—

(१) भंग पद

(२) अभंग पद

भंग पद का उदाहरण—

“मान तजो गहि सुमति बर पुनि पुनि होत न बेह,

सानत जोगी जोग को हम नहि करत सनेह ॥”

यहाँ पर ‘मान’, ‘तजो’, ‘गहि’—इन तीन भंग पदों को श्रोता ने मिलाकर उसका अर्थ जोगी लिया है। यही इसमें चमत्कार है।

अभंग पद श्लेष वक्रोक्ति—

“खोलो जू किवार, तुमको हो एती बार ?

हरि नाम है, हमारो बसो कानन पहार में ।

हों तो प्यारी-माधव, तो कोकिला के माथे भाग

मोहन हों प्यारी, परो मंत्र अभिचार में ।

रागी हों रंगीली, तौ जु जाहु काहु वाता पास

भोगी हों छबीली जाय बरनौ जू पतार में ।

नायक हों नागरी, तो हांको कहूँ टांड़ी जाय,
हों तो घनश्याम बरसो जो काहु खार में ।”

(ख) काकु वक्रोक्ति—

जब शब्दों के उच्चारण में कण्ठ-ध्वनि किसी अन्य अर्थ की ओर संकेत करे तब वहाँ काकु वक्रोक्ति अलंकार होता है ।

“काह न पावक जरि सके, का न समुद्र समाय ।
का न करे अबला प्रबल, केहि जग काल न खाय ॥”

(४) वीप्सा अलंकार (Repetition)

वीप्सा का अर्थ है आवृत्ति । जब किसी आकस्मिक भाव को प्रकट करने के लिए एक शब्द कई बार दोहराया जाता है तब वहाँ वीप्सा अलंकार होता है ।

उदाहरण—

“राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे ।
घोर भव नीर निधि नाम निज नाव रे ॥”

(५) पुनरुक्तिवदाभास (Similar Tanology)—

जब दो पर्यायवाची शब्द समान अर्थवाचक से प्रतीत हों किन्तु यथार्थ में अर्थ कोई दूसरा ही द्योतित करते हों, तब वहाँ पुनरुक्तिवदाभास अलंकार होता है—

“पुनि फिरि राम निकट सो आई ।
प्रभु लछिमन पहुँ बहुरि पठाई ॥”

यहाँ पुनि और फिर में आभास है । फिर का अन्वय आई के साथ किया जाना चाहिए ।

(६) पुनरुक्ति प्रकाश (Tanology)—

जब भाव को सुशोभित करने के लिए किसी एक शब्द की कई बार पुनरावृत्ति की जाती है तब वहाँ पुनरुक्ति प्रकाश नाम का अलंकार होता है—

“बनि बनि बनि बनिता चली गनि गनि गनि डग देत ।
धनि धनि धनि अंखिया सुछबि सनि सनि सनि सुख लेत ॥”

(७) चित्र (Picture)

जब कवि द्वारा छन्द योजना में ऐसे वर्णों का नियोजन किया जाता है जिनके विशेष प्रकार के विन्यास से विशेष चित्र बनाए जायें । तब उस प्रकार के काव्य में वास्तव में अलंकारत्व नहीं होता, कवि का कौशल प्रधान रहता है । इस अलंकार द्वारा कवि कमल, छत्र, चक्र, चँवर, खड्ग, दण्ड, रथ, ध्वजा, हाथी, घोड़ा, मनुष्य हंस और दर्पण आदि के चित्र बना सकता है—

“नैन बान हन बैन मन ध्यान लीन मन कोन ।
बैन बैन बिन रैन तन छिन छिन उनबिन छीन ॥”

इस दोहे में प्रत्येक दूसरा वर्ण 'न' है, इससे कमल के 'अ' दर्पण चक्र उष्टि-काक्षर चौकी आदि अनेक चित्र बन सकते हैं ।

(८) श्लेष (Paronomasia)

छन्द में जब एक ही शब्द प्रसंग-भेद में कई अर्थों की व्यंजना करता है तब वहाँ श्लेष अलंकार माना जाता है । यह श्लेष दो प्रकार का होता है—एक शब्द श्लेष, दूसरा अर्थ श्लेष । शब्द श्लेष में कवि का मुख्य तात्पर्य एक ही अर्थ से होता है । जैसे—

“रावण सिर सरोज बनचारी । चले रघुबीर शिलीमुखधारी ॥

यहाँ पर शिलीमुख मुख्यतया दो अर्थों का वाचक है—बाण और भौरा किन्तु तुलसी का अभीष्ट अर्थ बाण ही है । इसीलिए शब्द श्लेष है ।

अर्थालंकार

१. उपमा (Simile)—जब प्रत्यक्ष पृथक् प्रतीत होने वाली दो वस्तुओं में समता प्रदर्शित की जाती है तब वहाँ उपमालंकार माना जाता है । यह समता आकृति रूप, रंग और गुण की होती है । उपमा के चार अंग होते हैं—

- (१) उपमेय—जिसकी समता की जाय ।
- (२) उपमान—जिससे समता की जाय ।
- (३) धर्म—जिस हेतु समता की जाय ।
- (४) वाचक—जिसके आश्रय से समता प्रकट की जाय ।

“बन्दों कोमल कमल से जग जननी के पाँय”—यहाँ पाँय शब्द उपमेय है । कमल उपमान है । कोमल धर्म है । ‘से’ वाचक है ।

उपर्युक्त अंगों के आधार पर उपमा के दो भेद माने गए हैं—

- (क) पूर्णोपमा
- (ख) लुप्तोपमा

पूर्णोपमा—जहाँ उपमेय, उपमान, धर्म और वाचक चारों अंग प्रकट हों, वहाँ पूर्णोपमा मानी जाती है—

उदाहरण—

- (१) “राम लखन सीता सहित सोहत पर्ण निकेत ।
जिमि वासव बस अमर पुर शची जयन्त समेत ॥”
- (२) “करि कर सरिस सुभग भुजवण्डा ।”

लुप्तोपमा और उसके भेद—जहाँ उपमा का कोई अंग लुप्त होता है वहाँ लुप्तोपमा होता है । उसके निम्नलिखित दस भेद माने गए हैं—

जैसे—

(१) “नील सरोरुह श्याम,
तरुण अरुण वारिज नयन ।”

(२) “सरद मयंक वदन छवि सीता ।”

धर्मलुप्ता—

“तुम सम पुरुष, न मो सम नारी
यह संजोग विधि रचा विचारी ।”

(३) उपमान लुप्ता—

“समर धीर नहीं जाहि बखाना ।
तेहि सम नहीं प्रति भट जग आना ॥”

(४) उपमेय लुप्ता—

“चंचल हैं उयों मीन, अरुणारे पंकज सरिस ।
निरख न होय अघीन, ऐसो नर नागर कवन ॥”

(५) वाचक धर्मलुप्ता—

“विधुबदनी मृगशावक लोचनि ।”

(६) धर्मोपमेय लुप्ता—

“आज पुरन्दर सम कोउ नाही ।”

(७) धर्मोपमान लुप्ता—

“त्यों तरेछे किए मुनि संगहि हेरत संभु सरासन कर से,
त्यौ लछिराम बुह कर बान कमान सी भौहें सुब्रह्मावतार से ।
सामुहे श्री मिथिलापति के डटि ठाढ़े सही रसबीर सिंगार से,
नीलभ पंचक भाल से कौन स्वयम्बर में मृग राजकुमार से ।”

यहाँ कौन शब्द से उपमेय के लोप का संकेत किया गया है । धर्म लुप्त है ही ।
अतः ‘धर्मोपमेय लुप्ता’ उपमा हुई ।

(८) वाचकोपमेय लुप्ता—

“चढ़ो कदम पै कालिया विषधर देखो आया ।”

(९) वाचकोपमान लुप्ता—

(क) “अरुण नयन उर बाहु विशाला ॥”

(ख) “सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे ॥”

(१०) वाचकधर्म उपमान लुप्ता—

“अहै अनूप राम प्रभुताई ।

बुधि बिबेक बल तरक न जाई ।”

मालोपमा—जहाँ एक ही उपमेय के लिए बहुत से उपमानों की योजना की

जाय वहाँ मालोपमा अलंकार होता है। यह भी दो प्रकार का होता है—एक धर्मा एवं भिन्न धर्मा।

एक धर्मा—जहाँ सब उपमान एक ही धर्म के द्योतक होते हैं वहाँ एक धर्मा मालोपमा होती है।

उदाहरण —

“इन्द्र जिमि जंभ पर वाडव सुअंभ पर रावण सदम्भ पर रघुकुल राज है।
 पौन वारिवाह पर शम्भु रतिनाह पर ज्यों सहस्रबाहु पर आप द्विजराज है।
 दावा द्रुमदण्ड पर चीता मृग भुण्ड पर भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
 तेज तिमि अंस पर कान्ह जिमि कंस पर त्यों म्लेच्छ-वंस पर शेर शिवराज है।”

भिन्न धर्मा—जहाँ अनेक उपमानों के पृथक्-पृथक् धर्मों के लिए उपमा दी जाय वहाँ भिन्न धर्मा उपमा होती है। जैसे—

“बन्दों खल जस सेस सरोषा। सहस्र बदन बरनै पर दोषा ॥

पुनु प्रणवों पृथुराज समाना। पर अघ सुनै सहस्र दस काना ॥”

अलंकारिकों ने उपमा के और भी अनेक भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अतः विस्तार-भय से उन्हें यहाँ नहीं दे रहे हैं।

अनन्वय—जहाँ उपमेय अपना उपमान स्वयं ही हो, वहाँ पर अनन्वय अलंकार होता है। जैसे—

“स्वामि गुसाईहि सरिस गुसाईं। मोहि समान में स्वामि दोहाई।”

असम—उपमान का सर्वथा अभाव द्योतित करने को असम अलंकार कहते हैं। जैसे—

“छबीला साँवला सुन्दर बना है नन्द का लाला,
 वही ब्रज में नजर आया ज्यों जिस नाम की माला।
 अजाइव रंग है खुशतर नहीं ऐसा कोई भूपर,
 देउ जिसकी उसे पटतर पिये हैं प्रेम का प्याला ॥”

२. रूपक (Metaphor)—जब उपमेय का उपमान में अभेद रूप से आरोप किया जाता है तब वहाँ रूपक अलंकार होता है। इस अलंकार में वाचक धर्म उपमा के अंगों का कथन नहीं किया जाता है। इसके दो भेद माने गए हैं—

(१) तद्रूपरूपक।

(२) अभेदरूपक।

तद्रूपरूपक—जब उपमेय पर अभेद रूप से उपमान का आरोप किया जाता है तब उसे तद्रूपरूपक कहते हैं। इसमें प्रायः अपर, दूसरा, अन्य आदि शब्द वाचक होकर आते हैं। इस तद्रूपक के भी तीन भेद होते हैं—

(१) अधिक तद्रूप।

(२) हीन तद्रूप।

(३) सम तद्रूप।

अधिक तद्रूप—जहाँ उपमेय में उपमान का आरोप इस प्रकार किया जाय जिससे उपमान उपमेय की अपेक्षा अधिक गुण वाला व्यंजित हो—

“मुल्ल शशि वा शशि ते अधिक ।

उदित ज्योति दिन राति ॥”

हीन तद्रूप रूपक—उपमेय में उपमान से कुछ हीन गुणों की व्यंजना होने पर यह अलंकार होता है—

“बुई भुज के हरि रघुवर सुन्दर वेश ।

एक जीभ के लछिमन ब्रूसर सेस ॥”

सम तद्रूप रूपक—इसके भी तीन भेद माने गए हैं—

(१) सावयव या साङ्ग ।

(२) निरवयव या निरङ्ग ।

(३) परम्परित रूपक ।

सावयव—जब उपमेय में उपमान का आरोप अवयवों के सहित किया जाता है तब सावयव सम तद्रूप रूपक अलंकार होता है । जैसे—

“रनित भृङ्ग घंटावली भरित दान मधु नीर ।

मंद मंद आवत चत्पयो कुञ्जर कुञ्ज समीर ॥”

यहाँ समीर की सामग्री भृङ्ग और मकरन्द में हाथी के घंटे का आरोप किया गया है ।

निरवयवरूपक अलंकार

जब उपमान का उपमेय पर अवयव सहित आरोप नहीं किया जाता है तब निरवयव रूपक होता है—

(१) शुद्ध—एक उपमेय से एक उपमान का ।

(२) मालारूप—एक उपमेय में अनेक उपमानों का अवयवरहित आरोप ।

शुद्ध का उदाहरण—

“अनुराग के रंगिन रूप तरंगन अंगनि ओप मनो उफनी,

कहि ‘देव’ हियो सियरानी सब सियरानी को देखि सुहाग सनी ।

बर धामन बाम चढ़ी बरसैं मुसुकानि सुधा घनसार घनी,

सखियान के आनन-हनुन तैं अँलियानि की बंदनि बारि तनी ॥”

माला रूपक का उदाहरण—

“विधि के कमण्डलु की सिद्धि है प्रसिद्ध यही, हरि पद पंकज प्रताप की लहर है, कहे ‘पद्माकर’ गिरीश सीस मंडल के मुँडन की माला तत्काल अघहर है । भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ, जह जप जोग फल फल की फहर है, क्रोम की छहर गंग ! रावरी लहर कलिकाल को कहर जम जाल को जहर है ॥”

परम्परित रूपक—जब कवि एक आरोप को दूसरे आरोप का कारण बनाता जाता है तब वहाँ परम्परित रूपक होता है। जैसे—

“सखि नील नभस्सर से उतरा यह बेस अहा तिरता तिरता,
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता धरता,
गड़ जाय न कंटक भूतल के कर डाल रहा डरता डरता ॥”

महाकवि ने प्रातःकाल का वर्णन किया। यहाँ हंस (सूर्य) में हँस (पक्षी) का जो आरोप किया गया है वह परवर्ती आरोपों का कारण भूत है। क्योंकि सूर्य को हंस कहने पर ही नभ को सरोवर, तारागणों को मोती और किरणों में हाथ का आरोप हो सका है।

अभेद रूपक—उपमेय और उपमान का अभेद सूचित करने वाला रूपक अभेद रूपक कहलाता है। इसके भी तीन भेद होते हैं—

(१) अधिक अभेद।

(२) हीन अभेद।

(३) सम अभेद।

अधिक अभेद—जहाँ उपमेय में उपमान से कुछ हीनता व्यञ्जित करके भी रूपक की योजना की जाय। जैसे—

“नव विधु विमल तात यश तोरा। रघुवर किकर कुमुद चकोरा ॥
उदित सदा अथहहि कबहुँ ना। घटहि न जग नभ दिन दिन दूना ॥”

हीन अभेद रूपक—जब कवि उपमेय को उपमान से हेय बतलाकर भी रूपक की योजना करता है वहाँ हीन अभेद रूपक होता है—

“हे राधे तू उर बसी धरे मानुषी देह।”

सम अभेद रूपक—उपमेय और उपमान के पूर्ण साम्य स्थापन को सम अभेद रूपक कहते हैं। यथा—

“नारि कुमुदनी अवध सर रघुवर विरह दिनेश।
अस्त भए विकसित भई निरखि राम राकेश ॥
सम्पति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पीजरा राखे भा भिनसार ॥”

परम्परित रूपक—यह रूपक वहाँ होता है जहाँ मुख्य रूपक एक दूसरे रूपक पर जो छन्द में अन्तर्निहित रहता है। जैसे—

“सुनिय तासु गुण ग्राम जासु नाम अघ खग बधिक”

यहाँ पर राम नाम पर बधिक का आरोप इसलिए किया गया है कि अघ का आरोप खग पर किया जा चुका है।

परम्परित रूपक कभी-कभी श्लेष से भी अनुप्राणित रहता है। जैसे—

“शंकर मानस राज मराला।”

यहाँ मानस में श्लेष मानने पर ही रूपक का चमत्कार प्रगट होगा अन्यथा नहीं। इसीलिए श्लिष्ट परम्परित रूपक है।

उपमेयोपमा—जब उपमेय के लिए केवल एक ही उपमान उपयुक्त लगे और संसार में उपमान और उपमेय के सदृश किसी अन्य तीसरी वस्तु का अभाव प्रकट हो वहाँ पर उपमेयोपमा अलंकार होता है। जैसे—

(१) “सुधा संत के बैन सम, बैन सुधा समजान।

बैन खलन के विषहि से विष खल-बैन समान ॥”

(२) “वे तुम सम तुम उन सम स्वामी।”

उदाहरण अलंकार—जहाँ किसी साधारण रूप से कही हुई बात को ज्यों, जैसे इत्यादि वाचक शब्दों द्वारा किसी विशेष बात से समता दिखलाई जाती है, वहाँ उदाहरण अलंकार होता है। जैसे—

“जगत जनायो जेहि सकल सो हरि जान्यो नाय।

उयों आखिन सब देखिए आखिन न देखी जाय ॥”

३. **दृष्टान्त**—उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का जहाँ बिब प्रतिबिब भाव दर्शित किया जाए और वाचक शब्द व्यक्त न हो, वहाँ दृष्टान्तालंकार होता है। जैसे—

“भरतहि होइ कि राजमद विधि हरिहर पद पाइ।

कबहुँ कि काँजी सीकरनि क्षीर सिन्धु बिनसाइ ॥”

दृष्टान्त और उदाहरण अलंकार का अन्तर

ये दोनों ही अलंकार एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। दृष्टान्त अलंकार में कवि उपमान वाक्य पर विशेष बल देता है। और उदाहरण अलंकार में कवि का लक्ष्य उपमेय वाक्य पर होता है। यही दोनों में मौलिक अन्तर है। कन्हैयालाल पोद्दार ने काव्यकल्पद्रुम भाग २ में इन दोनों अलंकारों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—“दृष्टान्त अलंकार में उपमेय और उपमान का बिब-प्रतिबिब भाव होता है। ‘इव’ आदि उपमा वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। किन्तु उदाहरण अलंकार में सामान्य अर्थ को समझने के लिए उसका एक अंश दिखाया जाता है। प्रायः साहित्याचार्यों ने इवादि का प्रयोग होने के कारण उदाहरण अलंकार को उपमा का एक भेद माना है। पंडितराज के मतानुसार यह भिन्न अलंकार है। उनका कहना है कि उदाहरण अलंकार में सामान्य-विशेष्य-भाव रहता है—उपमा में यह बात नहीं। और सामान्य-विशेष्य-भाव वाले ‘अर्थान्तरन्यास’ में ‘इव’ आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता और ‘उदाहरण’ में ‘इव’ आदि शब्दों का प्रयोग होता है। इसलिए उदाहरण को भिन्न अलंकार मानना ही युक्तिसंगत है।”

अर्थान्तरन्यास अलंकार—जब किसी साधर्म्य या वैधर्म्य प्रदर्शित करने के लिए सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है तब वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

साधारण का विशेष से समर्थन—

“कारण ते कारज कठिन होय बोध नहीं मोर ।

कुलिश, अस्थिते, उपल ते, लोह कराल कठोर ॥”

इस दोहे में पूर्वाद्ध की सामान्य बात का उत्तराद्ध की विशेष बात से समर्थन किया गया है ।

दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास का अन्तर—दृष्टान्त में दो सम वाक्यों में बिब-प्रतिबिम्ब भाव प्रदर्शित किया जाता है और अर्थान्तरन्यास में एक वाक्य का समर्थन दूसरे वाक्य भाग से किया जाता है । दृष्टान्त में सामान्य का समर्थन सामान्य से और विशेष का समर्थन विशेष से ही होता है । किन्तु अर्थान्तरन्यास इसके विपरीत होता है । इसमें सामर्थ्य और समर्थक वाक्य में एक सामान्य और दूसरा विशेष होता है ।

४. **प्रतिवस्तूपमा—**जहाँ उपमेय और उपमान के दो पृथक्-पृथक् वाक्यों में दो भिन्न शब्दों द्वारा एक ही समान धर्म का कथन किया जाता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है । जैसे—

“सोहत भानु प्रताप सों, लसत सूर धनुवान ।”

यहाँ पर ‘लसत सूर धनुवान’ उपमेय वाक्य है । ‘सोहत भानुप्रताप सों’ उपमान वाक्य है । शोभित होना दोनों वाक्यों का एक धर्म है जिसका कथन उपमेय में ‘लसत’ शब्द से किया गया है और उपमान वाक्य में ‘सोहत’ शब्द से किया गया है । एक दूसरा उदाहरण देखिए—

“तिनिहि सुहात न अवध बधावा ।

चोरहि चाँदनी रात न भावा ॥”

इसमें पहला वाक्य उपमेय रूप है और दूसरा वाक्य उपमान रूप है । दोनों के समान धर्म का कथन सुहात और न भावा इन पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा किया गया है ।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में अन्तर—दृष्टान्त अलंकार में उपमेय, उपमान और समानधर्म इन तीनों का बिब-प्रतिबिम्ब भाव प्रकट किया जाता है । इसमें उपमा-वाचक शब्द प्रकट नहीं रहता है । प्रतिवस्तूपमा में एक ही समान धर्म भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है ।

५. **तुल्ययोगिता अलंकार—**जहाँ किसी क्रिया द्वारा अथवा गुण द्वारा कई एक व्यक्तियों का एक ही धर्म प्रदर्शित किया जाता है वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार होता है । यह अलंकार चार प्रकार का होता है—

प्रथम तुल्ययोगिता—अनेक उपमेयों में एक धर्म के कथन करने को प्रथम तुल्ययोगिता कहते हैं । जैसे—

“गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं ।

मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं ॥”

यहाँ पर गुरु, रघुपति और मुनि इन तीनों उपमेयों में प्रसन्न होने के एक ही

धर्म का कथन किया गया है ।

द्वितीय तुल्ययोगिता—जब अनेक उपमानों का एक ही धर्म द्वारा कथन किया जाता है तब वहाँ द्वितीय तुल्ययोगिता मानी जाती है । जैसे—

“शिवसरजा भावी भुजन भुवश्चर धर्यो सभाग ।

भूषण अब निहृचित है शेषनाग दिगनाग ॥”

तीसरी तुल्ययोगिता—इस कोटि की तुल्ययोगिता में एक को बहुतों की समता दी जाती है । जैसे—

“कामधेनु कामतरु चिन्तामणि मन मानि ।

चौथो तेरो सुजसहू है मनसा के दान ॥”

इस उदाहरण में किसी राजा के यश की कामधेनु, कामतरु और चिन्तामणि से समता की गई है । तुल्ययोगिता का यह भेद उल्लेख अलंकार के द्वितीय प्रकार से बहुत मिलता-जुलता है । दोनों में अन्तर यह है कि उल्लेख में एक वस्तु का बहुत प्रकार से वर्णन किया जाता है । उसमें केवल गुण वर्णन का ही भाव रहता है और तुल्य-योगिता में समता कथन का भाव रहता है ।

चौथी तुल्ययोगिता—जहाँ पर हित और अनहित दोनों में एक ही धर्म का कथन किया जाता है वहाँ चौथे प्रकार की तुल्ययोगिता मानी गई है । जैसे—

“बंदों संत समान चित्त हित अनहित नहीं कोइ ।

अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ ॥”

६. दीपक अलंकार—जहाँ उपमेय और उपमान दोनों का एक ही धर्म दिखाया जाता है, वहाँ दीपक अलंकार होता है । जैसे—

(१) “सोहति भूपति दान सों फल फूलत आराम ।”

(२) “संग ते जती, कुमंत्र ते राजा ।

मान ते ज्ञान, पान ते लाजा ॥

प्रीत प्रणय बिनु मद के गुणी ।

नाशहि वेग नीति अस सुनो ॥”

पहले उदाहरण में भूपति प्रस्तुत है और आराम अप्रस्तुत है । सोहति शब्द से दोनों का एक ही धर्म वर्णित किया गया है । किन्तु दोनों के शोभित होने के कारण भिन्न-भिन्न हैं । इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में राजा प्रस्तुत है और सब अप्रस्तुत हैं ‘नाश’ क्रिया से सबका एक धर्म कहा गया है ।

दीपक और तुल्ययोगिता का अन्तर—आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में जिन चार अलंकारों का उल्लेख किया है उनमें से दीपक भी एक है । इससे दीपक का महत्त्व प्रकट है । दीपक में उपमेय और उपमान के धर्म का समान रूप से कथन किया जाता है । किन्तु तुल्ययोगिता में केवल उपमेयों अथवा उपमानों के ही साधर्म्य का कथन किया जाता है । यही दोनों में अन्तर है ।

कारक दीपक अलंकार—जब बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक का प्रयोग किया जाये तब वहाँ कारक दीपक अलंकार होता है।

“कहत, नटत, रीभूत, खिभूत, हिलत, मिलत, लजियात।

भरे भौन में करतु है नैनन ही सों बात ॥”

माला दीपक—पहले कही हुई वस्तुओं से जब आगे कही जाने वाली वस्तुओं का समान धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तब माला दीपक अलंकार होता है। जैसे—

“रस सों काव्य अरु काव्य सों सोहत वचन महान।

बचनन सों जन रसिक अरु तिनसों सभा सुजान ॥”

आवृत्ति दीपक—जब एक ही क्रिया द्वारा अनेक पद, अर्थ और पद अर्थ प्रकाशित किए जाते हैं तब वहाँ आवृत्ति दीपक अलंकार होता है। इसके तीन भेद होते हैं—

पदावृत्ति, अर्थावृत्ति और पदार्थावृत्ति।

पदावृत्ति—जहाँ भिन्न-भिन्न अर्थ वाले एक ही क्रियात्मक पद की आवृत्ति की जाए। जैसे—

“घन बरसैं हैं री सखी निशि बरसैं है देख।”

यह उक्ति एक वियोगिनी की है। वह वर्षा ऋतु की रात्रियों का वर्णन कर रही है। वह कहती है कि वर्षा ऋतु की रात वर्ष के सदृश बड़ी होती है। इस उदाहरण में ‘बरसैं हैं’ क्रियात्मक पद भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं।

अर्थावृत्ति दीपक—इसमें एक ही अर्थ वाले भिन्न-भिन्न शब्दों की आवृत्ति की गई है।

“कूजहिं कोकिल गुंजें भौरा।”

यहाँ कूजहिं, और गुंजें इन दो एकार्थक भिन्न-भिन्न शब्दों की आवृत्ति की गई है।

पदार्थावृत्ति दीपक—जब ऐसे पद की आवृत्ति की जाए जिसमें वही शब्द और वही अर्थ हो वहाँ पदार्थावृत्ति दीपक होता है। जैसे—

“भले भलाई पै लहैं लहहिं निचाइहि नीच।

सुधा सराइह अमरता गरल सराइह मीच।”

यहाँ पर लहैं और सराइहि पद की आवृत्ति इस प्रकार हुई है कि न तो उनका शब्दरूप ही बदला है और न अर्थ ही।

देहरी दीपक—जब कोई एक पद प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों वाक्यों की सार्थकता प्रकट करता है तब वहाँ देहरी दीपक होता है। जैसे—

“ह्वं नरसिंह महामनुजाव हन्यो प्रह्लाद को संकट भारी।

दास विभीषन लंकवई निज रंक सुदामा को संपति भारी ॥

द्रोपदी चीर बढ़ायो जहान में पांडव के जस की उजियारी।

गर्विन के खनि गर्व बहावत दीनन के बुख श्री गिरधारी ॥”

इस सर्वे में दई, बढ़ायो, और बहावत शब्द दोनों ही पक्षों में सार्थक लगते हैं। इसीलिए यहाँ देहरी दीपक अलंकार माना गया है।

७. अपह्नुति अलंकार—उपमेय का निषेध करके उपमान का स्थापन करना अपह्नुति अलंकार कहलाता है। इसके प्रमुख छः भेद माने गए हैं—

१—शुद्धापह्नुति ।

२—हेत्वापह्नुति ।

३—पर्यस्तापह्नुति ।

४—भ्रान्त्यापह्नुति ।

५—छेकापह्नुति ।

६—कंतवापह्नुति ।

शुद्धापह्नुति—उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना करना ही शुद्धापह्नुति है।

“मैं जु कहा रघुबीर कृपाला । बंधु न होय मोर यह काला ॥”

हेत्वापह्नुति—जब उपमेय के निषेध का कारण दिखाकर उपमान का प्रस्थापन किया जाता है तब वहाँ हेत्वापह्नुति होती है। जैसे—

“रात माँझ रवि होत नहीं शशि नहीं तीव्र सुलाग ।

उठी लखन अवलोकिए वारिधि सो बड़वाग ।”

यहाँ पर रामचन्द्रजी ने चन्द्रमा का जो कि उपमेय है सकारण निषेध करके वारिधि की बड़वागि का स्थापन किया है।

पर्यस्तापह्नुति—जब किसी वस्तु के सच्चे धर्म का निषेध किसी दूसरी वस्तु में आरोपित करने के लिए किया जाए वहाँ पर्यस्तापह्नुति समझनी चाहिए। जैसे—

“नहीं शक्र सुरपति अहै, सुरपति नंदकुमार ।

रत्नाकर सागर नहै मथुरा नगर बजार ॥”

यहाँ पर शक्र में ‘सुरपति’ का निषेध करके नंदकुमार में उसकी स्थापना की गई है।

भ्रान्त्यापह्नुति—सत्य बात का कथन करके किसी की भ्रांति का निराकरण करना भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार कहलाता है। जैसे विद्यापति का यह पद देखिए—

“हर नहीं बला मोहि जुबति जना ।”

छेकापह्नुति—यह अलंकार भ्रान्त्यापह्नुति के बिल्कुल विपरीत होता है। उसमें सत्य का कथन करके भ्रांति का निराकरण किया जाता है और इसमें सत्य का गोपन करके असत्य का प्रस्थापन किया जाता है। जैसे—

“कछु न परिछा लीन्ह गुसाईं ।

कीन्ह प्रणाम तुम्हारी नाई ॥”

यहाँ पर परीक्षा लेने वाली सत्य बात का गोपन और न परीक्षा लेने वाली असत्य बात का प्रस्थापन किया गया है।

कंतवापह्नुति—जब मिस व्याज इत्यादि शब्दों के सहारे किसी एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का कथन किया जाता है तब वहाँ कंतवापह्नुति होती है। जैसे—

“लालिमा श्री तरवानि के तेज में शारदा लों सुखमा की निसेनी।

नूपुर नलमनीन जड़े जमुना जगे जौहर में सुख देनी ॥

यों लछिराम घटा नख नील तरंगिनी गंग प्रभा फल पैनी।

मंथिली के चरणाम्बुज व्याज लसै मिथिला मग मंजु त्रिवेनी ॥”

द. निदर्शना अलंकार—जहाँ दो वाक्यों के अर्थ में अन्तर होते हुए भी समता भाव का सूचक ऐसा आरोप किया जाय कि दोनों एक-वे प्रतीत होने लगें, तब वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।

निदर्शना के पाँच भेद प्रसिद्ध हैं, वे क्रमशः ये हैं—

प्रथम निदर्शना—जहाँ असम वाक्यों में जो, सो, वे, ते आदि पदों के सहारे सामंजस्य स्थापित किया जाता है वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। जैसे—

“जो अति सुभट सरायहु रावन।

सो सुग्रीव करे लघु धावन ॥”

द्वितीय निदर्शना—जब उपमान के गुणों की स्थापना उपमेय में की जाती है तब वह द्वितीय निदर्शना अलंकार होता है। जैसे—

“अस कहि फिर चितए तेहि श्रीरा।

सिय मुख शशि भए नयन चकोरा ॥”

तृतीय निदर्शना—जब उपमेय के गुणों की स्थापना उपमान के अंग में की जाती है तब वहाँ तृतीय निदर्शना होती है।

“तुव वचनन की मधुरता रही सुधामह छाय।

चार चमक चल नयन की भीनन लई छिनाय ॥”

चौथी निदर्शना—जहाँ पर कोई अपने सव्यवहार से दूसरों के लिए शिक्षा देता है वहाँ चौथी निदर्शना होती है। जैसे—

“उदय होत ही जगत को हरत तपनि दुख बंड।

सबहीं को सुख दीजिए बड़े बतावत चंद ॥”

पाँचवीं निदर्शना—जब कोई अपनी असत क्रिया से असत अर्थ की व्यञ्जना करता है, वहाँ पाँचवीं निदर्शना होती है—

खोवत प्रान अजानु जे करत क्रूर को संग।

यही सिखावत छोड़ि तन दीपक शिखा पतंग ॥”

६. उत्प्रेक्षा—जब प्रस्तुत की अप्रस्तुत रूप में संभावना की जाती है तब उसे उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं। मनु, जनु, मानो, जानो, निश्चय, प्रायः, बहुधा, इव, खलु, आदि शब्द इस अलंकार के वाचक होते हैं। जैसे—

“लता भवन ते प्रकट भए तेहि अवसर दो भाई ।

निकसे जनु युग विमल बिधु जलद पलट विलगाय ॥”

उत्प्रेक्षा के चार भेद माने गए हैं—

वस्तुत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, क्रियोत्प्रेक्षा ।

वस्तुत्प्रेक्षा—किसी वस्तु के अनुरूप बलपूर्वक किसी उपमान की कल्पना करने को वस्तुत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं। वस्तुत्प्रेक्षा के भी दो भेद हैं—

उक्तविषया और अनुक्तविषया ।

उक्तविषया—इस प्रकार की वस्तुत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा के विषय का पहले कथन कर दिया जाता है। बाद में उत्प्रेक्षाएँ की जाती हैं। जैसे—

“सखि सोहत गोपाल के उर गुंजन की माल ।

बाहर लसत मनो पिए दावानल की ज्वाल ॥”

यहाँ पर उत्प्रेक्षा के विषय गुंजन की माला का वर्णन पहले किया गया है और उत्प्रेक्षा बाद में दी गई है।

अनुक्तविषया—जब उत्प्रेक्षा के विषय के कथन के बिना ही उत्प्रेक्षा की जाए तब उसे अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा कहते हैं। जैसे—

“अंजन बरसत गगन यह मानों अथये वान ।”

यहाँ सूर्यास्त के पश्चात् अंधकार का फैलना, इस उत्प्रेक्षा के विषय का कथन नहीं किया गया है किंतु उत्प्रेक्षा की गई है। मानो गगन सूर्यास्त के पश्चात् काजल की वर्षा करता हो।

हेतुत्प्रेक्षा—जब अहेतु को हेतु मानकर उत्प्रेक्षा की जाती है तब वहाँ हेतुत्प्रेक्षा होती है। यह हेतुत्प्रेक्षा भी दो प्रकार की होती है।

१—सिद्धास्पद—जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध हो।

२—असिद्धास्पद—जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार असिद्ध हो अर्थात् (असम्भव) हो। सिद्धास्पद का उदाहरण—

“मनो कठिन आंगन चली ताते राते पाँव ।”

यहाँ पर आंगन में चलना सिद्ध आधार है। इसलिए यहाँ पर सिद्धास्पद हेतुत्प्रेक्षा है।

असिद्धास्पद का उदाहरण—

“भुजनि भुजंग सरोज नयननि बदन बिधु जीत्यऊ लरनि ।

बसे कुहरन सलिलनभ उपमा अपर दुरी डरन ॥”

यहाँ पर राम की भुजाओं से पराजित होकर सर्प बिलों में, नेत्रों से पराजित कमल पानी में, और मुख से पराजित होकर चन्द्रमा आकाश में स्थित है। इस उक्ति

में उपमानों का हार जाना असिद्ध आधार है।

फलोत्प्रेक्षा—अफल में फल की उत्कट कल्पना को फलोत्प्रेक्षा कहते हैं। इसके भी सिद्धास्पद और असिद्धास्पद दो भेद होते हैं।

सिद्धास्पद में उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध या सम्भव होता है।

असिद्धास्पद में उत्प्रेक्षा का आधार असिद्ध या असम्भव होता है।

सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण—

“मधुप निकारन के लिए मानो रुके निहार।

दिनकर निजकर देत है सतबलनि उधारि ॥”

यहाँ पर सूर्योदय से कमल का खिलना सिद्ध आधार है किन्तु कवि ने नए फल की कल्पना की है। भौरों का कमल के मुकुल से छूटना यह अफल है, उसे ही फल कल्पित किया गया है। इसलिए यहाँ फलोत्प्रेक्षा है।

असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण—

“तो पद समता को कमल जल सेवत एक पाँय।”

कमल स्वभाव से ही जल में रहता है। वह राधिका के चरणों की समता रूपी फल की प्राप्ति के हेतु नहीं रहता है। जड़ कमल में समता की इच्छा का प्रदर्शन असिद्ध आधार है, इसीलिए यहाँ पर असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा मानी गई है।

१०. **अतिशयोक्ति अलंकार**—लोक-मर्यादा का उल्लंघन करने वाली अति-रंजनापूर्ण उक्ति को अतिशयोक्ति कहते हैं। जैसे—

“जो सुख भा सिय मातु मन देखि राम नर भेष।

सो न सकहि कहि कल्पसत सहस शारदा, शेष ॥”

अतिशयोक्ति अलंकार के छः भेद होते हैं।

१. भेदकातिशयोक्ति
२. संबंधातिशयोक्ति
३. चपलातिशयोक्ति
४. अक्रमातिशयोक्ति
५. रूपकातिशयोक्ति
६. अत्यन्तातिशयोक्ति

भेदकातिशयोक्ति—जब अनिर्वचनीयता का भाव व्यंजित करने वाले ‘और’ आदि शब्द का प्रयोग करके कवि किसी बात का वर्णन करता है वहाँ भेदकातिशयोक्ति अलंकार होता है। जैसे—

“अनियारे दोरघ दुगनि कितो न तरुणि समान।

वह बितबनि औरं कछु जेहि बस होत सुजान ॥”

संबंधातिशयोक्ति—जहाँ योग्य में अयोग्यता और अयोग्य में योग्यता प्रकट करके प्रस्तुत का अतिरंजनपूर्ण वर्णन किया जाता है वहाँ संबंधातिशयोक्ति होती है।

जैसे—

“अति सुन्दर लखि मुख सिय तेरो । आदर हम न करत शशि केरो ॥”

यहाँ पर शशि को मुख की अतिशय सुन्दरता व्यंजित करने के लिए अनादृत किया गया है । इसीलिए यहाँ संबंधातिशयोक्ति है ।

चपलातिशयोक्ति—जहाँ पर कारण के ज्ञान मात्र से कार्य का होना बताया जाय वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है । जैसे —

“जाऊँ कै जाऊँ न’ यह सुनतहि पिय मुख बात ।

ढरकि परे कर से बल्य सुख गये तिय-गात ॥”

अक्रमातिशयोक्ति—जहाँ पर कारण और कार्य का एक साथ होना कहा जाता है वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है । जैसे—

“संधान्यो प्रभु विशिख कराला । उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ॥”

रूपकातिशयोक्ति—जहाँ पर केवल उपमानों के सहारे उपमेयों का कथन किया जाता है वहाँ पर रूपकातिशयोक्ति होती है । जैसे—

“कनकलता पर चन्द्रमा धरें धनुष द्वै बाण ।”

यहाँ पर कनकलता से सुन्दरी, और चन्द्रमा से मुख, धनुष से भौहें, और बाण से कटाक्षों का कथन किया गया है । एक दूसरा सुन्दर उदाहरण इस प्रकार है—

“राम सीय सिर सिंदुर देही । उपमा कहि न जात कवि केही ॥

अरुण पराग जलज भरि नीके । शशिहि भूष अहि लोभ अमी के ॥”

अत्यन्तातिशयोक्ति—जहाँ कारण से पहले ही कार्य का होना कहा जाता है वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार होता है । जैसे—

“हनुमान की पूँछ में, लगन न पाई आग ।

लंका सिगरी जल गई, गए निशाचर भाग ॥”

११. उल्लेख अलंकार—जब किसी कारण से एक ही व्यक्ति का विविध प्रकार से वर्णन किया जाता है तब उसे उल्लेख अलंकार कहते हैं । इस अलंकार के दो पक्ष होते हैं—पहला, जब एक ही व्यक्ति को बहुत से भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप में देखें और वर्णन करें ।

दूसरा, एक ही व्यक्ति का एक ही व्यक्ति विविध प्रकार से वर्णन करे । दोनों के क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं ।

(१) “जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

देखाहि भूप महा रणधीरा । मनहु वीर रस धरे शरीरा ॥

डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी । मनहु भयानक मूरति भारी ॥—इत्यादि

(२) “साधुन को सुखबानि है दुर्जन गन दुःख बानि ।

बैरिन विक्रम हानिप्रद राम तिहारे पानि ॥”

१२. स्मरण अलंकार—किसी समान वस्तु को देखकर पहले देखी गई वस्तु के स्मरण को स्मरण अलंकार कहते हैं। जैसे—

“सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।

मन ह्वं जात अजहं वहै, वा जमुना के तीर ॥”

१३. संदेह अलंकार—जहाँ पर प्रस्तुत का वर्णन इस प्रकार किया जाय कि तथ्य और अतथ्य का निश्चय न किया जा सके वहाँ संदेहालंकार होता है। जैसे—

“की तुम हरिदासन में कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई ॥

की तुम राम दीन अनुरागी। आयऊ मोहि करन बड़भागी ॥”

१४. भ्रांति अलंकार—जब भ्रांति से किसी वस्तु को कोई मिलती-जुलती दूसरी वस्तु समझ लिया जाय, तो वहाँ पर भ्रांति अलंकार होता है। जैसे—

“कपि कर हृदय विचार, दीन्ह मुद्रिका डारि तब।

जानि अशोक अंगार, सीय हरषि उठ करि गह्यो ॥”

यहाँ पर सीता जी ने भ्रम से स्वर्ण-मुद्रिका को अंगार समझ लिया है। इसी-लिए यहाँ भ्रांतिमान अलंकार है।

१५. प्रतीप—यह अलंकार उपमा का उल्टा होता है। उपमा में उपमेय की अपेक्षा उपमान की श्रेष्ठता व्यंजित की जाती है। प्रतीप में इसके विपरीत उपमान की अपेक्षा उपमेय की उत्कृष्टता व्यंजित की जाती है। जैसे—

“सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक ।”

यह पाँच प्रकार का होता है—

प्रथम प्रतीप—इसमें उपमान को उपमेय रूप कल्पित किया जाता है। जैसे—

“दूग के सम नील सरोरुह थे उनको जल राशि डुबा दिया हा।

तब आनन तुल्य प्रिये शशि को अभेद्य घटा में छिपा दिया हा ॥

गति की समता करते कलहंस उन्हें अति दूर बसा दिया हा।

विधि ने सबही तब अङ्ग समान सुदृश्य अवृश्य बना दिया हा ॥

इसमें सरोरुह आदि प्रसिद्ध उपमानों की नेत्र आदि उपमेय के रूप में कल्पना की गई है।

दूसरा प्रतीप—जहाँ प्रसिद्ध उपमान की उपमेय रूप से कल्पना करके उपमेय से उपमान को कुछ बढ़कर व्यञ्जित किया जाता है वहाँ दूसरा अलंकार होता है। जैसे—

“का घूँघट मुख मुर्वो अबला नारि।

चन्द सरग पं सोहति यही अनुहार ॥”

तीसरा प्रतीप—जहाँ उपमेय की अपेक्षा उपमान में कुछ लघुता प्रकट की जाती है वहाँ तीसरा प्रतीप होता है। जैसे—

“कुलसहि चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि ।
चित्त खगेश रघुनाथ कर समुभि परं कहु काहि ॥”

चतुर्थ प्रतीप—जहाँ पर उपमान उपमेय की तुलना में असमर्थ दिखलाया जाय । जैसे—

“बहुरि विचार कोन्ह मन माहीं । सीय बदन सम हिमकर नाहीं ॥”

पाँचवाँ प्रतीप—इसमें उपमान को उपमेय की तुलना में व्यर्थ कहा जाता है । जैसे—

“सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो रंक ।”

१६. व्यतिरेक अलंकार—जहाँ पर उपमान की अपेक्षा उपमेय में सकारण कुछ उत्कृष्टता व्यञ्जित की जाय, वहाँ यह अलंकार होना है । जैसे—

“का सरवरि तेहि देहि मयंकू । चाँद कलंकी वह निकलंकू ।
चाँदहि पुनि सो राहू गरासा । वह नित चाँद सदा परगासा ॥”

यहाँ पर उपमान में ही हीनता दिखाई गई है । यह व्यतिरेक का एक पक्ष है । कहीं-कहीं उपमेय में उपमान की अपेक्षा अधिक गुणों का उल्लेख किया जाता है । जैसे—

“सन्त-हृदय नवनीत समाना । कहा कविन पं कहत न जाना ।
निज परिताप ब्रवै नवनीता । पर-दुख ब्रवै सु सन्त पुनीता ॥”

प्रतीप और व्यतिरेक दोनों ही अलंकार बहुत मिलते-जुलते हैं । पर दोनों में अन्तर होता है । प्रतीप में केवल उपमान की हेयता मात्र व्यञ्जित की जाती है किन्तु व्यतिरेक में उपमेय की उत्कृष्टता अथवा उपमान की हेयता के कारण की व्यञ्जना भी मिलती है । यही दोनों में स्थूल अन्तर है ।

१७. तद्गुण अलंकार—जहाँ पर उपमेय उपमान के रंग में परिणत हो जाता है वहाँ तद्गुण अलंकार होता है । जैसे—

“अधर धरत हरि के परत, ओंठ दीठ पट ज्योति ।
हरित बांस की बांसुरी, इन्द्रधनुष रंग होति ॥”

अतद्गुण अलंकार—यह अलंकार तद्गुण का उल्टा होता है । दूसरे के साथ रहने पर भी वस्तु का रंग तद्गुण नहीं होता । इस स्थिति में अतद्गुण अलंकार माना जाता है । जैसे—

“केस मुकुत सखि मरकत मणिमय होत ।
हाथ लेत पुनि मुकता करत उबोत ॥”

१८. मीलित अलंकार—जब समान रंग वाली दो वस्तुओं को एक साथ रखने पर उनका पारस्परिक भेद मिट जाता है तब वहाँ मीलित अलंकार होता है । जैसे—

“पान पीक अधरान में सखी सखी नहि जाय ।
कजरारी झेलियन में कजरारी न लजाय ॥”

१९. उन्मीलित अलंकार—जब दो समान रंग वाली वस्तुओं के भेद को किसी हेतु द्वारा व्यञ्जित किया जाय तब वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है। जैसे—

“चम्पक हरवा अङ्ग मिलि अधिक सुहाय ।

जानि परं सीय हियरे जब कुम्हलाय ॥”

२०. कारणमाला—जब कारण और कार्य की इस प्रकार शृङ्खला बन जाय कि एक का कारण दूसरा और दूसरे का कारण तीसरा प्रकट होता जाय वहाँ कारण-माला अलंकार होता है। जैसे—

“सतसंग ते बैराग है, ताते मन सन्तोष ।

संतोषहि ते ज्ञान है, होत ज्ञान से मोष ॥”

२१. एकावली अलंकार—इस अलंकार में पहले कहे गये पदार्थ के साथ बाद में आने वाले पदार्थ का कई बार स्थापन अथवा निषेध किया जाता है। जैसे—

“सो नहीं सर जँह सरसिज नाहीं ।

सरसिज नहीं जेहि अलि न लुभाहीं ॥

अलि नहीं जो कल गुंजन हीना ।

गुंजन नहीं जो मन न हर लीना ॥”

२२. काव्यलिङ्ग अलंकार—जब किसी कथन का समर्थन ज्ञापक हेतु द्वारा किया जाता है तब वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है। जैसे—

“कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय ।

वा खाये बौराय है या पाये बौराय ॥”

यहाँ पर कवि ने अपने इस कथन का कि सोने में धतूरे की अपेक्षा सौगुनी मादकता होती है समर्थन ‘वा खाए बौराय है या पाए बौराय’ इस ज्ञापक हेतु के द्वारा किया है।

२३. असंगति अलंकार—जहाँ पर कारण तो कहीं और हो और उसका कार्य या फल किसी दूसरे स्थल पर दिखाया जाय वहाँ असंगति अलंकार होता है। जैसे—

“दृग उरभूत दूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित प्रीति ।

परत गाँठ दुर्जन हिये बई नई यह रीति ॥”

यहाँ पर उलझने का कारण दृग हैं और उलझने का कार्यरूप दूटना कुटुम्ब से दिखलाया गया है। इसी प्रकार गाँठ तो दुर्जन के हृदय में पड़ती है, और जुड़ते दो प्रेमियों के हृदय हैं। इस असंगति के कारण ही यहाँ असंगति अलंकार होता है।

२४. परिकर अलंकार—जहाँ पर साभिप्राय विशेषणों का कथन किया जाता है वहाँ परिकर अलंकार होता है। जैसे—

“जानो न नेकु व्यथा पर की बलिहारी तहपे सुजान कहावत ।”

२५. परिकराङ्कुर अलङ्कार—जहाँ पर साभिप्राय विशेष्य का कथन किया जाता है वहाँ परिकराङ्कुर अलङ्कार होता है। जैसे—

“बामा मामा कामिनी कहि बोलो प्राणेश।

प्यारी कहत लजात नहीं पावस चलत विदेश।”

२६. परिवृत्त अलङ्कार—जहाँ पर एक वस्तु की विशेषता दूसरी वस्तु में स्थापित कर दी जाय और दूसरे की विशेषता पहले में, वहाँ परिवृत्त अलङ्कार होता है। परिवृत्त का अर्थ है अदला-बदला। जैसे—

“लीन नितम्बन में गुरुता कटि की औ’ कटि में तिनकी कुशताई।”

२७. परिसंख्या अलङ्कार—जब किसी वस्तुधर्म, गुण तथा जाति को उन सब स्थानों से जहाँ उनकी स्वाभाविक स्थिति होती है हटाकर किसी विशेष स्थान पर स्थापित कर दिया जाता है तब वहाँ परिसंख्या अलङ्कार होता है। जैसे—

“दण्ड जतिन कर भेद जहाँ नर्त्तक नृत्य समाज।

जीत्यों मनसिज सुनिय अरु रामचन्द्र के राज॥”

यहाँ पर राम-राज्य में दण्ड कहीं नहीं है। वह केवल संन्यासियों के हाथ में है। इस कथन से कवि ने राजनीति से जो उसका वास्तविक स्थान है दण्ड को हटाकर संन्यासियों के दण्डमात्र में स्थापित कर दिया है।

२८. प्रत्यनीक अलङ्कार—जहाँ पर शत्रु पक्ष वालों से वैर अथवा मित्र पक्ष वालों से प्रेम करना दिखाया जाय वहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार होता है। जैसे—

“सिंह न जीता लंकसरि हार लीन्ह बनबास।

तेहि रिसि मानुष रकत पिय खाई मारि कै मास॥”

२९. व्याजस्तुति अलङ्कार—जहाँ पर प्रत्यक्ष देखने में तो कोई कथन किसी के प्रति निंदात्मक प्रतीत हो किन्तु वास्तव में वह हो स्तुति ही। जैसे—

पूरा पद विनय-पत्रिका में देखिए—बावरो रावरो नाह भवानी। इत्यादि।

“कहा कहीं कहत न बनत सुरसरि तेरी रीति।

ताके तु मूँडें चढ़ें जो आवें कर प्रीति॥”

इसमें प्रत्यक्ष तो गंगाजी की निन्दा प्रतीत होती है किन्तु वास्तव में प्रशंसा की गई है।

३०. अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार—जहाँ पर अप्रस्तुत के वर्णन के द्वारा प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराई जाती है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है। यह अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार बहुत प्रकार का होता है। इसके पाँच भेद बहुत प्रसिद्ध हैं—

(१) कार्य निबंधना।

(२) कारण निबंधना।

(३) सामान्य निबंधना।

(४) विशेष निबंधना ।

(५) सारूप्य निबंधना ।

(१) कार्य निबंधना—जहाँ पर कार्य का कथन करके कारण का संकेत किया जाय । जैसे—

“मातुपितृहि जनि शोच बसि करसि महीप किशोर ।”

यहाँ पर माता-पिता का शोचवश होना कार्य के सहारे पुत्र के मारे जाने के कारण का कथन किया गया है ।

(२) कारण निबंधना—जहाँ कारण के द्वारा कार्य का कथन किया जाय । जैसे—

“कोऊ कह जब विधि रति मुख कीन्हा ।
सारभार शशिकर हर लीन्हा ॥
छिद्र सो प्रकट इन्दु उर माँहीं ।
तेहि मग देखिए नभ परछाँहीं ॥”

यहाँ रति मुख से सौन्दर्य की जो कि कार्यरूप है वर्णन न करके उसके कारण चन्द्रमा के सारभाग का कथन किया गया है । यही कारण निबंधना व्याजस्तुति है ।

(३) सामान्य निबंधना—जहाँ कहीं सामान्य के कथन के द्वारा विशेष की व्यंजना की जाती है वहाँ सामान्य निबंधना होती है । यथा—

“सूपनखाँ की गति तुम देखी ।
तदपि हृदय नहीं लाज विशेषी ।”

यहाँ पर सूपनखाँ की दशा इस सामान्य कथन से रामचन्द्र जैसे विशेष पुरुष से वर नहीं करना चाहिए, इस विशेष कथन की व्यंजना की गई है ।

(४) विशेष निबंधना—जहाँ कहीं विशेष बात कहकर सामान्य की व्यंजना की जाती है वहाँ विशेष निबंधना होती है । जैसे—

“धन्य शेष सिर जगत हित धारत भुवि को भार ।
बुरा बाध अपराध बिन भृग को डारत मार ॥”

इस उदाहरण में बाध के अप्रस्तुत वर्णन से यह सामान्य बात व्यंजित की गई है कि बड़ा होकर सबके भार को अपने सिर पर लेना उचित है और अशक्त निरपराधों को सताना अनुचित है ।

(५) सारूप्य निबंधना—जहाँ पर प्रस्तुत का वर्णन किसी समान अप्रस्तुत बात के द्वारा किया जाता है वहाँ सारूप्य निबंधना होती है । इसे अन्योक्ति अलंकार भी कहते हैं । जैसे—

“सुन दशमुख खद्योत प्रकाशा ।
कबहुँ कि नलिनी करहिँ विकासा ॥”

यहाँ पर सीता जी ने कमलिनी पर ढालकर रावण से अपनी बात कही है ।

३१. समासोक्ति अलंकार—जहाँ पर प्रस्तुत कथन के द्वारा किसी अप्रस्तुत बात की व्यञ्जना होती है वहाँ समासोक्ति अलंकार माना जाता है। इसकी योजना श्लिष्ट और अश्लिष्ट दोनों प्रकार के शब्दों द्वारा की जाती है। श्लिष्ट का उदाहरण देखिए। जैसे—

“तुही साँच द्विजराज है तेरी कला प्रमान ।
तोपें शिव कृपा करी जानत सकल जहान ॥”

यहाँ पर प्रस्तुत तो चन्द्रमा की प्रशंसा है किन्तु द्विजराज और शिव इन श्लिष्ट शब्दों के कारण भूषण कवि और शिवराज के परस्पर सम्बन्ध की व्यञ्जना भी हो गई है।

अश्लिष्ट का उदाहरण देखिए—

“लोचन-मग रामाँह उर आनी । बीन्हें पलक कपाट सयानी ।”

यहाँ पर प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त एक अप्रस्तुत अर्थ भी व्यञ्जित होता है। जैसे चंचल व्यक्ति को तभी बन्दी बनाया जा सकता है जब उसे किसी स्थान में द्वार बन्द करके रखा जाय।

३२. मुद्रा अलंकार—प्रस्तुत अर्थ का कथन करने वाले पदों से जब किसी दूसरे अर्थ की व्यञ्जना होती है तब वहाँ मुद्रा अलंकार होता है। इसमें प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जो एक तो सामान्य अर्थ रखते हैं और दूसरा विशेष अर्थ रखते हैं। जैसे साकेत की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

“करुणे क्यों रोती है ?
‘उत्तर’ में और अधिक तू रोई ।
मेरी विभूति है, जो,
उसको भवभूति क्यों कहे कोई ॥”

३३. यथासंख्य अलंकार अथवा क्रमालंकार—जब कवि क्रमशः कहे हुए अर्थों का पद में आए हुए अन्य अर्थों से क्रमिक सम्बन्ध स्थापित करता है तब वहाँ क्रमालंकार होता है। जैसे—

“अमिय हलाहल सब भरे श्वेत श्याम रतनार ।
जियत, मरत, भुकि भुकि परत, जेहि चितवत एक बार ॥”

३४. पर्यायोक्ति अलंकार—जब कोई बात सीधे शब्दों में व्यक्त न करके घुमा-फिराकर दूसरे चमत्कारपूर्ण शब्दों में कही जाती है वहाँ पर्यायोक्ति अलंकार होता है। यह दो प्रकार की होती है। एक तो वह जिसमें कवि सीधी-सी बात को घुमा-फिराकर वर्णन करता है और दूसरी वह जहाँ किसी बहाने से इच्छित कार्य का उल्लेख करता है। पहले का उदाहरण इस प्रकार है—

“सीता हरन तात जनि कहेऊ पिता सन जाय ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि बशानन आय ॥”

यहाँ पर 'मैं रावण को मारूँगा' इतनी-सी बात को इतने बड़े दोहे में गूँथा गया है।

द्वितीय पर्यायोक्ति का उदाहरण—

“देखन मिस मृग विहंग तब फिरं बहोरि बहोरि ।

निरख निरख रघुबीर छवि बाढ़ं प्रीति न थोरि ॥”

यहाँ पर मृग और विहंग देखने के बहाने सीताजी राम की छवि देख रही हैं। इसलिए यहाँ पर बहाने से इच्छित कार्य की सिद्धि प्रकट होती है।

३५. विभावना अलंकार—विभावना अलंकार में कारण सम्बन्धी विलक्षण कल्पना मिलती है। कारण सम्बन्धी विलक्षण कल्पना ६ प्रकार की होती है। इसी आधार पर इसके ६ भेद माने गए हैं—

१. प्रथम विभावना—जहाँ कारण के बिना ही कार्य का होना बताया जाय। जैसे—

“बिनु पद चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु कर्म करै विधि नाना ॥”

२. द्वितीय विभावना—जहाँ पर अपूर्ण कारण से पूर्ण कार्य की सिद्धि दिखाई जाय। जैसे—

“काम कुसुम धनु सायक लीन्है । सकल भुवन अपने बस कीन्है ॥”

सम्पूर्ण विश्व को जीतने के लिए कुसुम धनु सायक अपर्याप्त कारण है इसी-लिए यहाँ द्वितीय विभावना मानी गई है।

३. तृतीय विभावना—जहाँ पर कार्य की सिद्धि बाधा होने पर भी प्रदर्शित की जाय वहाँ पर तृतीय विभावना होती है। जैसे—

“रखवारे हति विपिन उजारा । देखत तोहि अछय जेहि मारा ॥”

४. चतुर्थ विभावना—जो जिसका कारण न हो किंतु फिर भी विलक्षण कल्पना से उसको किसी दूसरी वस्तु का हेतु बता देना। जैसे—

“भयो कम्बु ते कंज इक सोहत सहित विकास ।

देखऊ चम्पक की लता बेत गुलाब सुवास ॥”

यहाँ पर कम्बु से कंज की, और चम्पक की लता से गुलाब की सुवास की कारणमूलक कल्पना विलक्षण है, इसीलिए यहाँ चतुर्थ विभावना अलंकार माना गया है।

५. पाँचवीं विभावना—इसमें विरुद्ध कारण से कार्य का होना वर्णित किया जाता है। जैसे—

“चुभते ही तेरा अरुण बान ।

बहते कन कन से फूट फूट मधु के निर्भर से सजल गान ।”

यहाँ बान लगने से गान का निकलना विरुद्ध कारण से कार्य का होना व्यञ्जित किया गया है।

६. छठी विभावना—इस विभावना में कार्य से कारण का होना वर्णित किया

जाता है। जैसे—

“चरण कमल से निकली गंगा विष्णु पति कहलाती।”

कमल की उत्पत्ति का कारण जल होता है किन्तु यहाँ पर कवि ने कमल के चरण से गंगा के उद्भवरूपी कार्य का वर्णन किया है।

३६. विशेषोक्ति अलंकार—कारण के होते हुए भी जहाँ पर कार्य का होना प्रदर्शित न किया जाय वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। इसके तीन भेद होते हैं—

१—अनुक्त निमित्ता। २—उक्त निमित्ता। ३—अचिन्त्य निमित्ता।

अनुक्त निमित्ता—जहाँ निमित्त स्पष्ट न हो वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे—

“फिरि विनय अनुनय किया पदांत समझाया बहुत कुछ।

किन्तु मैं तो सत्य ही पाणिग्रहण से विरत हो थी॥”

यहाँ पर प्रेमी के चरणों में झुकने का कारण होते हुए भी प्रेमिका विवाह से उदासीन वर्णित की गई है।

उक्त निमित्ता—जहाँ पर निमित्त स्पष्ट हो। जैसे—

“अलि हन लोचन की कछू, उपजी बड़ी बलाय।

नीर भरे नित-प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय॥”

यहाँ पर नीर कारण के रहते हुए भी नेत्रों की प्यास का न बुझना कार्य वर्णित किया गया है। यहाँ पर निमित्त स्पष्ट है।

अचिन्त्य निमित्ता—जहाँ पर निमित्त अचिन्त्य हो। जैसे—

“रूप सुधा पान से न नेक भी हुई है कम।

प्रत्युत हुई है तीव्र कैसी यह प्यास है॥”

यहाँ पर सुधा-पान कारण होते हुए भी प्यास का उत्तरोत्तर बढ़ते जाना कार्य का वर्णन किया गया है। इसलिए यहाँ निमित्त अचिन्त्य है।

उभयालंकार

१. संसृष्टि—जहाँ पर कई अलंकारों की योजना एक साथ की जाती है वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है। इसके तीन भेद होते हैं—

१—शब्दालंकार संसृष्टि २—प्रथालंकार संसृष्टि, ३—शब्दार्थालंकार संसृष्टि।

इन तीनों प्रकार के अलंकारों में भिन्न-भिन्न अलंकार तिल और तंडुल के सदृश मिले रहते हैं अर्थात् वे मिले भी रहते हैं और अलग भी रहते हैं।

१—शब्दालंकार संसृष्टि का उदाहरण देखिए, जैसे—

“मर मिटें रण में पर राम को, हम न बे सकते जनकात्मजा।

सुन कपे ! जग में बस बीर के, सुयश कारण कारण सुख है॥”

इस उदाहरण में वृत्त्यनुप्रास और यमक, तिल-तंडुल न्याय से मिले हुए दिखाई पड़ते हैं। ये दोनों ही अलंकार शब्दालंकार हैं इसलिए यहाँ शब्दालंकार संसृष्टि मानी गई है।

२—अर्थालंकार संसृष्टि का उदाहरण, जैसे—

“सखि नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह सी झम्बर पथ से चली ।”

इसमें उपमा और रूपक अलंकार तिल-तंडुल न्याय से मिले हुए हैं। दोनों ही अर्थालंकार हैं। इसलिए यहाँ अर्थालंकार संसृष्टि मानी गई है।

३—शब्दार्थालंकार संसृष्टि का उदाहरण, जैसे—

“जीवन प्रातः समीरण-सा लघु विचरण निरत करो।
तब तोरण तृण-तृण की कविता छवि मधु सुरभि भरो ॥”

इसमें उपमा, रूपक और वृत्त्यनुप्रास की संसृष्टि मिलती है।

२. संकर—जहाँ पर कई अलंकार नीर-क्षीर न्याय से मिले हुए होते हैं, वहाँ संकर अलंकार होता है। जैसे—

“करुणामय को भाता है तम के पर्व से आना।
ओ नभ की दीपावलियो तुम क्षण भर को बुझ जाना ॥”

इसमें दो रूपक हैं, एक तम के पर्व में है और दूसरा तम की दीपावलियों में है। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे की शोभा को बढ़ा रहे हैं इसलिए एक-दूसरे से नीर-क्षीर न्याय से मिले हुए कहे जायेंगे।

कुछ पाश्चात्य अलंकार

मानवीकरण—जब भावनाओं पर मानव-गुणों, रूपों और कार्यों का आरोप कर दिया जाता है तब वहाँ मानवीकरण अलंकार होता है। जैसे—

“सिंधु सेज पर धरा बधू अब तनिक संकुचित बैठे-सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए-सी ऐंठी-सी ॥”

यहाँ पर पृथ्वी पर बधू के रूप, गुण और कार्यों का आरोप किया गया है। इसलिए यहाँ मानवीकरण अलंकार है।

व्यंग्यर्थ व्यंजना—जब कवि अपनी रचना में ऐसी शब्द-ध्वनियों का नियोजन करता है जो कर्ण को मधुर लगती हैं और साथ-ही-साथ अज्ञात रूप से अर्थ सौंदर्य का भी आभास कराती हैं। जैसे—

“पवित्रों की वह पीन पुकार, निर्भरों की भारी भरभर।
भींगुरों की भीनी भंकार और घनों की गुरु गंभीर घहर ॥

यहाँ पर कवि ने नाद-सौंदर्य के सहारे ही सौंदर्य की व्यञ्जना कर दी है।

विशेषण-विपर्यय—भाव को तीव्रतर करने के लिए आधुनिक कवि विशेषण को अपनी वास्तविक जगह से हटाकर ऐसी जगह पर नियोजित करता है जहाँ पर वह एक लाक्षणिक अर्थ देने लगता है। लाक्षणिक अर्थ से रचना का अर्थ-सौन्दर्य बढ़ जाता है। जैसे—

“कल्पने आओ सजनि उस प्रेम की ।
सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः ॥”

यहाँ पर सुधि को सजल कहना विशेषण-विपर्यय है । ऐसा कहकर कवि ने एक ऐसे व्यक्ति के चित्र की व्यञ्जना की है जो आसू बहा रहा हो ।

रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक आचार्य वामन थे । अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा काव्य में अलंकार की महत्ता का विवेचन हो चुका था किन्तु इस विवेचन से काव्य के प्राण की स्पष्ट व्याख्या न हो सकी । अतः अलंकारवादियों का मत विवादास्पद ही बना रहा । इस मत की प्रतिक्रियास्वरूप रीति सम्प्रदाय की स्थापना हुई । आचार्य वामन ने ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ कहकर स्पष्ट शब्दों में अलंकारिकों का विरोध किया है और रीति या शैली को काव्य की आत्मा कल्पित किया है ।

रीति शब्द की व्युत्पत्ति—रीति शब्द की उत्पत्ति ‘रीड्’ धातु से ऋन् प्रत्यय के योग से हुई है । इसका अर्थ है मार्ग, पन्थ या गति । महाराजा भोज ने ‘सरस्वती कण्ठाभरण’ में इसकी उत्पत्ति इस प्रकार दी है—

“वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः

रीड् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते”

—२।२७

अभिव्यक्ति के विभिन्न मार्ग होते हैं । लेखक अपनी रचि के अनुसार इन मार्गों का अनुसरण करते हैं । रीति शब्द इसी अभिव्यक्ति वैभिन्य का द्योतक है । वामन से पूर्व रीति के स्थान पर अधिकतर मार्ग शब्द प्रयुक्त किया जाता था । आज कल हिन्दी में इसके लिए शैली शब्द का प्रयोग होता है । शैली शब्द की उत्पत्ति भी शील शब्द से हुई है । यह भी लेखक के स्वभाव की ओर ही संकेत करता है । प्राचीन संस्कृत शास्त्र में शैली शब्द किसी व्याख्यान पद्धति के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था । कुल्लूक भट्ट की टीका में शैली का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है ।

रीति की परिभाषा और व्याख्या—सर्वप्रथम वामन ने ही रीति को परिभाषा-बद्ध कर उसकी विस्तृत व्याख्या की है । ‘काव्यालंकारसूत्र’ में उन्होंने रीति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

“विशिष्टा पदरचना रीतिः । विशेषो गुणात्मा”

—१।२।७

अर्थात् माधुर्य आदि गुणों से युक्त रचना ही रीति है । गुणों को उन्होंने रीति में सर्वाधिक महत्त्व दिया है ।

आचार्य वामन के अतिरिक्त रीति सम्प्रदाय का अन्य कोई प्रसिद्ध विद्वान् नहीं है जिसने रीति पर विचार किया हो । इसका कारण है कि मम्मट आदि के रसवादी सिद्धान्त के सम्मुख रीति सम्प्रदाय अधिक मान्य न हो सका ।

रीति सम्प्रदाय के बहिर्गत कुछ अन्य आचार्यों ने रीति के स्वरूप को स्पष्ट किया है । यह स्वरूप बहुत कुछ वामन द्वारा निर्दिष्ट रीति के लक्षण से साम्य रखता

है। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने रीति को 'कवि प्रधान हेतु' या कवि कर्म की विधि कहा है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने इसे 'वाक्यवाचक चारुत्व हेतु' कहकर रीति को शब्द और अर्थ में चारुता लाने वाला उपादान माना है। उन्होंने रीति का रस से सम्बन्ध स्थिर करने का भी प्रथम और सारगर्भित प्रयास किया है—

**“गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा
रसान्.....”**

अर्थात् पद रचना (संघटना) माधुर्य आदि गुणों के आधार पर आश्रित रहती और रस की अभिव्यक्ति में सहायक होती है।

आचार्य वामन के 'विशेषो गुणात्मा' वाले कथन को इन्होंने 'संघटना' शब्द द्वारा व्यक्त किया है। संघटना का अर्थ है पदों की सम्यक् या शोभन रचना।

'साहित्य-दर्पण' के प्रणेता विश्वनाथ ने भी आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार रीति का स्वरूप स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—

**“पदसंघटना रीतिः अंगसंस्थाविशेषवत्
उपकर्त्री रसादीनाम्.....”**

अर्थात् जिस प्रकार कामिनी के अंगों का एक निश्चित संघटन सौन्दर्यशाली होता है उसी प्रकार पदों की नियमबद्ध संघटना भी सुन्दर होती है, उसे रीति कहते हैं। इस प्रकार की पद संघटना या रस रीति आदि काव्य सौन्दर्य के विविध तत्त्वों के परिवर्तन में सहायक होती है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने संघटना और गुणों का सम्बन्ध भी स्थिर किया है। प्रसादगुण की स्थिति तो वे सभी संघटनाओं या रीतियों में मानते हैं—

**‘सर्वासु च संघटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। सहि सर्वसाधारणः सर्वसंघटना-
साधारणश्चेत्युक्तम्’...इत्यादि।**

मम्मट ने भी सभी रचनाओं में प्रसाद गुण की स्थिति अवश्य मानी है। उनकी धारणा है—

**“शुक्लेन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसंब यः
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः”**

—काव्यप्रकाश अष्टम उ०, ७० का०

इस प्रकार आचार्य वामन के समान सभी आचार्यों ने रीति में गुणों को स्वीकार किया है।

गुणों का लक्षण—गुणों का विवेचन प्राचीनतम लक्षण ग्रन्थों में भी मिलता है। भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में गुणों के स्थान पर दोषों के विपर्यय का उल्लेख किया है।

अग्निपुराण में भी गुणों के स्वरूप और काव्य में उनके महत्त्व की चर्चा की

गई है। गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है—

“यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः”

—३४६।३

अर्थात् काव्य में महान् शोभा का सृजन करने वाला तत्त्व गुण है।

वामन ने भी इसी प्रकार लिखा है—

“काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मा गुणाः”

—काव्यालंकारसूत्र

मम्मटाचार्य ने रस से गुणों का सम्बन्ध स्थिर करते हुए गुणों का स्वरूप अधिक स्पष्ट कर दिया है—

“ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः”

—का० प्र० २।६६

गुणों की संख्या—साहित्यशास्त्र में ओज, माधुर्य और प्रसाद तीन गुणों का उल्लेख किया जाता है किन्तु प्राचीन संस्कृत साहित्य में गुणों की संख्या इनसे अधिक थी। प्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ ‘नाट्यशास्त्र’ में दोषों के विपर्यय की संख्या दस बतलाई गई है। वे इस प्रकार हैं—

“श्लेषः, प्रसादः, समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्

अर्थस्य च व्यक्तित्वदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणादज्ञेते”

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थ-व्यक्ति, उदारता और कान्ति काव्य के यह दस गुण हैं।

भरत मुनि द्वारा निर्देशित इन्हीं गुणों के आधार पर कुछ परवर्ती आचार्यों ने स्वतन्त्रता से काम लिया है और गुणों की संख्या यथारुचि परिवर्द्धित करते गये हैं। अग्निपुराण में गुणों की संख्या १६ दी हुई है। दण्डी ने कुछ भिन्न क्रम से दस ही गुण माने हैं। इनके बाद वामन ने १० गुण शब्द के और १० गुण अर्थ के इस प्रकार २० गुण बताए हैं। भोजराज ने इनकी संख्या और भी बढ़ा दी है। वे २४ गुण शब्द के और २४ अर्थ के मानते हैं।

कुछ अन्य आचार्यों ने गुणों की संख्या के इस परिवर्धन को सारगर्भित न मानकर इनका विरोध किया है। आचार्य भामह ने इन सभी गुणों का समावेश तीन गुणों में करके माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन गुण ही स्वीकार किए हैं। आचार्य मम्मट ने भी भामह द्वारा निर्देशित इस अन्तर्भाव को स्वीकार किया है। अन्य सभी गुणों को दोष के अभावरूप और दोष रूप सिद्ध करके अपना स्थिर मत निश्चित किया है। वे वामन द्वारा निर्देशित श्लेष, उदारता, प्रसाद और ओज इनको ओज गुण के अन्तर्गत और अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण के अन्तर्गत मानते हैं। माधुर्य गुण को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है। समता गुण को मम्मट ने दोष रूप सिद्ध किया है और कान्ति और सुकुमारता को ग्राम्यत्व और कष्टत्व दोषों का अभाव मात्र सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि इन दोनों दोषों के अभाव में कान्ति और सुकुमारता स्वतः ही

स्थिर हो जाती हैं। इस प्रकार गुणों की संख्या की कटु आलोचना करके पुष्ट तर्कों द्वारा मम्मट ने ओज, माधुर्य और प्रसाद इन तीनों को स्वीकार किया है। मम्मट का यह मत सर्वमान्य रहा है।

रस और गुणों का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध—वामन ने रस को गुण का आश्रित कहा है किन्तु ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों ने रस का मनोवैज्ञानिक निरूपण कर गुण से उसका सम्बन्ध स्थिर किया है। वे आचार्य वामन के विपरीत रस को साध्य रूप और रीति को साधन मानते हैं। वे शब्द और अर्थ के उस रचना-चमत्कार को रीति मानते हैं जिसमें माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों द्वारा रस का आस्वादन कराने की शक्ति हो। रस तत्त्व का चित्तवृत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है अतः गुण का भी मनोवैज्ञानिक आधार अवश्य ही होगा। आनन्दवर्धनाचार्य ने द्रुति और दीप्ति से गुण का सम्बन्ध बताया है। वे कहते हैं कि जिन रसों से चित्त आह्लादित और दीप्त होता है वहाँ माधुर्य, ओज आदि गुणों की स्थिति रहती है। किन्तु उन्होंने अपने कथन को स्पष्ट नहीं किया है। अभिनवगुप्त ने रस और गुण के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है।

उनका मत है कि गुण चित्त की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। चित्त की द्रवितावस्था में माधुर्य की और दीप्ति तथा व्याप्ति में ओज और प्रसाद की स्थिति रहती है। रसानुभूति चित्त की इन्हीं अवस्थाओं के द्वारा होती है। शृङ्गार रस से हृदय द्रवित होता है। अतः उसमें माधुर्य गुण की अधिकता दिखलाई पड़ती है। वीर-रस से हृदय को दीप्ति प्राप्त होती है, अतः ओज-गुण-प्रधान होता है। हृदय को व्यापकत्व की स्थिति में लाने वाले सभी रसों में प्रसाद गुण रहता है। इस प्रकार रस की अनुभूति गुणस्थित विभिन्न चित्तवृत्तियों के अनुसार होती है। अतः अभिनवगुप्त ने गुण और रस में कार्य-कारण सम्बन्ध माना है और चित्तवृत्ति को ही गुण कहा है। आचार्य मम्मट ने इसके विपरीत गुण को ही चित्तवृत्ति का कारण मानकर रस का उत्कर्षक हेतु कहा है। विश्वनाथ ने मम्मट के मत का विरोध करके गुण को रस से अभिन्न माना है। इन्होंने अभिनवगुप्त के मत का ही समर्थन किया है।

प्रमुख गुणों के लक्षण

माधुर्य गुण—माधुर्य गुण उस रचना में माना जाता है, जिसमें अन्तःकरण को आनन्द से द्रवित करने की क्षमता होती है। यह क्षमता आचार्य मम्मट के अनुसार उस रचना में आती है, जिसमें ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर क से लेकर म तक के अक्षर, ड, ण, न, म से युक्त ह्रस्व स्वर और ण; समास का अभाव या अल्प समास के पद आदि की प्रतिष्ठा होती है।

डा० नगेन्द्र ने अपनी 'रीतिकान्य की भूमिका' (पूर्वाह्न, पृ० ११०) में रस और गुण के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है।

आचार्य चिन्तामणि ने इसका स्वरूप-निरूपण इस प्रकार किया है—

जो संयोग सिंगार में सुखद दबाव चित्त ।
 सो माधुर्य बखानिए यहई तत्व कवित्त ॥
 सो संयोग सिंगार तें करुण मध्य अधिकाई ।
 विप्रलम्भ अरु सात रस तामें अधिक बनाई ॥
 अनुस्वार जुत वरन जिति सब वगं अटवगं ।
 मृदु समास माधुर्य की घटना में जु निसर्ग ॥

आचार्य कुलपति ने भी माधुर्य गुण के सम्बन्ध में विचार किया है । उनका कथन है—

“द्रव्य चित्त जाके सुनत, अति आनन्द प्रधान ।
 सुहै मधुरता रसनु क्रम प्रथम सरस ही आन ॥
 सो रचना माधुर्य जहँ, योग मधुरता जानि ।
 बिबु सहित ट ठ ड ढ रहित र ण लघुवरण प्रमान ॥”

इसी प्रकार आचार्य भिखारी दास ने भी लिखा है—

“अनुस्वारजुत वर्ण जुत, सब वगं अटवगं ।
 अक्षर जामें मृदु परें, सो माधुर्य निसर्ग ॥
 श्लोषोमध्य समास को, समता कान्ति विचार ।
 लोहे गुन माधुर्य जुत, करना हास सिंगार ॥”

इसी प्रकार आचार्य भिखारी दास ने भी माधुर्य गुण में उपर्युक्त सभी लक्षणों का होना आवश्यक माना है । माधुर्य गुण का एक उदाहरण देखिए—

“कंकण किकिणि नूपुर धुनि सुनि ।
 कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
 मानहु मदन बुंभुभि दीन्हें ।
 मानहु विश्वविजय कहँ कीन्हें ॥”

श्रोज गुण—श्रोज में चित्त को स्फूर्ति से उत्तेजित करने की विशेषता होती है । श्रोज गुण की प्रतिष्ठा के लिए द्वित्व वर्णों, संयुक्त वर्णों र का संयोग, ट् ठ ड् क तथा समासाधिक्य, कठोर वर्णों की प्रचुरता आवश्यक होती है । आचार्य चिन्तामणि ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—

“दीप्त चित्त विस्तार को हेतु श्रोज गुन जानि ।

सु तां वीर वीभत्स अरु रौद्र क्रमाधिक मानि ॥” आदि

इसी प्रकार आचार्य कुलपति ने भी लिखा है—

“चित्तहि बढावै तेज करि, श्रोज वीर रस वास ।
 बहुत रद्र वीभत्स में जाको बने निवास ॥
 संजोगी ट् ठ् ड् क् ण् जुत उद्धत चरनारूप ।
 रेफ जोगसरब पद बड़े वरनहुँ श्रोज अनूप ॥

आचार्य सोमनाथ और भिवारी दास ने भी ओज गुण में इन्हीं लक्षणों का होना अनिवार्य माना है । ओज गुण का एक उदाहरण इस प्रकार है—

“तब सरजा कोप वरिबडा,
जनहु सवर करे भुजदण्डा ।
कोपि गरजि मरेसि तस बाजा ।
जानहुं परि दूटि सिर गाजा ॥
ठांठर दूट फूट सिर तासू ।
ज्यों सुमेरु ज्यों दूट अकासू ॥

—(जां० ग्रन्थ पृष्ठ २६३)

प्रसाद गुण—जिसके चित्त में उदय होते ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है, उसे प्रसाद गुण कहते हैं । यह गुण सभी प्रकार की रचनाओं में व्याप्त हो सकता है ।

आचार्य चिन्तामणि ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

“सूखे ई धन आग ज्यों स्वच्छ नीर की रीति ।
भूलक अछर अरथ जो सो प्रसाद गुण नीति ॥

यही बात आचार्य सोमनाथ और कुलपति ने भी कही है । सोमनाथ के अनुसार—

नवहू रस में अर्थ जहं गग तीर के तूल ।
ताकों कहत प्रसाद गुण सुनत बढे हिय फूल ॥

इसके उदाहरण के रूप में हम जायसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत कर सकते हैं—

“वरनों मांग सीस उपराहीं ।
संदुर अबहि चढ़ा जेहि नाहीं ॥
बिन संदुर जस जानहु दीया ।
उजियर पंथ रंनि महकीया ॥”

प्रमुख रीतियों की स्वरूप व्याख्या

रीतियों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है । भामह ने बँदभी और गौड़ी दो ही रीतियाँ मानी हैं । दण्डी ने भी इन्हीं दो की चर्चा की है । वामन ने रीतियों की संख्या दो से तीन कर दी । उन्होंने पांचाली नामक एक नई रीति का उल्लेख किया । रुद्रट और राजशेखर में हमें लाटीया नामक चौथी रीति की भी चर्चा मिलती है । इस प्रकार बँदभी, गौड़ी, पांचाली और लाटीया नामक रीतियों का क्रमशः विकास हुआ । यहाँ पर संक्षेप में इनके स्वरूप की व्याख्या कर देना अनुचित न होगा ।

बँदभी रीति—बँदभी रीति सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है । किसी ने उसे गुण-स्फुट रूप, कुछ ने गुण-साकल्यमयी और कुछ ने समग्रगुणा कहा है । आचार्य राज-

शेखर ने उसके सम्बन्ध में लिखा है ।

“वाग्वैदभीमधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम् ।” —बाल रामायण

अर्थात् वैदभी रीति से कर्ण-प्रिय माधुर्य गुण का प्रसवण होता है ।

दण्डी ने वैदभी रीति का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है—

श्लेषः प्रसादः समता, माधुर्यं सुकुमारता

अर्थव्यक्तिसहारत्वभोजः कान्ति समाधयः

इति वैदभर्मार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः

एषां विपर्ययः प्रायो वृश्यते गोडवर्त्मनि ।

—काव्यादर्श १।४१—४२

अर्थात् वैदभी शैली के प्राणभूत गुण दस होते हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, भोज, कान्ति तथा समाधि ।

वामन वैदभी को समग्रगुणा मानते हैं—

“समग्रगुणा वैदभी ।” —१।२।११

विश्वनाथ ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

“माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका

अवृत्ति अल्पवृत्तिषा वैदभी रीतिरिष्यते ।”

अर्थात् माधुर्य गुण, व्यञ्जक वर्णों द्वारा वृत्तिहीन या अल्प वृत्ति वाली रचना वैदभी होती है ।

गौड़ी रीति —वैदभी के पश्चात् गौड़ी रीति की वर्णना की जाती है । वामन ने उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

“समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्वितम् गौडीमिति गायन्ति रीति विचक्षणाः ।”

अर्थात् गौड़ी रीति में भोज, कान्ति, गुणों की प्रधानता रहती है । इसमें समास-बहुलता और उद्भट पदों की योजना पाई जाती है ।

दण्डी ने गौड़ी का सारस्वत स्वरूप निर्देश नहीं किया है । उसने वैदभी की स्वरूप मीमांसा करके अन्त में लिखा है—“एषां विपर्ययः प्रायो वृश्यते गोडवर्त्मनि” अर्थात् इनके विपरीत गुण गौड़ी रीति में मिलते हैं । इससे प्रकट है कि वह गौड़ी को निकृष्ट कोटि की रीति मानते थे जिससे इनका दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण लगता है ।

विश्वनाथ ने गौड़ी की परिभाषा इस प्रकार दी है—

“भोजः प्रकाशकैः वर्णैः बन्धः आडम्बरः पुनः ।

समासबहुला गौडी वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ॥”

अर्थात् भोज गुण प्रधान प्रकाशक वर्णों से युक्त समास-बहुला उत्कृष्ट रचना शैली गौड़ी कहलाती है ।

पांचाली रीति—वामन ने पांचाली का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया है—

“माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली ।”

—१।२।१३

अर्थात् पांचाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य का सद्भाव रहता है ।

राजशेखर के नाम से एक पद्य मिलता है । उसकी प्रथम पंक्ति है—

“शब्दार्थयोः समोगुम्फः पांचालीरीतिरिष्यते ।”

अर्थात् जिस शैली में शब्द और अर्थ का समान गुम्फन पाया जाता है, उसे पांचाली रीति कहते हैं ।

विश्वनाथ ने पांचाली की परिभाषा इस प्रकार दी है—

“समस्त पंचषट्पदो बन्धः पांचालिका मता ।”

अर्थात् ५-६ समासयुक्त पदों से विशिष्ट रचना शैली को पांचाली कहते हैं ।

लाटी—साहित्य-दर्पणकार ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

“लाटी तु रीति वैदर्भीपांचाल्योन्तरे स्थिता”

अर्थात् वैदर्भी और पांचाली के मध्य की रीति को लाटी रीति कहते हैं ।

रीति और प्रवृत्ति—रीति के स्वरूप का विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं ।

यहाँ पर हम प्रवृत्ति की व्याख्या कर देना चाहते हैं । प्रवृत्ति के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में लिखा है—

“प्रवृत्तिरिति कस्मात् उच्यते । पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापय-
तीति प्रवृत्तिः । वृत्तिश्च निवेदने ।”

—भारतीय साहित्य शास्त्र पृ० १३६ से उद्धृत

अर्थात् जो विशेषता नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार आदि की व्यञ्जना करती है, उसे प्रवृत्ति कहते हैं ।

राजशेखर ने भी लिखा है—

“वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः”

अर्थात् स्थान भेद से नायक-नायिका में जो वेष-भूषा विधि होती है, उसे प्रवृत्ति कहते हैं ।

प्रवृत्ति के भेद—नाट्यशास्त्र में उनका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

“चतुर्विधाप्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य प्रयोगतः ।

आवन्ती दाक्षिणात्या पांचाली चौड्रमागधी ॥”

—नाट्यशास्त्र १४।३६

अर्थात् प्रवृत्तियाँ चार होती हैं—

१. आवन्ती—पश्चिमी भारत की वेषभूषा ।

२. दाक्षिणात्या—दक्षिणी भारत की वेषभूषा ।

३. औड्रमागधी—उड़ीसा और मगध की वेषभूषा ।

४. पांचाली—मध्यदेश की प्रवृत्ति ।

रीति और प्रवृत्ति में अन्तर इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है—

१. रीति का सम्बन्ध काव्य रचना सौष्ठव से होता है, जबकि प्रवृत्ति व्यक्ति की वेषभूषा, रहन-सहन गत विशेषताओं से संबंधित होती है ।

२. रीति का प्रमुख नियामक रस माना गया है, जबकि प्रवृत्ति के नियामक वस्त्रालंकारादि हैं, रस नहीं ।

रीति और वृत्ति

काव्यशास्त्र में वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—

१. अर्थ वृत्तियाँ या नाट्य वृत्तियाँ—इनके अन्तर्गत भारती, सात्वती, कंशिकी और आरभटी का निरूपण आता है ।

२. काव्य वृत्तियाँ या वर्ण-शब्द वृत्तियाँ—इनके अन्तर्गत उपनागरिका, परुषा, और कोमला नामक वृत्तियों की चर्चा आती है ।

शब्द वृत्तियों और रीतियों में परस्पर बड़ा साम्य है । यही कारण है कि मम्मट आदि आचार्यों ने दोनों में कोई भेद नहीं माना है ।

इसके विपरीत कुछ आचार्यों ने दोनों को अलग-अलग माना है । इनका कहना है कि रीति के अंतर्गत सघटना और वर्ण-योजना दो तत्त्व माने जाते हैं । इनमें वृत्ति के अंतर्गत केवल वर्ण योजना भर रहती है । अतः रीति को वृत्ति का पर्यायवाची नहीं मान सकते हैं ।

रीति और शैली—संस्कृत में शैली शब्द का प्रयोग उस अर्थ में नहीं मिलता जिस अर्थ में वह रूढ़ है । आजकल वह अंग्रेजी के शब्द Style शब्द का पर्यायवाची है । इस अर्थ में हमारे यहाँ रीति शब्द रूढ़ था । रीति का प्रयोग संकुचित और व्यापक दोनों अर्थों में मिलता है । अपने संकुचित अर्थ में वह “विशिष्टा पद-रचना” है किन्तु व्यापक अर्थ में उसमें उन समस्त तत्त्वों का सन्निवेश हो जाता है जिनकी समन्विति आजकल शैली में मानी जाती है । अतः हम प्राचीन रीति शब्द को आजकल के शैली शब्द का पर्यायवाची मानते हैं ।

रीति और वक्रोक्ति—रीति का सम्बन्ध काव्य के बाह्यांग से ही अधिक है जबकि वक्रोक्ति जितना बाह्यांग से सम्बन्धित है, उतना ही उसके अन्तरंग से सम्बन्धित है । रीति-सिद्धांत में रस को गौण महत्त्व दिया गया है । उसकी गणना बीस गुणों में की गई है किन्तु वक्रोक्ति का रस-ध्वनि से घनिष्ठ सम्बन्ध है । यह हम वक्रोक्ति सम्प्रदाय के सम्बन्ध में दिखा चुके हैं । अतः वक्रोक्ति रीति से ऊँची और सूक्ष्म वस्तु है ।

रीतियों का ऐतिहासिक विकासक्रम—संस्कृत साहित्य में पाश्चात्य साहित्य से अधिक रीति की वैधानिक विशेषताओं और उनके विभिन्न स्वरूपों पर विचार हुआ है । इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने ‘भारतीय साहित्यशास्त्र’ के द्वितीय खण्ड में रीतियों के इतिहास को तीन श्रेणियों में रखा है—

१. भौगोलिक विशेषताओं से समन्वित शैलियों का युग—इस युग में लेखक अपनी प्रान्तीय भाषा में ही रचना करते थे। इसके प्रमुख आचार्य बाण, भामह, दंडी, वामन आदि हैं।

२. वर्ण्य-वस्तु के अनुरूप शैली प्रयोग का युग—इस युग में भौगोलिक विशेषताओं के आधार पर पूर्व निर्धारित नाम ही ग्रहण किये गये किन्तु लेखक अपने प्रान्त की ही भाषा न अपनाकर विषय के अनुसार शैली का प्रयोग करने लगे। जैसे वैदर्भी शैली दसों गुणों से युक्त होने के कारण प्रत्येक शृङ्गार-रस-प्रधान रचना के लिए मान्य मानी जाने लगी। इस युग के प्रधानाचार्य रुद्रट, राजशेखर, भोजराज और बहुरूप मिश्र आदि हैं।

३. आचार्य कुन्तक और उनके अनुवर्ती आचार्यों का युग—कुन्तक ने शैली में व्यक्तित्व को सबसे अधिक प्रधानता दी है। अतः भौगोलिक विशेषताओं के आधार पर शैलियों के नाम निर्देश का विरोध करके व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर नवीन नाम निश्चित किए हैं।

यहाँ पर हम इन तीनों युगों के प्रमुखाचार्यों के रीति विचार पर एक दृष्टि डालेंगे।

बाणभट्ट—बाणभट्ट पहले कवि हैं जिन्होंने 'हर्षचरित' के आरम्भ में प्रत्येक प्रान्त की साहित्यिक विशेषताओं पर विचार किया है। उदीच्य, प्रतीच्य आदि चारों दिशाओं के निवासी शैलीगत अपनी-अपनी विशेष रुचि रखते हैं—यह बात उनके निम्नलिखित पद से स्पष्ट होती है—

“श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौणेष्वक्षरडम्बरः”

इस प्रकार बाणभट्ट ने अपने समय में प्रचलित चार प्रकार की शैलियों का संकेत किया है। किन्तु वह स्वयं सभी शैलियों के सुन्दर सारभूत तत्त्व को लेकर अपनी नवीन शैली-निर्माण के पक्षपाती थे। किन्तु बाणभट्ट का यह रीति विचार व्यावहारिक दृष्टिकोण से नहीं किया गया है।

भामह—भामह सर्वप्रथम आलङ्कारिक हैं जिन्होंने तात्त्विक दृष्टि से रीति पर विस्तार से विचार किया है। इनका 'काव्यालंकार' इस विषय का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इन्होंने केवल दो मार्ग या रीतियों का संकेत किया है—वैदर्भी और गौड़ी। अच्छे काव्य के पाँच गुणों का भी निर्देश किया है—

अलंकारवत्ता—अलंकारयुक्त होना

अग्राम्यत्व—अशिष्टता का अभाव

अर्थ्यत्व—अर्थवक्रता

न्याय्यत्व—सर्वसम्मत सिद्धान्तों से युक्त होना

अनाकुलत्व—शब्दाडम्बर का अभाव होना

भामह के समय में वैदर्भी शैली काव्योपयुक्त समझी जाती थी किन्तु भामह ने किसी भी शैली के अन्धानुसरण का विरोध करते हुए इन्हीं पाँच गुणों को सत्काव्य की कसौटी निश्चित किया है—

“अलंकारवदग्राभ्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्
गौडीयमपि साधीयः, वैदर्भमपि नान्यथा ।”

अर्थात् अलंकार, अग्राभ्य, अर्थ्य, न्याय्य और अनाकुलत्व इन गुणोपयुक्त गौडीय रीति भी श्लाघनीय है और इनसे रहित वैदर्भी भी त्याज्य है ।

दण्डी—दण्डी प्रधान रूप से अलंकारवादी थे किन्तु ‘काव्यादर्श’ में रीति पर भी विचार किया है । इन्होंने प्रत्येक कवि की शैली में सूक्ष्म भेद का संकेत करते हुए लिखा है—

“इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्
तथापि न तवाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ।”

—काव्यादर्श १-१०२

अर्थात् ईख, गुड़, दूध आदि मधुर होते हुए भी उनकी मधुरता में अंतर होता है । इस अन्तर को स्वयं सरस्वती भी स्पष्ट नहीं कर सकती । इसी प्रकार एक ही रीति का प्रयोग करने वाले विभिन्न कवि की सृष्टि में भी सूक्ष्म भेद दिखला पड़ता है ।

किन्तु फिर भी दण्डी ने काव्य गुणों के आधार पर वैदर्भी और गौड़ी दोनों शैलियों का विस्तृत विवेचन किया है । गुण और रीति के सम्बन्ध को स्थिर करते हुए वैदर्भी में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि इन दसों गुणों का होना आवश्यक बताया है । भरत मुनि ने अपने ‘नाट्यशास्त्र’ में ‘काव्यस्य गुणा दशैते’ कहकर इन दस गुणों को सभी प्रकार के काव्य के लिए अपेक्षित कहा है । किन्तु दण्डी ने इनको केवल वैदर्भी शैली का प्राण कहा है—

“इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।”

—काव्यादर्श १।४२

वैदर्भी शैली को दण्डी ने उत्तम और गौड़ी को निकृष्ट कहा है । गौड़ी में प्रायः इन दस गुणों के विपर्यय की अवस्थिति मानी है । दण्डी ने इन दस गुणों को व्यापक रूप में ग्रहण किया है । उनका संबंध काव्य के आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्षों से माना है ।

वामन—वामन प्रमुख रीतिवादी आचार्य हैं । इन्होंने स्पष्ट ही रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है । रीति में गुण को भी समान महत्त्व दिया है । वे लिखते हैं—

“विशिष्टपदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा”

अर्थात् विशेष प्रकार की पदरचना रीति है। रीति में यह विशेषता विशेष गुणों से आती है। इन्होंने गुणों के शब्दगुण और अर्थगुण दो भेद मौलिक ढंग पर स्वीकार किये हैं। अर्थगुण का सम्बन्ध रसोत्कर्ष से माना है। वामन के मतानुसार वैदर्भी में अर्थगुण की और गौड़ी में शब्दगुण की प्रधानता होती है। गुणों में बन्धगुण, अलंकार और रस का सन्निवेश भी किया जाता है। पाञ्चाल्य आलोचक डिमीट्रियस ने भी रीति में इन तीनों का विवेचन किया है।

वामन ने तीन प्रकार की शैलियाँ मानी हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली। वैदर्भी को समग्र गुणों से युक्त होने के कारण श्रेष्ठ माना है। इसमें गुणसाकल्य (गुणों की समग्रता) के साथ गुणस्फुटत्व (गुणों की विशदता) भी रहते हैं। रीति और गुणों के सम्बन्ध में दण्डी से वामन का मत भिन्न है। वामन ने दण्डी के समान गौड़ी को पूर्ण निकृष्ट शैली नहीं माना है। उसे वे ओज और कान्ति गुणों से युक्त मानते हैं—‘ओजः कान्तिमती गौणी या’। पाञ्चाली में वे ओज तथा कान्ति गुणों से रहित और माधुर्य और मौकुमार्य गुणों से युक्त होना अनिवार्य बताते हैं।

रुद्रट—रुद्रट के समय से रीति विकास का दूसरा युग आरम्भ होता है। इन्होंने रीति का वर्गीकरण एक नवीन आधारभूमि पर किया है। यह वर्गीकरण समस्त पद और असमस्त पद के आधार पर हुआ है। उन्होंने तीन प्रकार के समस्त पद माने हैं—लघु समास, मध्य समास और आयत या दीर्घ समास। इन्हीं के आधार पर पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया तीन प्रकार की रीतियाँ निश्चित की हैं। रुद्रट के मतानुसार पाञ्चाली में दो या तीन समस्त पद रहते हैं, लाटीया में पाँच या सात और गौडीया में अधिकतर समस्त पद रहते हैं। इनका मत है कि वैदर्भी और पाञ्चाली माधुर्य और मौकुमार्य गुणों से युक्त होने के कारण शृंगार, प्रेयान, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों की रचना के लिए अभीष्ट शैली है और गौडीया ओज और बन्ध से संयुक्त होने के कारण रोद्र रस की रचना के लिए उपयुक्त है। अन्य रसों में किसी भी इच्छित शैली का प्रयोग किया जा सकता है। निम्न कारिका में यही बात स्पष्ट की गई है—

“वैदर्भी पाञ्चाल्यो प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः
लाटीया गौडीये रोद्रे कुर्याद् यथोचित्यम् ॥”

राजशेखर—राजशेखर के समय में वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी और लाटीया चार शैलियाँ प्रवर्तित थीं। किन्तु राजशेखर ने लाटीया रीति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की है। इनका ‘रीति निर्णय’ नामक रीति ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः उन सिद्धान्तों का परिचय ‘काव्य-मीमांसा’ और उनके नाटकों से प्राप्त किया जा सकता है।

राजशेखर ने रीति, प्रवृत्ति और वृत्ति इन तीनों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए एक मधुर कल्पना की है। इन तीनों का उद्भव वे साहित्य-वधू की वाणी, वेशभूषा और विलास से कल्पित करते हैं। उन्होंने लिखा है कि साहित्य-वधू अपने प्रियतम

काव्य पुरुष की खोज में भारत की चारों दिशाओं में भ्रमण करती है। वह विचित्र विलास और अनुपम वेशभूषा धारण कर अपने मनोगत भावों के अभिव्यञ्जन के हेतु नवीन मधुर वाणी का आश्रय लेती है। उसके विलास से वृत्ति का, वेशभूषा से प्रवृत्ति का और वाणी-विन्यास से रीति का उद्भव होता है। राजशेखर ने इस उद्भव को इस प्रकार लिखा है—

“वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमोवृत्तिः, वचनविन्यासक्रमोरीतिः”

राजशेखर का रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति का यह विकास-क्रम इस तालिका से स्पष्ट हो जाएगा—

देश	प्रवृत्ति	वृत्ति	रीति
गौड	ओड्रमागधी	भारती	गौडी
पाञ्चाल	पाञ्चालमध्यमा	सास्वती, आरभटी	पाञ्चाली
अवन्ती	आवन्ती	सास्वती, कैशिकी	...
विदर्भ	दाक्षिणात्या	कैशिकी	वैदर्भी

साहित्य-वधू ने जिस-जिस देश में जाकर जिसे वेशभूषा, विलास और वाक्य-विन्यास को धारण किया उससे क्रमशः त्रिन प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति का जन्म हुआ वह उपर्युक्त तालिका में दिखाया गया है। राजशेखर ने तीनों का यह सामञ्जस्य विधान भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर किया है।

राजशेखर ने रीतियों के परस्पर अन्तर को स्पष्ट करने के लिए उनकी विशेष-ताएँ इस प्रकार निश्चित की हैं—

वैदर्भी	पाञ्चाली	गौड़ी
असमास	ईषदसमास	समास
स्थानानुप्रास	ईषदनुप्रास	अनुप्रास
योगवृत्ति	उपचार	योगवृत्ति परम्परा

राजशेखर ने वैदर्भी रीति को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है। उनका कथन है कि साहित्य-वधू के वैदर्भी-रीति में पूर्णरूप सम्भाषण करने पर काव्य-पुरुष आकृष्ट (अर्थात् वशवन्दीकृतः) हुए थे। वे बालरामायण में इसकी मधुरता को ध्वनित करते हुए लिखते हैं—

“वागवैदर्भी मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम्”

अर्थात् वैदर्भी से कर्णप्रिय माधुर्यगुण का प्रस्वपण होता है।

वे वैदर्भ देश में ही रस उत्पन्न करने वाले वाग्देवता का निवास मानते हैं। अतः वैदर्भी में रस माधुर्य और प्रसाद का समावेश स्वाभाविक ही है। पाञ्चाली रीति से सम्बन्धित राजशेखर की यह कारिका मिलती है—

“शब्दार्थयोः समोगुण्यः पाञ्चाली रीतिरिह्यते
शीलाभट्टारिकावाचि वाणोस्तिष्य च सा वदि”

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ का समान रूप सन्निवेश हो वह पाञ्चाली रीति है, इसका प्रयोग बाणभट्ट और शीला भट्टारिका ने अपने काव्य में किया है।

इन्होंने 'काव्य-मीमांसा' में गौड़ी का, और 'कूर्परमञ्जरी' में मागधी रीति का उल्लेख किया है। मागधी गौड़ी का ही रूपान्तर है। गौड़ी और वंदर्भी के विशिष्ट गुणों से युक्त मैथिली रीति भी संकेतित की है। इसमें अर्थातिशय, अल्पसमास और योग-परम्परा तीन गुण प्रधान रूप से होते हैं। इस रीति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

भोजराज—भोजराज ने पूर्व-प्रचलित चार प्रमुख रीतियों के अतिरिक्त अवन्ति-का और मागधी दो रीतियाँ और नियोजित की हैं। उन्होंने ओज में रीतियों के समीक्षात्मक लक्षण लक्षित नहीं किए हैं। राजशेखर के रीतिलक्षणों को ही स्वीकार किया है। अवन्तिका को इन्होंने वंदर्भी और पांचाली की मध्यवर्तिनी माना है। अवन्तिका और मागधी के लक्षण क्रमशः इस प्रकार दिये हैं—

“अन्तराले तु पांचाली वंदर्भ्योऽवन्तिष्ठते

सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः”

अर्थात् अवन्तिका पांचाली और वंदर्भी के अन्तराल में स्थित है। इसमें दो, तीन या चार समस्त पद रहते हैं।

“समस्तरितिष्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते

पूर्वरीतेरनिवाहे खण्डरीतिस्तु मागधी ॥”

अर्थात् सब रीतियों के मिश्रण को लाटी रीति कहते हैं और इस रीति के निवाह न होने पर खण्ड रीति को मागधी कहते हैं। शारदातनय, शिंगभूपाल और अग्निपुराण के रचयिता ने भोजराज के रीति लक्षणों को ही स्वीकार किया है।

बहुरूप मिश्र—बहुरूप मिश्र ने दशरूपक व्याख्या में रीतियों का वर्णन किया है। रीतियों के प्रमुख विभेदक पाँच लक्षण मानते हैं—समास तारतम्य, उपचार तारतम्य, बन्ध-सौकुमार्यादि तारतम्य, अनुप्रासभेद और योगादिभेद। किन्तु भोजराज बहुरूप मिश्र आदि आचार्य अपने रीति विचार में राजशेखर के ही ऋणी हैं।

आचार्य कुन्तक—कुन्तक रीति विकास के तृतीय युग के प्रवर्तक आचार्य हैं। इन्होंने रीति का मौलिक ढंग पर मनोवैज्ञानिक विभेद किया है। यह रीति का सम्बन्ध कवि स्वभाव से मानते हैं। कवि के काव्योचित स्वभाव वैचित्र्य को वे प्रमुख रूप से तीन नामों के अन्तर्गत निर्दिष्ट करते हैं—

१. **सुकुमार**—इस भाव से युक्त कवि के अन्तर में सुकुमारता और रमणीयता की सहज प्रवृत्ति होती है।

२. **विचित्र**—इस भाव से युक्त कवि में स्वभावगत विचित्रता और उद्दीप्ति रहती है।

३. **मध्यम**—मध्यम स्वभाव वाले कवि की शक्ति प्रथम दोनों स्वभाव के मध्यमार्ग की अनुगामिनी होती है।

कवि के इन तीनों स्वभावों के आधार पर कुन्तक ने क्रमशः सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग, मध्यम मार्ग कल्पित किए हैं। सुकुमार मार्ग में नैसर्गिक मधुरता, रसात्मकता और सहज अलंकारिकता का समावेश होता है। वक्रोक्तिजीवित में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

‘अम्लान्प्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः

अयत्नविहितस्वल्प मनोहारिविभूषणः

भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्य कौशलः

रसादिपरमार्थज्ञमतः—संवादसुन्दरः

अविभावित संस्था न रामणीयकरञ्जकः

विधिवद्दृश्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः

यत्किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्

सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्वि यत्रविराजते

सुकुमाराधिपः सोऽयं येन सत्कवयो गताः

मार्गेणोत्फुल्ल कुसुमकाननेव षट्पदाः” —वक्रोक्तिजीवित १।२५-२६

विचित्र मार्ग का प्राण अलंकार होते हैं। कुन्तक ने इसके सम्बन्ध में लिखा

है—

“यद्यप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्

उक्ति वैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते”

—वक्रोक्तिजीवित १।३८

अर्थात् इसमें किसी नवीन अर्थ का संकेत नहीं होता बल्कि उक्ति-वैचित्र्य द्वारा वर्ण्य-विषय को चमत्कार की पराकाष्ठा पर पहुँचा देते हैं। इसमें सुकुमार मार्ग की सहज प्रवृत्ति के विपरीत प्रत्येक बात यत्नपूर्वक रची जाती है। बाण, भवभूति, राजशेखर आदि इस मार्ग के प्रधान कवि हैं। मध्यम मार्ग में दोनों मार्गों के विशिष्ट गुणों का मिश्रण रहता है। इसमें भावों का सहज सौन्दर्य और अलंकारों का चमत्कार दोनों ही रहते हैं।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में शैली के पर्यायवाची शब्द रीति के अभिधान से शैलियों पर विस्तृत विवेचन हुआ है। संस्कृत में शैली शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की टीका में किया है। यहाँ पर ‘शैली’ शब्द का प्रयोग किसी सूत्र की व्याख्या-पद्धति के लिए किया जान पड़ता है। अतः संस्कृत में ‘शैली’ अपने प्रारम्भिक प्रयोग में सम्भवतः आलोचनात्मक ग्रन्थों की रचना-प्रणाली के अर्थ में ही स्वीकार की गयी थी। साधारणतया संस्कृत में काव्य-रचना-शैली के लिए ‘रीति’ शब्द का ही व्यापक प्रयोग मिलता है।

रीति के नियामक—लेखक अपने अभीष्ट विषय के लिए कुछ विशेष काव्य-साधनों को दृष्टि में रखकर विभिन्न रीतियों में से उपयुक्त रीति का चुनाव करते हैं

यही काव्य-साधन रीति के नियामक कहलाते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने निम्नलिखित नियामकों का उल्लेख किया है—

१. वक्तृ औचित्य ।
२. विषयोचित्य ।
३. वाच्योचित्य ।
४. रसोचित्य ।

प्रत्येक लेखक की अपनी विशिष्ट रुचि होती है। अपनी रुचि के अनुसार ही वे रीति का निर्वाचन करते हैं। स्वभाव और शैली के सामञ्जस्य को आनन्दवर्धनाचार्य ने वक्तृ औचित्य कहा है। वक्तृ का तात्पर्य वक्ता या लेखक से है। उदाहरण के लिए भक्ति-काल के वैष्णव-भक्त कवियों की वाणी में स्वभावगत कोमलता, दैन्य और प्रपत्ति आदि का भाव देखा जाता है। इसके अनुरूप ही उन्होंने कोमलकान्त पदावली से युक्त ब्रजभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया है। इसके विपरीत रीति-कालीन कवियों की वाणी में वर्तमान भौतिक ऐश्वर्य और शृङ्गारप्रियता की पराकाष्ठा उनकी शृङ्गारी रुचि के साक्षी हैं। आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार रसभाव से युक्त कवि या पात्र द्वारा असमास या मध्यसमास वाली संघटनाएँ प्रयुक्त की जानी चाहिएँ।

काव्य के विशिष्ट प्रकार या विषय के अनुसार भी शैली या रीति का नियोजन होता है। आचार्य मम्मट ने लिखा है—

“आख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृण वर्णादयः । कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्त-
मुद्धता । नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घ समासादयः” (का० प्र०, पृ० ३०४)

अर्थात् शृङ्गारप्रधान कहानी में मसृण वर्णों का और रौद्र रस प्रधान कहानी में उद्धृत वर्णों का प्रयोग न्यायसंगत नहीं तथा रौद्र रस प्रधान नाटक में भी दीर्घसमास रचना का प्रयोग कदापि नहीं किया जाना चाहिए ।

विषय का अर्थ यहाँ पर काव्य के विभिन्न स्वरूप या भेद है। कवि या लेखक इन्हीं रूपों को दृष्टि में रखकर रीति का विधान करते हैं। जिस रीति से रचना अधिक से अधिक बोधगम्य हो सके उसी रीति का निर्वाचन भी करना चाहिए ।

रीति निर्वाचन में वाच्योचित्य का भी महत्त्व है। वाच्य या वस्तु भी अनेक प्रकार के होते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है—

“वाच्यं ध्वन्यात्मरसाङ्ग रसाभासाङ्गवा, अभिनेयार्थम् अनभिनेयार्थं उत्तम-
प्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्” (ध्वन्यालोक, पृ० १३८)

अर्थात् कोई कथनीय वस्तु ध्वनिभूत रस का या रसाभास का अंग होती है। कोई अभि-नय के योग्य होती और कोई नहीं। इसी तरह कुछ वस्तुएँ उत्तम प्रकृति की और कुछ अधम प्रकृति की होती हैं। इस प्रकार वस्तुएँ नाना प्रकार की होती हैं।

लेखक को वस्तु के विविध स्वरूपों के अनुकूल ही रीति का प्रयोग करना चाहिए ।

रसौचित्य रीति का चतुर्थ नियामक है। कवि जिस रस को अपनी रचना में स्थान देते हैं उसके अनुरूप ही उनको रीति का भी प्रयोग करना चाहिए अन्यथा रस का पूर्ण विस्तार न हो सकेगा। जैसे आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार करुण और शृङ्गार में असमास रीति तथा वीर और रौद्र रसों में दीर्घ समास रीति का प्रयोग किया जाना चाहिए।

वृत्ति

वृत्ति का स्वरूप और परिभाषा—वृत्ति शब्द 'वृत्' वर्तने घातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है। वर्तन का अर्थ जीवन होता है। वृत्ति जीवन का वह व्यापार है जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि में सहायता मिलती है। वृत्ति का उल्लेख भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में किया गया है। नाटक में जीवन-व्यापारों का ही अनुकरण किया जाता है इसलिए नाटक के आवश्यक अंग के रूप में वृत्तियों का विचार किया गया है। किन्तु बाद में आचार्यों ने काव्य में भी वृत्तियों का समावेश किया है। अभिनवगुप्त के मतानुसार समस्त संसार प्रमुख चार वृत्तियों से व्याप्त है—

“आस्तां काव्यार्थः, सर्वो हिः संसारः वृत्तिचतुष्केन व्याप्तः”

(अभिनव भारती)

अभिनवगुप्त ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

“काव्याद् मनसां चेष्टा एव सह वंचित्र्येण वृत्तयः”

अर्थात् नाटक और काव्य के नायक और पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ या व्यापार वंचित्र्य वृत्तियाँ कहलाती हैं।

आनन्दवर्धनाचार्य और धनञ्जय ने भी वृत्ति को व्यापार कहा है—

‘व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते’

—ध्वन्यालोक २।३३

‘तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः’।

जीवन के इन वृत्ति रूप व्यापार विशेषों से जब कवि या नाटककार का हृदय संकुलित होता है तभी वह साहित्य की सृष्टि करता है इसलिए वृत्तियाँ नाटक या काव्य की जननी कही गई हैं। भरत मुनि ने लिखा है—

“सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृतः”

—ना० शा० २०।४

“एवमेते बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः”

—ना० शा० २२।६४

नाट्यदर्पणकार आचार्य रामचन्द्र ने अभिनवगुप्त के अनुकरण पर वृत्तियों के मातृत्व को स्वीकार किया है।

वृत्तियों का उद्भव—वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक रोचक कथाएँ दी गई हैं। ये कथाएँ बृहन्नव मत और शैब मत—इन दो मतों के आधार पर हैं। नाट्यशास्त्र में इन दोनों का उल्लेख है। बृहन्नव मतानुयायी वृत्तियों का उद्भव प्रलय

के समय भगवान् विष्णु और मधु कैटभ राक्षस के युद्ध से बतलाते हैं। युद्ध के समय विष्णु की चार प्रकार की चेष्टाओं से नाटक की चार वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। शैव मतानुयायी भगवान् शंकर द्वारा तीन वृत्तियों की उत्पत्ति मानते हैं। कौशिकी वृत्ति को वे ब्रह्मा की आज्ञा से शृङ्गार रस से उत्पन्न हुआ बताते हैं। शारदातनय ने एक भिन्न ही कथा की कल्पना की है। उनका मत है कि शिव-पार्वती के तांडव और लास्य नृत्य को देखते हुए ब्रह्मा जी ने अपने चारों मुखों से चारों रसों के साथ चार वृत्तियों की उत्पत्ति की। किन्तु इस कथा का उल्लेख और कहीं नहीं मिलता। राजशेखर ने इस विषय में एक अन्य ही रोचक कथा कल्पित की है। वह लिखते हैं कि साहित्य-बधू अपने प्रियतम काव्य-पुरुष की खोज में विचित्र वेश, विलास और भाव धारण करती है। उसके वेश से प्रवृत्ति, विलास से वृत्ति और वचन से रीति का उद्भव होता है—

“वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः वचनविन्यासक्रमो रीतिः”

इस कथा का उल्लेख रीति प्रकरण में भी किया जा चुका है। इस प्रकार राजशेखर ने प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति तीनों का सामञ्जस्य स्थापित किया है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कथित चारों वृत्तियों की उत्पत्ति चारों वेदों से मानी है—

“ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिः यजुर्वेदात् सात्वती

कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा” —ना० शा० २२।२४

नाटक में वृत्तियाँ—नाटक में भरत मुनि ने चार प्रकार की वृत्तियाँ मानी हैं—भारती, सात्वती, कौशिकी और आरभटी। यह चारों वृत्तियाँ दो भागों में विभक्त की गई हैं। शब्दवृत्ति अर्थवृत्ति। शब्दवृत्ति में भारती वृत्ति आती है क्योंकि इसमें शब्दों की बहुलता रहती है। अर्थवृत्ति में अन्य तीन वृत्तियाँ आती हैं। इनका सम्बन्ध रस वस्तु और भाव से होता है।

भारती वृत्ति—भरत मुनि ने भारती वृत्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

“या वाग्प्रधाना पुरुष-प्रयोज्या,

स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।

स्वनामधेयंभरतः प्रयुक्ता,

सा भारती नाम भवेत् वृत्ति ॥”

—ना० शा० २२।२४

अर्थात् वह शब्दबहुला संस्कृत वाणी जो पुरुष पात्रों द्वारा प्रयुक्त की जाती है और स्त्री पात्रों के लिए वर्जित है तथा नटों (भारतः) द्वारा प्रयुक्त की होती है उसे भारती वृत्ति कहते हैं।

अभिनवगुप्त ने भी इसे वाग्विकल्पा (भारती वाग्वृत्तिः) कहा है। पं० बलदेव उपाध्याय ने इस वृत्ति का स्त्री पात्रों के लिए वर्जित होने के सम्बन्ध में दो कारण कल्पित किए हैं—एक तो यह कि यह नाटक विकास के आरम्भ युग में नाटकों

में जब पात्र नहीं रहते थे उस समय नाटक में समाविष्ट की गई थी। अतः पुरुषों द्वारा ही यह वृत्ति प्रयुक्त होती रही। दूसरा यह कि भारती वृत्ति में शब्दों की बहुलता रहती है। स्त्रियाँ अपनी स्वाभाविक लज्जाशीलता के कारण शब्दाधिक्य के स्थान पर आंगिक चेष्टाओं द्वारा अपनी भावनाओं को व्यक्त करती हैं। किन्तु परवर्ती नाटकों में इस प्रकार नियम नहीं रहा। भरत मुनि ने भारती वृत्ति को केवल करुण और अद्भुत रस में प्रयुक्त होना कहा है—

“भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया” —ना० शा० २२।६६

किन्तु शारदातनय ने सभी रसों में इसकी स्थिति सम्भव मानी है—“वृत्तिः सर्वत्र भारती।” —भावप्रकाशन, पृ० १२

भारती वृत्ति की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ हैं। नाट्यशास्त्र में दो कथाओं का उल्लेख है—

१. मधु और कैटभ नामक राक्षसों ने परस्पर युद्ध करते हुए जिस प्रगल्भ वाणी का प्रयोग किया था उसी को भारती वृत्ति कहते हैं—

‘भारतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति’ —ना० शा० २२।६

२. मधु कैटभ से युद्ध करते हुए भगवान् विष्णु के पृथ्वी पर किए गए पदाघात के भार से भारती वृत्ति का जन्म हुआ—

“भूकिसंस्थान संयोगः पदन्यासैस्तदा हरेः
अति भारोऽभवद्भूमेः भारती तत्र निर्मिता”

—ना० शा० २१।११

शिङ्गभूपाल ने भारती नाम की कल्पना इस प्रकार की है—

“प्रयुक्तत्वेन भरतैः भारतीति निगद्यते”

—रसार्णव १।१६१

अर्थात् भरतों या नटों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे भारती वृत्ति कहते हैं।

धनञ्जय ने भी इसी प्रकार लिखा है—

“भारती संस्कृतप्रायो वाग्ध्यापारो नटाश्रयो।”

—दशरूपक ३।५

अर्थात् नटों के संस्कृत गभित वाग्-ध्यापार के कारण इस वृत्ति को भारती कहते हैं। भारत नट को कहते हैं।

विश्वनाथ ने ‘नटाश्रयः’ के स्थान पर ‘नराश्रयः’ कहा है—

“भारती संस्कृतप्रायो वाग्ध्यापारो नराश्रयः।”

—साहित्यदर्पण, छाठा परिच्छेद

अर्थात् पुरुष पात्रों द्वारा प्रयुक्त संस्कृत वाणी का प्रयोग किया जाना भारती वृत्ति है। आचार्य केशवदास ने उसका स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया है—

“वरणो जामे वीर रस अरु अद्भुत रस हास
कहि केशव शुभ अर्थ जहँ सो भारती प्रकाश ।”

—रसिकप्रिया से

भारती वृत्ति के चार भेद बताए गए हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख । जहाँ पर प्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा करते हुए श्रोताओं को उन्मुख किया जाता है वहाँ प्ररोचना नामक भेद होता है । वीथी एक प्रकार का रूपक है । इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है किन्तु स्पर्श दूसरे रसों का भी होता है । इसमें अंगों की पंक्ति भाग के समान होती है । प्रहसन भी एक प्रकार का रूपक होता है । यह भाग से मित्रता-जुलता है । आमुख में परिपार्श्विक या विदूषक से सूत्रधार बात-चीत करता है और चित्रोक्ति के द्वारा अपने कार्य का प्रस्तुत से आक्षेप भी करता है ।

सात्त्वती वृत्ति—सात्त्वती वृत्ति का लक्षण इस प्रकार है—

“या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता
न्यायेन वृत्तेन समन्विता च
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा
सा सात्त्वती नाम भवेत् वृत्तिः ।

—नाट्यशास्त्र २२।३८

अर्थात् यह वृत्ति सत्त्वगुण प्रधान होती है और न्याय वृत्ति से युक्त रहती है । इसमें हर्ष की प्रचुरता और शोक का अभाव होता है ।

सत्त्वगुण प्रधाना होने के कारण यह वृत्ति सात्त्विक वृत्ति वाले पुरुषों द्वारा प्रयुक्त की जाती है । अभिनवगुप्त ने इस वृत्ति को सत्त्वशाली मन से सम्बन्धित, माना है—

“मनो व्यापाररूपा सात्त्विकी सात्त्वती ।”

—अ० भा० पृ० २०

भरत मुनि ने प्रमुख रूप से वीर तथा रौद्र रसों में और कभी-कभी करुण और शृंगार में भी सात्त्वती वृत्ति की अभीष्टता सिद्ध की है । इस वृत्ति वाले पुरुष न्यायी युद्धप्रिय और उद्धत प्रवृत्ति के होते हैं—

“वीराद्भुतरीद्ररसा विज्ञेयाः ह्यल्पकरुणशृङ्गारा,
उद्धतपुरुषप्राया परस्परधर्षण कृता च ॥”

—ना० शा० २२।४०

सत्त्वगुण प्रधान धीरोदात्त नायक में इस वृत्ति का विकास होता है । आचार्य केशवदास ने उसका निरूपण इस प्रकार किया है—

“अद्भुत वीर शृङ्गाररस समरस वरणि समान ।
सुनतहि समुभक्त भाव जिहि सो सात्त्विकी सुजान ॥”

—रसिकप्रिया से

सात्वती वृत्ति चार प्रकार की होती हैं—

१. उत्थापक ।
२. परिवर्तक ।
३. संलापक ।
४. संघातक ।

उत्थापक वहाँ पर होता है जहाँ पर युद्ध के लिए शत्रु को उत्तेजित किया जाता है । प्रारम्भ किए हुए उद्योग वाले कार्य का परित्याग कर अन्य कार्य को करना परिवर्तक कहलाता है । अनेक प्रकार के भावों और रसों से युक्त परस्पर गम्भीर उक्ति को संलापक कहते हैं । मन्त्र अर्थ या दैव की शक्ति से संध भेदन को संघातक कहा जाता है—

कैशिकी वृत्ति—कैशिकी वृत्ति का लक्षण देते हुए भरत मुनि ने लिखा है—

“या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा

स्त्रीसंयुता या बहु-नृत्यगीता

कामोपभोगप्रभवापचारा

तां कैशिकी वृत्तिमुदाहरन्ति ॥” —ना० शा० २२।४७

अर्थात् जो विशेष प्रकार के नेपथ्य से चित्रित की गई हो, स्त्री पात्रों की तथा नृत्यगीत की बहुलता और कामोपभोग से युक्त हो उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं ।

कैशिकी शब्द केश से बना है । इस वृत्ति की उत्पत्ति भगवान् विष्णु द्वारा अपने केशों को बाँधे जाने वाले व्यापार से हुई है । मधुकैटभ से युद्ध करते समय अंगों के विचित्र हव-भाव के साथ विष्णु जी ने अपने केशों को बाँधा था—

“विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमुद्भवं ।

बबन्ध यत् शिखापाशं कैशिकी तत्र निमिता ॥”

—ना० शा० २१।१३

अभिनवगुप्त ने इसकी उत्पत्ति का दूसरा कारण माना है—

“केशाः किञ्चिदपि अर्थक्रिया जातम् अकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिनः ।

तद्वत् सौन्दर्योपयोगिव्यापारः कैशिकीवृत्तिरिति तावन्मुख्यः क्रमः ॥”

अर्थात् केश का सम्बन्ध अर्थक्रिया से न होते हुए भी वे शरीर शोभा के वर्धक हैं । अतः नाटक में इन शोभा के हेतु जो व्यापार किया जाता है वही कैशिकी वृत्ति है ।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र ने कैशिक का अर्थ स्त्री किया है । यह वृत्ति स्त्रियों के उपयुक्त होने के कारण कैशिकी कहलाई है—

“अतिशायिनः केशाः सप्ति आसु, इति कैशिकाः स्त्रियः । स्तनकेशवतीति स्त्रीणां लक्षणम् । तत्प्रधानत्वात् तासामपि कैशिकी ।” —नाट्यदर्पण पृ० १५७

मल्लिनाथ ने केशों से कैशिकी की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है—

“केशानां समूहः कैशिकम् कैशिकवत् भवत्वात् सुमनोभिः विचित्रत्वात् कैशिकी-योगोऽपि ब्रह्मण्यः ।

—संगीत रत्नाकर टीका

“वरणो जामे वीर रस अरु अद्भुत रस हास
कहि केशव शुभ अर्थ जहँ सो भारती प्रकाश ।”

—रसिकप्रिया से

भारती वृत्ति के चार भेद बताए गए हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और ग्रामुख । जहाँ पर प्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा करते हुए श्रोताओं को उन्मुख किया जाता है वहाँ प्ररोचना नामक भेद होता है । वीथी एक प्रकार का रूपक है । इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है किन्तु स्पर्श दूसरे रसों का भी होता है । इसमें अंगों की पंक्ति भाण के समान होती है । प्रहसन भी एक प्रकार का रूपक होता है । यह भाण से मित्रता-जुलता है । ग्रामुख में परिपाश्विक या विदूषक से सूत्रधार बात-चीत करता है और चित्रोक्ति के द्वारा अपने कार्य का प्रस्तुत से आक्षेप भी करता है ।

सात्त्वती वृत्ति—सात्त्वती वृत्ति का लक्षण इस प्रकार है—

“या सात्त्वतेनेह गुरोर्न युक्ता
न्यायेन वृत्तेन समन्विता च
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा
सा सात्त्वती नाम भवेत् वृत्तिः ।

—नाट्यशास्त्र २२।३८

अर्थात् यह वृत्ति सत्त्वगुण प्रधान होती है और न्याय वृत्ति से युक्त रहती है । इसमें हर्ष की प्रचुरता और शोक का अभाव होता है ।

सत्त्वगुण प्रधाना होने के कारण यह वृत्ति सात्त्विक वृत्ति वाले पुरुषों द्वारा प्रयुक्त की जाती है । अभिनवगुप्त ने इस वृत्ति को सत्त्वशाली मन से सम्बन्धित, माना है—

“मनो व्यापाररूपा सात्त्विकी सात्त्वती ।”

—अ० भा० पृ० २०

भरत मुनि ने प्रमुख रूप से वीर तथा रौद्र रसों में और कभी-कभी करुण और शृंगार में भी सात्त्वती वृत्ति की अभीष्टता सिद्ध की है । इस वृत्ति वाले पुरुष न्यायी युद्धप्रिय और उद्धत प्रवृत्ति के होते हैं—

“वीराद्भुतरीद्ररसा विज्ञेयाः ह्याल्पकरुणशृङ्गारा,
उद्धतपुरुषप्राया परस्परधर्षण कृता च ॥”

—ना० शा० २२।४०

सत्त्वगुण प्रधान धीरोदात्त नायक में इस वृत्ति का विकास होता है । आचार्य केशवदास ने उसका निरूपण इस प्रकार किया है—

“अद्भुत वीर शृङ्गाररस समरस वरणि समान ।
सुनतहि समुक्त भाव जिहि सो सात्त्विकी सुजान ॥”

—रसिकप्रिया से

सात्त्वती वृत्ति चार प्रकार की होती हैं—

१. उत्थापक ।
२. परिवर्तक ।
३. संलापक ।
४. संघातक ।

उत्थापक वहाँ पर होता है जहाँ पर युद्ध के लिए शत्रु को उत्तेजित किया जाता है । प्रारम्भ किए हुए उद्योग वाले कार्य का परित्याग कर अन्य कार्य को करना परिवर्तक कहलाता है । अनेक प्रकार के भावों और रसों से युक्त परस्पर गम्भीर उक्ति को संलापक कहते हैं । मन्त्र अर्थ या दैव की शक्ति से संध भेदन को संघातक कहा जाता है—

कैशिकी वृत्ति—कैशिकी वृत्ति का लक्षण देते हुए भरत मुनि ने लिखा है—

“या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा

स्त्रीसंयुता या बहु-नृत्तगीता

कामोपभोगप्रभवापचारा

तां कैशिकी वृत्तिमुदाहरन्ति ॥” —ना० शा० २२।४७

अर्थात् जो विशेष प्रकार के नेपथ्य से चित्रित की गई हो, स्त्री पात्रों की तथा नृत्तगीत की बहुलता और कामोपभोग से युक्त हो उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं ।

कैशिकी शब्द केश से बना है । इस वृत्ति की उत्पत्ति भगवान् विष्णु द्वारा अपने केशों को बाँधे जाने वाले व्यापार से हुई है । मधुकैटभ से युद्ध करते समय अंगों के विचित्र हाव-भाव के साथ विष्णु जी ने अपने केशों को बाँधा था—

“विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमुद्भवं ।

बबन्ध यत् शिलापाशं कैशिकी तत्र निमिता ॥”

—ना० शा० २१।१३

अभिनवगुप्त ने इसकी उत्पत्ति का दूसरा कारण माना है—

“केशाः किञ्चिदपि अर्थक्रिया जातम् अकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिनः ।

तद्वत् सौन्दर्योपयोगिव्यापारः कैशिकीवृत्तिरिति तावन्मुख्यः क्रमः ॥”

अर्थात् केश का सम्बन्ध अर्थक्रिया से न होते हुए भी वे शरीर शोभा के वर्धक हैं । अतः नाटक में इन शोभा के हेतु जो व्यापार किया जाता है वही कैशिकी वृत्ति है ।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र ने कैशिक का अर्थ स्त्री किया है । यह वृत्ति स्त्रियों के उपयुक्त होने के कारण कैशिकी कहलाई है—

“अतिशायिनः केशाः सन्ति आसु, इति कैशिकाः स्त्रियः । स्तनकेशवतीति स्त्रीणां लक्षणम् । तत्प्रधानत्वात् तासांमियं कैशिकी ।” —नाट्यदर्पण पृ० १५७

मल्लिनाथ ने केशों से कैशिकी की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है—

“केशानां समूहः कैशिकम् कैशिकवत् मधुत्वात् सुमनोभिः विचित्रत्वात् कैशिकी-

योगोऽपि ब्रह्मव्यः ।

—संगीत रत्नाकर टीका

कैशिकी वृत्ति लालित्य और नृत्य-गीत प्रधान होती है। इसीलिए भरत मुनि के मतानुसार इसकी उत्पत्ति संगीतप्रधान सामवेद से हुई है। पहले नाटक में तीन ही वृत्तियाँ थीं। कैशिकी के अभाव में नाटक नीरस था अतः सुरगुरु की आज्ञा से ब्रह्मा ने कैशिक वृत्ति उत्पन्न की—

“मृदंग हार-सम्पन्ना रसभावक्रियात्मिका
दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः
कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृंगार सम्भवा
अशक्या पुरुषैः साधु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते”

—ना० शास्त्र १।४५।४६

अर्थात् नीलकण्ठ शिव के नृत्य के अवसर पर मैंने कैशिकी वृत्ति को देखा। अपनी ललित वेशभूषा और शृङ्गार तथा कोमलता के कारण पुरुष इस वृत्ति को नहीं धारण कर सकते। इसलिए ब्रह्मा ने नाटक में अप्सराओं का निर्माण किया।

डा० राघवन ने रीतियों के समान वृत्तियों का सम्बन्ध भी प्रान्त विशेष की प्रवृत्ति से बताते हुए विदर्भ-देश में कैशिक वृत्ति की उत्पत्ति मानी है। विदर्भ-देश अपनी सौन्दर्यप्रियता और ललित कला के लिए प्रसिद्ध था। कैशिकी वृत्ति और वंदर्भी रीति का सामंजस्य इसीलिये किया गया है। आचार्य केशवदास ने भी लिखा है—

“कहिए केशवदास जहँ करुण हास शृङ्गार ।
सरल वरण शुभ भाव जहँ सो कैशिकी विचार ॥”

अभिनवगुप्त ने इस वृत्ति का सम्बन्ध मृदुकायिक चेष्टा से माना है। इसके चार भेद हैं—

१. नर्म ।
२. नर्मस्फूर्ज ।
३. नर्मस्फोट ।
४. नर्मगर्भ ।

नर्म उस विदग्ध क्रीड़ा को कहते हैं जिसमें प्रिय के आवर्जन की चेष्टा की गई हो। प्रथम समागम में यदि प्रारम्भ में सुख हो और अन्त में भय हो तो उसे नर्म स्फूर्ज कहते हैं। नर्मस्फोट में भावों के कुछ अंशों के द्वारा थोड़ा-सा रस सूचित किया जाता है। किसी प्रयोजन की सिद्धि के हेतु नायक का प्रच्छन्न प्रवेश नर्म-गर्भ कहा जाता है।

आरभटी वृत्ति—आरभटी वृत्ति का लक्षण भरत मुनि ने इस प्रकार दिया है—

“प्रस्तावपातप्लुतलङ्घितानि
चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्
चित्रानि युक्तानि च यत्र नित्यं,
तां तादृशीमारभटीं वदन्ति ।”

ना० शा० २२।५७

अर्थात् जहाँ उछलने, कूदने, गिरने, लाँघने आदि के विचित्र चित्र हों और मामायाजनित इन्द्रजाल के दृश्य हों वहाँ आरभटी वृत्ति होती है।

आरभटी शब्द की व्युत्पत्ति अर् शब्द से हुई है, इसका अर्थ है उत्साह। आरभटी का अर्थ वीर योद्धा होता है। अभिनवगुप्त ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—
“इयति इति अराः भटाः सोत्साहा अनलसाः। तेषामियं आरभटी।”

वे इसका सम्बन्ध उग्र कायिक चेष्टा से ध्वनित करते हैं। राक्षस तथा असुर आदि धीरोद्धत नायक नाटक में इसी वृत्ति में दिखाए जाते हैं। सात्त्वती वृत्ति में उत्साह और वीरता आदि का प्रदर्शन धीरोदात्त नायक के अनुकूल होता है, किन्तु आरभटी में वीरता और उत्साह तमोगुणप्रधान, ऐन्द्रजालिकी और अन्यायपूर्ण होते हैं। इसीलिए इस वृत्ति को भयानक और बीभत्स रसों में स्थान दिया गया है—

“भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत्।”

—ना० शा०

अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन आदि ऐन्द्रजालिक क्रियाओं का निर्देश किया गया है। भरत मुनि ने इस वृत्ति की उत्पत्ति अथर्ववेद से ही मानी है। वंणव मतानुयायी इसकी उत्पत्ति मधुकैटभ से विष्णु भगवान् के विचित्र युद्ध से मानते हैं। रीतिकालीन आचार्य केशव ने इसका स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है—

केशव जामे रुद्र रस भय बीभत्सक जान।

आरभटी आरम्भ यह पद पद जमक बखान ॥

आरभटी वृत्ति चार प्रकार की होती है—

१. संक्षिप्तक।
२. अवघातक।
३. वस्तुस्थापन।
४. संकेत।

वृत्ति संख्या के सम्बन्ध में कुछ अन्य मत—नाटक में प्रमुख रूप से तो चार वृत्तियाँ ही मानी गई हैं, परन्तु कुछ आचार्यों ने इस संख्या के विषय में भी विरोध किया है। वृत्ति संख्या के सम्बन्ध में अन्य तीन मत प्रमुख हैं—अभिनवगुप्त ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

“द्वैतिलः पञ्चेति निराकरणाय चतस्र इत्युक्ता।”

—अभिनवभारती टीका, पृ० २७१

इस प्रकार वृत्ति-परिचय देते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि कहीं दो वृत्तियाँ; कहीं तीन और कहीं पाँच वृत्तियों का उल्लेख भी मिलता है। दो वृत्ति मानने वाले आचार्य का नाम ज्ञात नहीं हो सका, किन्तु अनुमानतः यह वृत्तियाँ भारती तथा सात्त्वती रही हों। एक वाक्प्रधान, दूसरी चेष्टाप्रधान। क्रमशः लालित्य और ओद्धत्य की प्रतीक कंशिकी और आरभटी भी हो सकती हैं।

नाटक में तीन वृत्तियाँ मानने वाले प्रमुख आचार्य अलंकारवादी उद्धृत हैं। इनके अनुसार वृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१. न्यायवृत्ति ।
२. अन्यायवृत्ति ।
३. फलसंवित्ति ।

यह विभाजन चेष्टा और निश्चेष्ट दो अवस्थाओं के आधार पर किया गया है। चेष्टा या व्यापार दो प्रकार का होता है—न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण। प्रथम दोनों वृत्तियाँ इन्हीं दोनों व्यापारों के अनुकूल हैं। फलसंवित्ति निश्चेष्ट अवस्था है। इसमें पूर्वकृत व्यापारों का फल प्राप्त होता है। भट्ट लोल्लट ने निश्चेष्ट स्थिति को वृत्ति नहीं माना है। प्रथम दो वृत्तियों की भी उन्होंने आलोचना की है।

नाटक में पाँच वृत्तियाँ मानने वाले आचार्यों में अभिनवगुप्त विशेष प्रसिद्ध हैं। उन्होंने शकलीगर्भ का एक नाम और उद्धृत किया है।

शकलीगर्भ ने भरत मुनि द्वारा मान्य चारों वृत्तियाँ स्वीकार कीं। इसके अतिरिक्त आत्मसंवित्ति नामक एक पाँचवीं वृत्ति भी प्रस्तुत की है। यह वृत्ति मूर्छा या मृत-अवस्था की होती है। अद्वैत वेदान्ती इन दोनों अवस्थाओं में भी आत्मज्ञान रूप व्यापार का होना मानते हैं। भट्ट लोल्लट ने इसका भी विरोध किया है। वे आत्मज्ञान की स्थिति तो मानते हैं, परन्तु नाटक में इस दार्शनिक सिद्धान्त को स्थान नहीं देते। नाटक में केवल मूर्त रूपों की ही योजना होनी चाहिए अन्यथा दर्शक रसा-स्वादन नहीं कर सकेंगे। अभिनवगुप्त ने भी इन सभी वृत्तियों का विरोध कर भरत-मुनि द्वारा निर्देशित वृत्तियों को ही नाटक के उपयुक्त सिद्ध किया है।

काव्य और वृत्ति—नाटक के समान काव्य में भी वृत्तियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। लगभग ११वीं शताब्दी के पूर्व तक काव्य में वृत्ति विचार अनुप्रास भेद के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से होता रहा। किन्तु इसके बाद के आचार्यों ने वृत्ति और रीति में सामञ्जस्य स्थापित कर रीति के साथ ही वृत्ति का विवेचन किया है। प्राचीन अलंकार-शास्त्र में वृत्ति विवेचन तीन रूपों में दृष्टिगत होता है—

१. अनुप्रास जाति ।
२. समास जाति ।
३. नाट्य वृत्ति ।

अनुप्रास और उसके भेदों का वर्णन करते समय भामह, उद्धृत आदि ने वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत तीन प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है—

१. परुषा—इसमें रेफ 'स' श आदि परुष वर्णों की बहुलता होती है।
२. उपनागरिका—इसमें नागरिक वनिता के समान मंजे हुए वर्ण रहते हैं।
३. ग्राम्या या कोमला में कोमल वर्णों की अधिकता रहती है।

●मन्दवधनाचार्य ने वृत्तियों पर मौलिक रूप से विचार किया है। उन्होंने इनका स्वतन्त्र विवेचन न करके रीति-विवेचन के 'संघटना' में ही इनका समावेश कर दिया है। उपर्युक्त तीनों वृत्तियों को शब्दगत और नाट्यवृत्तियों को अर्थगत मानकर काव्य-लक्षण में उनका महत्त्व स्थिर किया है—

“शब्दतत्त्वाध्यायाः कश्चिद् अर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।

वृत्तायोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥”

—ध्वन्यालोक ३।४८

अभिनवगुप्त, मम्मट आदि परवर्ती सभी आचार्यों ने रीति और वृत्ति के सामञ्जस्य को स्वीकार कर उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों को क्रमशः बँदभी, गौड़ी और पांचाली रीतियों के नाम से अभिहित किया है। भोजराज ने एक स्थल पर बारह प्रकार की वृत्तियों का स्वतन्त्र विवेचन किया था किन्तु बाद में उन्होंने उनका समावेश गुणों और नाट्यवृत्तियों में ही कर दिया है। हेमचन्द्र ने इन तीनों वृत्तियों को अनुप्रास जाति के स्थान पर वर्णसंघटना कहा है।

आचार्य रुद्रट ने वृत्ति विचार बाणभट्ट की कादम्बरी की इन पंक्ति के आधार पर किया है—

“असमस्तपदवृत्तिमिव अद्वन्द्वाम् ।”

रुद्रट समासयुक्त पदों की संघटना को वृत्ति मानते हैं। यह वृत्ति दो प्रकार की होती है—

१. असमस्ता—समासरहित सत्ता वाले पद। यह एक ही प्रकार का होता है, उसी को बँदभी रीति कहते हैं।

“वृत्तेरसमासाया बँदभी रीतिरेकैव ।”

—काव्यालंकार

२. समस्ता—समासयुक्त पद—यह तीन प्रकार के होते हैं—पांचाली, लाटीया और गौडीया। इस प्रकार रुद्रट ने भी वृत्ति को रीति का ही प्रतिरूप माना है। उद्भट आदि का अनुप्रास जाति वाला विवेचन भी रुद्रट को मान्य था। किन्तु इन्होंने तीनों वृत्तियों के नवीन नामों की उद्भावना कर दो वृत्तियाँ और जोड़ दी हैं। वे पाँच वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने आठ वृत्तियों का उल्लेख किया है। रुद्रट की पाँच वृत्तियों के अतिरिक्त वे ओजस्विनी, निष्ठुरा और गम्भीरा वृत्तियों का निर्देश भी करते हैं।

चमत्कार सम्प्रदाय

चमत्कार शब्द का ऐतिहासिक विकास—भारतीय साहित्यशास्त्र में रस, ध्वनि आदि विविध विवेचनीय अंगों में चमत्कार का भी अपना विशिष्ट स्थान है। साहित्य में रस के समान चमत्कार शब्द भी पाकशास्त्र से ग्रहण किया गया है। पाकशास्त्र में

चमत्कार शब्द किसी स्वादिष्ट पदार्थ के आस्वादन के समय जिह्वा और ओष्ठ से उत्पन्न ध्वनि का वाचक था। अतः इससे आस्वादनजनित आनन्द का संकेत मिलता है। साहित्यशास्त्र में भी चमत्कार का आविर्भाव काव्यानन्द के व्यञ्जित अर्थ में ही हुआ है। काव्यानन्द के भी विभिन्न स्तर हैं। इस स्तर की सीमा वैयक्तिक रुचि और प्रतिभा पर अवलम्बित है। साधारणतया चमत्कार काव्य में दो रूपों में आनन्द का विधान करता है—

१. आश्चर्यपूर्ण उक्ति वैचित्र्य के रूप में।

२. अलौकिक काव्यानन्द के रूप में।

प्रथम रूप में चमत्कार संकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया गया है। चमत्कार शब्द का प्रारम्भिक, ऐतिहासिक विकास अधिक स्पष्ट नहीं है। अग्निपुराण में आत्मा, चमत्कार और रस को चैतन्य का समानार्थी बताया गया है—

“अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्,
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन,
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।”

साहित्यदर्पणकार के पूर्वज नारायण पण्डित ने चमत्कार का अर्थ चित्त विस्तार माना है। वे लिखते हैं—

“रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्”

चमत्कार को ही वे सर्व रसों का सार मानते हैं। अद्भुत या आश्चर्य रस में चमत्कार की स्थिति रहती है। इसीलिए वे अद्भुत रस को मूल रस कहते हैं। चमत्कार या चित्त विस्तार होने पर सर्वरसों की अनुभूति होती है। वामन, दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्यों ने भी चमत्कार को संकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया है। असामान्य उक्ति-वैचित्र्य को वे अलंकार मानते हैं। उक्ति-वैचित्र्य प्रधान अलंकार योजना से चमत्कारवाद का ही पक्ष ग्रहण किया है। हिन्दी आचार्यों में द्विवेदीजी ने चमत्कार का समर्थन करते हुए लिखा है—

‘शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना परम आवश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं, वलक्षण्य नहीं—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(रसज्ञ रञ्जन, पृ० २६)

आचार्य कवि केशवदास भी कोरे चमत्कारवाद के पोषक हैं। चमत्कार को इस रूप में ग्रहण करने वाले काव्य में रस की स्थिति भी मानते हैं, किन्तु उनके मतानुसार रस उक्ति-वैचित्र्य से ही प्रवाहित होता है। उनका उक्ति-वैचित्र्य भाव-प्रेरित नहीं बुद्धि-प्रेरित होता है। किन्तु भाव को गौण रूप देकर बुद्धि प्रधान कथन

भारतीय काव्यशास्त्र का विकास-क्रम

संस्कृत का काव्यशास्त्र—

काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ कौन है इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। अधिकांश विद्वान् 'नाट्यशास्त्र' को ही काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ मानते हैं। कीथ का कहना है कि पाणिनि से पहले किसी अलंकारसूत्र के अस्तित्व के चिह्न नहीं मिलते। केवल यास्क के निरुक्त के तीसरे अध्याय में कुछ अलंकारों के प्रयोग से ऐसा अनुमान किया जाता है कि काव्यशास्त्र के ग्रन्थ निरुक्त के समय में भी विद्यमान थे, किन्तु यह केवल अनुमान मात्र है और हम केवल अनुमान में विश्वास नहीं करते।

यदि हम कीथ का मत मान भी लें तो भी वररुचि और काश्यप आदि आचार्यों द्वारा प्रयुक्त अलंकारों के आधार पर यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि 'नाट्यशास्त्र' से पहले भी अलंकारशास्त्र का प्रचार था। इसके अतिरिक्त राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' के प्रमाण के आधार पर भी हम यही कह सकते हैं कि अलंकारशास्त्र का उदय 'नाट्यशास्त्र' से पहले हुआ था। राजशेखर ने भरत से पूर्व के अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है। इनमें सुवर्णनाभ, कचमार, नन्दिकेश्वर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नामों के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि वे काल्पनिक हैं। किन्तु इस मत का खण्डन नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ की उपलब्धि से हो गया है। यह ग्रन्थ इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित रखा है। जब एक आचार्य की प्रामाणिकता सिद्ध हो गई है तो अन्य आचार्यों को भी प्रामाणिक मानना पड़ेगा। इससे प्रकट है कि काव्यशास्त्र का उदय भरत मुनि से पहले बहुत काल पूर्व हो चुका था।

'काव्य-मीमांसा' के अतिरिक्त हमें बहुत से काव्यशास्त्र के आचार्यों का नामोल्लेख वात्स्यायन के कामसूत्र में भी मिलता है। इससे भी प्रकट होता है कि काव्यशास्त्र का उदय भरत मुनि के पहले हो चुका था। इनमें भरत मुनि ने काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य कोहल या नन्दिकेश्वर का उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है उनसे पहले नन्दिकेश्वर नामक आचार्य हो चुके थे। यदि हम डा० एस० के० डे के मतानुसार 'काव्य-मीमांसा' के उद्धरण को अप्रामाणिक भी मान लें तो भी हम 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर स्पष्ट कह सकते हैं कि काव्यशास्त्र का उदय भरत से पहले ही हो गया था। किन्तु इस समय उपलब्ध ग्रन्थों में 'नाट्यशास्त्र' ही काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है।

भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र'—(२०० B.C.) भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के

सम्बन्ध में विद्वानों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। कुछ लोग उसे आधुनिक रचना मानते हैं और कुछ प्राचीन। यहाँ पर इसीलिए हम सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' से सम्बन्धित मतों का उल्लेख करेंगे।

१—'काव्यप्रकाशादश' 'काव्यप्रकाश' पर लिखी हुई एक प्रसिद्ध टीका है। इस टीकाकार ने 'नाट्यशास्त्र' को 'अग्निपुराण' के बाद की रचना माना है। यह मत हमें समीचीन नहीं मालूम पड़ता क्योंकि 'अग्निपुराण' में भरतमुनि और उनके 'नाट्यशास्त्र' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अग्निपुराण ने 'भरतेन प्रणीतत्वात्' लिखकर स्पष्ट रूप से भरत को अपना पूर्ववर्ती ध्वनित किया है।

२—मैकडॉनल महोदय ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में 'नाट्यशास्त्र' को छठी शताब्दी की रचना सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु यह मत सारपूर्ण नहीं प्रतीत होता। कालिदास ने अपनी 'विक्रमोर्वशीय' में भरत मुनि का उल्लेख किया है। कालिदास ही क्यों भास के नाटक भी 'नाट्यशास्त्र' के नियमों की जानकारी प्रगट करते हैं। कालिदास और भास का युग निश्चित रूप से छठी शताब्दी के पूर्व का है। इसीलिए मैकडॉनल महोदय का मत निस्सार माना जाता है।

३—डॉ० डे ने अपने 'Sanskrit Poetics' नामक ग्रन्थ में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'नाट्यशास्त्र' एक व्यक्ति की रचना नहीं है। इसे अपना अन्तिम रूप आठवीं शताब्दी में प्राप्ति हुआ था। हमारी समझ में यह मत भी समीचीन नहीं है। डे साहब का तर्क है कि 'नाट्यशास्त्र' में हमें यवन शब्द मिलता है। यह शब्द बहुत परवर्ती है। अतएव यह रचना पूर्ण रूप से प्राचीन नहीं मानी जा सकती। इसका कुछ अंश अवश्य ही आठवीं शताब्दी के आस-पास का है। किन्तु उनका यह तर्क हमें बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यवन शब्द का उल्लेख रामायण और महाभारत में भी मिलता है, केवल इस आधार पर हम 'रामायण' और 'महाभारत' को आठवीं शताब्दी की रचना नहीं मान सकते। वैसे भी विद्वानों ने इन ग्रन्थों को ईसवी पूर्व की रचना माना है। इसी प्रकार हम 'नाट्यशास्त्र' को भी आठवीं शताब्दी का नहीं मान सकते।

४—काणे ने अपने 'साहित्य-दर्पण' की भूमिका में भरत का समय पहली शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी के मध्य में निश्चित किया है। उनका तर्क है कि कोहल ई० शताब्दी चौथी या पाँचवीं के आचार्य थे। भरत मुनि कोहल से पहले हुए थे। उन्होंने कुछ थोड़ी-सी कारिकाएँ लिखी थीं। शेष ग्रन्थ को इतना बृहत् रूप देने का श्रेय कोहल को ही है। (शेषः प्रस्तारेण कोहलः कथयिष्यति) किन्तु अब कोहल, तण्डु या नन्दिकेश्वर आचार्य के एक ग्रन्थ के उपलब्ध हो जाने पर जो India Office Library में सुरक्षित है, उसकी भाषा-शैली आदि को देखकर विद्वानों ने निश्चित किया है कि वह ई० शताब्दी के पूर्व की रचना है। ऐसी अवस्था में हम

‘नाट्यशास्त्र’ के रचना काल को आठवीं शताब्दी तक किसी प्रकार नहीं ले जा सकते ।

कारणे महोदय का दूसरा तर्क है कि दामोदर गुप्त ने अपने ‘कुट्टनीमत’ नामक ग्रन्थ में ‘नाट्यशास्त्र’ का रचनाकाल आठवीं शताब्दी के लगभग माना है । किन्तु ‘कुट्टनीमत’ नामक ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर हमें सन्देह है अतः उसके कथन को प्रामाणिक मानने के लिए हम प्रस्तुत नहीं हैं । कारणे महोदय ने अपने मत का पोषण हेमचन्द्र के ‘काव्यानुशासन’ के एक उल्लेख से भी किया है । ‘काव्यानुशासन’ में ‘नाट्य-शास्त्र’ को आठवीं शताब्दी की रचना माना गया है परन्तु काव्यानुशासन स्वयं एक आधुनिक रचना है । अतः हम उसके उल्लेख को प्रामाणिक नहीं मान सकते ।

५. महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने, जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९३० में एक लेख लिखा है, जिसमें ‘नाट्यशास्त्र’ को दूसरी शताब्दी ई० पू० की रचना सिद्ध करने की चेष्टा की है । यह मत हमें अधिक तर्कसंगत और समीचीन प्रतीत होता है । क्योंकि तण्डु नामक आचार्य के प्राप्त ग्रन्थ की रचना और शैली से भी यही प्रकट होता है कि वह दूसरी शताब्दी ई० पू० के आस-पास की रचना है । इनको हम चाहे भरत का शिष्य मानें या गुह, उसमें केवल ४०-५० वर्षों का ही अन्तर पड़ सकता है । प्रत्येक अवस्था में ‘नाट्यशास्त्र’ ई० पू० की रचना ही मानी जायेगी । कालिदास और भास आदि पर जो ‘नाट्यशास्त्र’ का प्रभाव दिखाई पड़ता है उससे भी यही प्रकट होता है कि उसकी रचना ईसवी शताब्दी पूर्व ही है ।

६. पीटरसन महोदय भी इसी मत के पोषक हैं । उन्होंने भी ‘नाट्यशास्त्र’ का रचना-काल ईसवी शताब्दी पूर्व ही निश्चित किया है ।

‘नाट्यशास्त्र’ के रचयिता—‘नाट्यशास्त्र’ के रचयिता के सम्बन्ध में भी विविध मत हैं । डा० एस० के० डे और कारणे साहब उसको किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं मानते । उनकी धारणा है कि भरत मुनि ने संक्षिप्त नाट्यशास्त्र लिखा था । आगे चलकर उसका विस्तार कोहल नामक आचार्य ने किया । आजकल जो ग्रन्थ उपलब्ध है वह कोहल नामक आचार्य का ही है, इस मत का खण्डन पीछे कर चुके हैं । जब भरत मुनि ने तण्डु या कोहल को अपना गुह स्वीकार किया है तो यह कैसे माना जा सकता है कि भरत ने संक्षिप्त ‘नाट्यशास्त्र’ की रचना की थी और उसका विस्तार कोहल ने किया । यदि हम नन्दिकेश्वर और कोहल को एक न माँ तब हम यह कह सकेंगे कि इसका विस्तार कोहल नामक आचार्य ने किया था । किन्तु अभी तक सर्वमान्य मत यही है कि तण्डु, कोहल तथा नन्दिकेश्वर एक थे । हम ‘नाट्यशास्त्र’ में उल्लिखित ‘शेषः प्रस्तारेण कोहलः कथयिष्यति’ इस वाक्यांश को प्रक्षिप्त मानने के ‘क्ष में हैं । दूसरे विद्वान् भी ‘नाट्यशास्त्र’ को भरतमुनि की रचना

ही मानते हैं। भाषा और शैली की समानता भी यही प्रकट करती है कि 'नाट्यशास्त्र' एक ही व्यक्ति की रचना है।

'नाट्यशास्त्र' में ३७ अध्याय हैं। छठे अध्याय में रस का विवेचन किया गया है। यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। चौदहवें में छन्दों का उल्लेख किया गया है और १६वें में चार अलंकारों का विवेचन है। १८वें में दशरूपकों की चर्चा की गई है और २०वें में नाट्यमान्तरः वृत्तियों का निरूपण मिलता है। २२वें में नायक-नायिका भेदों का निर्देश मिलता है। प्रमुख अध्याय यही है। अन्य अध्यायों में नाट्य के विविध प्रकारों का निरूपण मिलता है।

अग्निपुराण (२००-३०० A.D.)—'अग्निपुराण' के ३३७ से लेकर ३४७ अध्याय तक साहित्यशास्त्र का निरूपण मिलता है। डा० डे ने 'अग्निपुराण' को दण्डी और भामह के बाद की रचना सिद्ध करने की चेष्टा की है। दण्डी का समय छठी शताब्दी के आस-पास माना जाता है। भामह इसके कुछ और बाद में हुए थे। इसी आधार पर उन्होंने 'अग्निपुराण' का रचना-काल ७०० ई० से लेकर ९०० ई० तक निश्चित किया है। काणे महोदय ने उसका रचना-काल 'ध्वन्यालोक' के बाद निश्चित किया है। 'ध्वन्यालोक' का रचना-काल १४वीं शताब्दी माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके अनुसार यह चौदहवीं शताब्दी के बाद की रचना है। किन्तु हम उपर्युक्त दोनों विद्वानों के मतों से सहमत नहीं हैं। 'अग्निपुराण' में केवल १५ अलंकारों का उल्लेख किया गया है। भामह और दण्डी में हमें १५ से कहीं अधिक अलंकार मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रकट है कि भामह और दण्डी की रचनाएँ विस्तार काल से सम्बद्ध हैं। समय के प्रवाह के साथ अलंकारों का विकास होता गया है। 'नाट्यशास्त्र' में ४, अग्निपुराण में १५ तथा भामह और दण्डी में क्रमशः २३ और ३८ अलंकारों का विवेचन किया गया है। इन आचार्यों के बाद में अन्य आचार्यों ने इनका और भी विस्तार किया है। इनकी संख्या लगभग २०० के पहुँच गई। इस आधार पर भी हम 'अग्निपुराण' को दण्डी और भामह के बाद की रचना नहीं मान सकते। जब हम उसे छठी शताब्दी से पूर्व की रचना मानने के पक्ष में हैं तो फिर १५वीं शताब्दी वाला मत सामने आता ही नहीं है। हमारी समझ में 'अग्निपुराण' की रचना दूसरी-तीसरी शताब्दी के आस-पास हुई थी। कन्हैयालाल पोद्दार ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

कीथ आदि विद्वानों ने 'अग्निपुराण' की उपेक्षा की है किन्तु इससे हमें साहित्य की बहुत प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है। इसलिये इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मेघाविन् (400 A.D.)—इनका उल्लेख भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में, राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में बड़े समादर के साथ किया है किन्तु अभी तक इनका लिखा हुआ कोई काव्यशास्त्र का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। कुछ विद्वानों के

मतानुसार उत्प्रेक्षा अलंकार के सर्वप्रथम उद्भावक यह ही थे। परन्तु कीथ ने इस मत का खण्डन किया है।

दण्डी (600 A.D.)—दण्डी ने काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' लिखा है। इस ग्रन्थ में एक स्थल पर उन्होंने अपने को दक्षिण निवासी ध्वनित किया है। इनका विस्तृत जीवन-वृत्त अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। दण्डी के समय के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ विद्वान् दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती मानते हैं और कुछ परवर्ती। नृसिंहाचार्य ने जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी १९०५ के एक लेख में भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। किन्तु उनके इस मत का खण्डन जैकोबी, डा० डे, कीथ, कारो आदि विविध विद्वानों ने किया है। दण्डी की तिथि निश्चित करने में संस्कृत की महाकवयित्री बिज्जका बहुत सहायक सिद्ध हुई हैं। दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में सरस्वती की वन्दना करते हुए उसे सर्वशुक्ला कहा है। बिज्जका ने उसके इस कथन का खण्डन किया है। बिज्जका का समय ६६० ई० बताया जाता है। अतः दण्डी का समय लगभग ६०० ई० के होगा। हो सकता है कि ६२० ई० के आस-पास दण्डी वर्तमान हों।

मैक्समूलर ने अपने 'इण्डिया ब्हाट कैन् इट टीच अस' तथा मैकडानल ने अपने इतिहास में इसी मत की पुष्टि की है, किन्तु पीटरसन और जैकोबी इस मत से सहमत नहीं थे। उन्होंने लिखा है कि दण्डी अपने 'दशकुमारचरित' में कादम्बरी से प्रभावित हुए थे। अतएव उनका बाण के पश्चात् होना प्रकट होता है। बाण हर्ष के समकालीन थे। वे सातवीं शताब्दी के मध्य में वर्तमान थे। इस आधार पर जैकोबी ने इनका समय सातवीं शताब्दी निश्चित किया है। हमारी धारणा है कि जैकोबी का मत बहुत सारपूर्ण नहीं है। क्योंकि 'दशकुमारचरित' पर 'कादम्बरी' का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। भाषा और शैली का साम्य युग साम्य के कारण भी देखा जाता है। हमें बिज्जका के प्रमाण पर विश्वास करना पड़ेगा और इसी आधार पर दण्डी को छठी शताब्दी के अन्तिम चरण और सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण का कवि मानना पड़ेगा।

दण्डी के ग्रन्थ—दण्डी का 'काव्यादर्श' तो लोक-प्रसिद्ध है ही, इसके अतिरिक्त पीटरसन ने अपनी 'सुभाषितावली' की भूमिका में राजशेखर के एक पद्य को उद्धृत करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि दण्डी ने तीन प्रबन्धों की रचना की थी—

“त्रयो दण्डीप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विभृताः।”

इस कथन की पुष्टि हमें राजशेखर से नहीं होती दिखाई पड़ती किन्तु कोई आश्चर्य नहीं कि उसने तीन प्रबन्ध और लिखे भी हों। अनुसन्धान करने पर उनकी उपलब्धि हो सकती है।

दण्डी का 'दशकुमारचरित' एक सुन्दर काव्य है। 'काव्यादर्श' काव्यशास्त्र का मेरुदण्ड तीन परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-परिभाषा, काव्यभेद,

महाकाव्य के लक्षण, गद्य के प्रभेद, कथा और आख्यायिका, मिश्रकाव्य, काव्य-हेतु आदि विचार किया गया पर है। द्वितीय परिच्छेद में ३५ अर्थालङ्कारों का निरूपण मिलता है। तीसरे में चित्रकाव्य, प्रहेलिका तथा दोषों का निर्देश किया गया है।

भामह (७०० A. D.)—काणे महोदय की धारणा है कि भामह, बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग से प्रभावित थे। इनका समय ५वीं शताब्दी ई० माना जाता है। इस आधार पर भामह को उन्होंने ५वीं शताब्दी के बाद का आचार्य सिद्ध किया है। अधिकांश विद्वान् भामह को दण्डी के बाद का आचार्य मानने के पक्ष में ही हैं। दण्डी का समय छठी शताब्दी के अन्तिम चरण या सप्तम शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है। अतः भामह का समय इससे बाद ही माना जा सकेगा। वामन भामह से प्रभावित मालूम होते हैं यह बात दोनों के उपमालङ्कारों की तुलना से प्रकट होती है। वामन का समय कीथ ने आठवीं शताब्दी के आस-पास निश्चित किया है। जैकोबी ने वामन को काश्मीराधिपति जयापीड का मंत्री माना है। जयापीड का समय ७०० से ८१३ ई० तक माना जाता है, उससे भी वह प्रकट होता है कि वामन आठवीं शताब्दी में हुए थे। भामह वामन से पहले हुए थे अतएव उन्हें सातवीं शताब्दी का माना जा सकता है।

भामह के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग उन्हें बौद्ध मानते हैं और कुछ वैष्णव। प्रो० हिङ्गर ने उन्हें बौद्ध सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। भामह का 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसमें छः परिच्छेद हैं—प्रथम में काव्य-प्रशंसा, वाक्य-साधन, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद और काव्य दोषों का निरूपण किया गया है। दूसरे और तीसरे में ३८ अलङ्कारों का विवेचन मिलता है। चौथे में काव्य-दोषों का वर्णन किया गया है। पाँचवें में गुणों की विवेचना मिलती है। छठे में शब्दशुद्धि विषयक शिक्षा का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में ५०० श्लोक हैं। उद्भटाचार्य ने इस पर 'विवरण' नामक एक सुन्दर टीका लिखी है।

उद्भट (७७६-८१३ A. D.)—उद्भट संस्कृत के एक प्रसिद्ध काव्यशास्त्री माने जाते हैं। इन्होंने 'काव्यालंकार सार-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। इनके ग्रन्थ की खोज डा० बुह्लर ने की थी। इनके समय का निर्णय 'राजतरङ्गिणी' के उल्लेख के आधार पर किया गया है। 'राजतरङ्गिणी' जयापीड के शासन-काल में लिखी गई थी। इसका समय ७७६ से ८१३ के बीच में है। उद्भट इससे कुछ समय पूर्व हुए होंगे। अतएव इनका उदय-काल आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण में होगा। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इनका ग्रन्थ भामह के काव्यालंकार का ऋणी कहा जा सकता है। इनके ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार सार-संग्रह' में ६ अध्याय हैं। इसमें ४८ अलंकारों का विवेचन किया गया है। जैकोबी ने उद्भट के 'रसाधिष्ठितम् काव्यम्' सूत्र काव्य के आधार पर उद्भट को रसवादी आचार्य कहा किन्तु ये अलंकारवादी आचार्य ही थे। इसका प्रमाण यह

है कि 'अलंकार एव काव्ये प्रधानम्' वाले मत की पुष्टि में इनका नामोल्लेख किया जाता है।

वामन (८५० A. D.)—आनन्दवर्धनाचार्य वामन के परवर्ती थे। इनका समय ८५० ई० माना जाता है। वामन के पूर्ववर्तियों में भवभूति विशेष उल्लेखनीय हैं। भवभूति का समय ७२५ ई० के आस-पास निश्चित किया जाता है। अतएव वामन का समय ७२५ से लेकर ८५० के बीच में निश्चित होता है। कल्हण ने अपनी 'राज-तरङ्गिणी' में वामन को जयापीड का मन्त्री बताया है। बुल्हर साहब ने इस मत का समर्थन किया है। जयापीड का समय ८१३ ई० माना जाता है। इस आधार पर कुछ लोग वामन को उद्भट का समकालीन मानने के पक्ष में हैं, किन्तु कीथ आदि विद्वानों ने इसका समर्थन नहीं किया है। उनके मतानुसार वामन का उदय आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। हम भी इसी मत से सहमत हैं। वामन भी अलंकारवादी आचार्य थे। इन्होंने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में भामह और उद्भट का अनुकरण करते हुए अलंकारों का विवेचन किया है।

रुद्रट (९०० A. D.)—कीथ ने इनका समय ९वीं शताब्दी के आस-पास निश्चित किया है। बुल्हर साहब ने ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का आचार्य माना है। किन्तु बुल्हर साहब का मत विशेष मान्य नहीं समझा जाता; क्योंकि प्रतिहारेन्दु-राज ने जो कि नवीं शताब्दी में हुए थे इनका स्पष्ट उल्लेख किया है। अतएव इनका समय नवीं शताब्दी के मध्य में ही मानना चाहिए। पिशेल, वेबर, बुल्हर आदि विद्वानों ने रुद्रट को ग्यारहवीं शताब्दी का आचार्य मानने की भूल इस कारण की है कि वे रुद्रट और रुद्रभट्ट में कोई भेद नहीं मानते थे। किन्तु रुद्रभट्ट जिन्होंने 'शृङ्गार-तिलक' नामक रचना लिखी है रुद्रट से भिन्न हैं। इनका समय ११वीं शताब्दी अवश्य माना जाता है। रुद्रट नवीं शताब्दी के मध्य में ही हुए थे। इनके 'काव्यालंकार' में १६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतुओं का विवेचन किया गया है। दूसरे में काव्य-लक्षण, रीति, वाक्य-लक्षण, भाषा-भेद तथा वक्रोक्ति आदि तीन शब्दालंकार वर्णित हैं। ७, ८, ९ और १०वें अध्याय में रस आदि का निरूपण मिलता है। १२, १३ और १४वें अध्याय में अन्य काव्य विषयों का उल्लेख है। १६वें में महाकाव्य, प्रबन्ध आदि के लक्षण दिये गये हैं। रुद्रट पहले आचार्य हैं जिन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण वैज्ञानिक शैली पर किया है। उन्होंने अलंकारों को चार भागों में विभाजित किया है—(१) वास्तव वर्ग में २३ अलंकार गिनाये गये हैं। (२) औपम्य वर्ग में २१ अलंकार गिनाये गये हैं। (३) अतिशय वर्ग में १२ अलंकार हैं। (४) श्लेष वर्ग में केवल एक अलंकार है। इस प्रकार रुद्रट के अनुसार ५७ अलंकार होते हैं।

ध्वन्यालोक (८५० ई०)—इस ग्रन्थ ने संस्कृत काव्यशास्त्र में एक प्रकार से युगान्तर उपस्थित कर दिया है। संस्कृत साहित्य के सभी सम्प्रदाय इसके सामने फीके

पड़ गये हैं। अलङ्कार और रीति की तो बात ही क्या है ध्वनि के अन्तर्गत रस भी समेट लिया गया है। इसके सिद्धान्तों को सभी आचार्यों ने बड़े सम्मान के साथ स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी जिन्होंने प्रायः सभी आचार्यों की आलोचना की है, ध्वनिकार को ही आदर्श माना है। इस उक्ति से यह बात प्रकट है—

“ध्वनिकृतामालंकारिक सरणिव्यवस्थापकत्वात्”

इसी प्रकार राजशेखर ने भी लिखा है—

“ध्वनिनातिगंभीरेण काव्यतत्त्वनिवेदना ।

आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥”

इन उक्तियों से ध्वनिकार का महत्त्व स्पष्ट प्रकट है।

‘ध्वन्यालोक’ के लेखक की समस्या—‘ध्वन्यालोक’ के लेखक के सम्बन्ध में मतभेद है। इस सम्बन्ध में दो मत बहुत प्रचलित हैं। कुछ लोग वृत्तिकार और कारिकाकार की एकता स्वीकार करते हैं और आनन्दवर्धन को ही इसका रचयिता मानते हैं। किन्तु कुछ लोग किसी अज्ञातनामा ध्वनिकार को कारिका-लेखक तथा आनन्दवर्धन को वृत्तिकार मानते हैं। प्रथम मत के पोषकों में ‘अलङ्कार सर्वस्व’ के टीकाकार समुद्रगुप्त, महिम भट्ट, राजानक कुन्तक, प्रतिहारेन्दुराज, हेमचन्द्र तथा कीथ हैं।

रय्यक के ‘अलङ्कार-सर्वस्व’ के टीकाकार समुद्रगुप्त ने आनन्दवर्धन को वृत्ति और टीकाकार उभय व्यञ्जित किया है। ‘महिमभट्ट’ ने भी ‘ध्वन्यालोक’ की कारिका और वृत्ति को ध्वनिकार के ही नाम से उद्धृत किया है। ‘राजानक कुन्तक’ ने एक पद्य को जिसे आनन्दवर्धन ने स्वरचित माना है ध्वनिकार के नाम से उद्धृत किया है। इससे प्रकट होता है कि वे आनन्दवर्धन और ध्वनिकार को एक ही मानते थे। ‘प्रतिहारेन्दुराज’ ने भी ध्वनि सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है और उसने भी कारिका और वृत्तिकार आनन्दवर्धन को ही माना है। ‘हेमचन्द्र’ ने भी एक कारिका को ‘तदुक्त-मानन्दवर्धनेन’ लिखा है। इससे स्पष्ट है कि वह भी आनन्दवर्धन को ही कारिकाकार मानता था। पाश्चात्य विद्वानों में कीथ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भी कारिका और वृत्ति दोनों का लेखक आनन्दवर्धन को ही माना है।

द्वितीय मत के पोषक—इस मत के समर्थकों में कई विद्वान् और ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। पूना की भंडारकर लाइब्रेरी वाली प्रति में एक स्थान पर एक ऐसा वाक्य दिया हुआ है जिससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि आनन्दवर्धन कारिका और वृत्ति दोनों के लेखक नहीं थे। मंसूर की ताड़पत्र पर लिखी हुई हस्तलिखित प्रति में भी वह वाक्य किञ्चित् परिवर्तन के साथ लिखा पाया गया है। पूना से मुद्रित पुस्तक में भी यह वाक्य मिलता है। इससे प्रकट होता है कि विद्वानों का एक वर्ग आनन्दवर्धन को कारिका और वृत्ति दोनों को लिखने का श्रेय देने को तैयार नहीं था। ‘अभिधावृत्ति-

मात्रिका' नामक ग्रन्थ के लेखक मुकुलभट्ट ने ध्वनि का सिद्धान्त किसी 'सहृदय' नामक व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित स्वीकार किया है। मुकुलभट्ट आनन्दवर्धन से पहले हुए थे। इससे यह प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन से पहले भी ध्वनि का सिद्धान्त विस्तार से प्रतिपादित किया जा चुका था। इसी आधार पर विद्वानों की धारणा है कि मूलकारिकाकार 'सहृदय' नामक व्यक्ति था और आनन्दवर्धन केवल वृत्ति लेखक थे। ध्वन्यालोक की 'लोचन' नामक व्याख्या के लेखक अभिनवगुप्त ने भी कारिका और वृत्ति दोनों के लेखक पृथक्-पृथक् माने हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ विद्वान् कारिका-लेखक का नाम 'सहृदय' अथवा ध्वनिकार मानने के पक्ष में हैं। वे आनन्दवर्धन को वृत्तिकार मात्र मानते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि ध्वनिकार और आनन्दवर्धन एक ही व्यक्ति थे किन्तु अधिकांश विद्वान् दोनों को पृथक्-पृथक् व्यक्ति मानने के पक्ष में ही हैं। हमारी अपनी धारणा यह है कि कारिका के लेखक ध्वनिकार नामक अलग आचार्य थे। आनन्दवर्धन ने उन कारिकाओं पर केवल वृत्ति मात्र लिखी थी। मुकुलभट्ट ने जो आनन्दवर्धन से पहले हुए थे ध्वनि सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि उनके पहले ध्वनिकार हो चुके थे और ध्वनिकार का प्रतिपादन करने वाली कारिका लिख चुके थे। विद्वानों की धारणा है कि ध्वनिकार पहली-दूसरी शताब्दी के आसपास हुए थे किन्तु मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ। मेरी समझ में ध्वनिकार ने अपनी कारिकाओं की रचना छठी अथवा सातवीं शताब्दी के आसपास की होगी। कोई आश्चर्य नहीं कि वे और भी बाद में हुए हों क्योंकि उनके सिद्धान्त की प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन ने प्रथम बार की थी।

आनन्दवर्धन का समय निर्विवाद रूप से निश्चित है। वे अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५७-८८४ निश्चित किया जाता है। इसी आधार पर कीथ ने इनका समय ८५० ई० निर्धारित किया है। यदि हम ध्वनिकार का समय प्रथम-द्वितीय शताब्दी मानेंगे तो फिर हम काव्यशास्त्र के आचार्यों के नवीं शताब्दी तक के मौन का उत्तर न दे सकेंगे। क्योंकि ध्वनि जैसा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त काव्याचार्यों के द्वारा इतने दिन उपेक्षित रहा होगा, यह विश्वास नहीं होता।

ध्वन्यालोक का वर्ण्य-विषय—'ध्वन्यालोक' में चार उद्योत हैं तथा १२८ कारिकाएँ हैं। मुद्रित ग्रन्थ में तीन उद्योतों पर अभिनवगुप्त की लोचन टीका उपलब्ध है। प्रथम उद्योत में २२ कारिकाएँ हैं। इसमें ध्वनि की स्थापना की गई है। द्वितीय उद्योत में ३६ कारिकाएँ हैं। इसमें ध्वनि के विभेदों का विवेचन किया गया है। इसी में रसवदादि अलंकारों और माधुर्य आदि गुणों की व्याख्या भी की गई है। तृतीय उद्योत की ५४ कारिकाओं में पद वाक्य व्यंजकता, संघटना, औचित्य, गुणीभूत व्यंग्य, काव्यालङ्कार आदि का विवेचन किया गया है। चतुर्थ उद्योत में १७ कारिकाएँ हैं जिनमें ध्वनि का महत्त्व प्रतिष्ठित मिलता है।

अभिधार्त्तामात्रिका (मुकुलभट्ट) (६०० A.D.)—इन्होंने अपने पिता का नाम कल्हण बताया है। कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' प्रसिद्ध है। इसकी रचना उन्होंने

अवन्तिवर्मा के समय में की थी। इस आधार पर इनका समय नवीं शताब्दी के आस-पास ठहरता है। इनके ग्रन्थ में केवल १३ कारिकाएँ हैं। केवल अभिधा और लक्षणा का ही विवेचन किया गया है।

राजशेखर—राजशेखर संस्कृत के प्रसिद्ध कवि अकालजलद के प्रपौत्र थे। ये ब्राह्मण थे अथवा अन्य किसी जाति के, यह निश्चित नहीं है। कुछ लोग इन्हें क्षत्रिय मानते हैं और कुछ लोग ब्राह्मण। संस्कृत में राजशेखर नाम के कई विद्वान् हो चुके हैं। 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' के लेखक भी कोई राजशेखर थे। केरल के एक राजा भी राजशेखर थे। इन्होंने अपने बनाये हुए तीन नाटक भगवान् शंकराचार्य को समर्पित किये थे। एक ताम्रपत्र पाया गया है जिसमें किसी अन्य राजशेखर का उल्लेख मिलता है, किन्तु ये राजशेखर कौन थे इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। महामहोपाध्याय डॉ० हीराचन्द ओझा ने 'काव्य-मीमांसा' के लेखक राजशेखर को इन सबसे भिन्न माना है।

राजशेखर का समय (८८४ से ९२५)—इनके नाटकों से ज्ञात होता है कि यह कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के उपाध्याय थे। महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के भी ये कृपापात्र थे। महीपाल का समय ९१७ ई० निश्चित किया गया है। अतः ये भी इसी युग के आस-पास हुए होंगे। राजशेखर ने उद्भट और आनन्दवर्धनाचार्य का भी उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० माना गया है। 'यशस्तिलका' नामक चम्पू में भी राजशेखर का उल्लेख मिलता है। इसका समय ९५९ ई० माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राजशेखर ८८४ से लेकर ९२५ के बीच में हुए होंगे।

'काव्य-मीमांसा' का वर्ण्य-विषय—यह किसी सम्प्रदाय विशेष का ग्रन्थ नहीं है। इसमें काव्य के सभी प्रयोजनीय विषयों का नवीन शैली में वर्णन किया गया है। इनका लिखा हुआ 'कवि रहस्य' नामक एक ग्रन्थ और उपलब्ध है। इसके १८ अध्यायों में केवल एक ही अध्याय प्राप्त हुआ है। 'काव्य-मीमांसा' के अतिरिक्त 'बालमहाभारत', 'बालरामायण', 'कूर्मरमञ्जरी सट्टक' आदि इनके लिखे अन्य ग्रंथ बताये जाते हैं। राजशेखर का भारतीय काव्य-क्षेत्र में बड़ा सम्मान था, यह बात क्षेमेन्द्र, भोज और हेमचन्द्र की प्रशंसाओं से प्रकट होती है।

धनञ्जय (१००० A.D.)—'दशरूपक' के लेखक धनञ्जय का संस्कृत नाट्य क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। धनञ्जय ने अपने पिता का नाम विष्णु बतलाया है। ये महाराज मुञ्ज के समकालीन थे। मुञ्ज का समय दसवीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है अतएव इनका भी समय इसी के आस-पास मानना चाहिए। 'दशरूपक' में चार अध्याय हैं। इनमें वस्तु, नेता और रस इन तीन नाटकीय तत्त्वों का विस्तार से विवेचन किया गया है। ग्रन्थ पर धनिक ने जो सम्भवतः इनके अनुज थे 'अबलोक' नामक एक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है।

अभिनवगुप्त—इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है

इन्होंने अपने पिता का नाम चुखल और पितामह का नाम वराहगुप्त बताया है। काव्य-शास्त्र पर इनका कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है, केवल इनकी दो टीकाओं पर ही इनके सिद्धांतों और मतों का विवेचन किया जाता है। 'ध्वन्यालोक' पर लिखी हुई 'लोचन' टीका और 'नाट्यशास्त्र' पर लिखी हुई अभिनव भारती टीका साहित्यशास्त्र की अमूल्य निधि हैं।

राजानक कुन्तक (१००० A.D.)—कुन्तक ने अपने एक ग्रन्थ में कालिदास, भवभूति, भारवि, बाण आदि बहुत से कवियों के पद उद्धृत किये हैं। इन्होंने राजशेखर का उल्लेख भी किया है। राजशेखर का समय ८८४ से ९२५ तक माना जाता है। महिमभट्ट ने एक कारिका इनके नाम से उद्धृत की है। इससे प्रकट है कि वे कुन्तक को जानते थे। महिमभट्ट का समय थारहवीं शताब्दी निश्चित किया गया है। कुन्तक उनसे कुछ समय पूर्व हुए होंगे। अतः उनका समय दशम शती का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के ये मूल प्रवर्तक माने जाते हैं। वक्रोक्ति को उन्होंने 'वैदग्ध्य भंगीभणिति' कहा है। कुन्तक ने ध्वनि सिद्धांत का खण्डन किया है किन्तु उनके इस मत का समादर नहीं हुआ। यों तो वक्रोक्ति की चर्चा रुद्रट, वामन और भामह भी कर चुके थे किन्तु रुद्रट और वामन ने उसे अलंकार विशेष ही माना था।

महिमभट्ट (११०० A.D.) ('व्यक्ति-विवेक')—महिमभट्ट सम्भवतः काश्मीरी थे। उनकी राजानक उपाधि से यह बात प्रकट होती है। उन्होंने 'व्यक्ति-विवेक' नामक एक प्रौढ़ ग्रंथ लिखा था। रय्यक ने महिमभट्ट के इस 'व्यक्ति-विवेक' पर एक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है। इन बातों से पता चलता है कि महिमभट्ट मम्मट से पहले तथा रय्यक के बाद हुए थे अतः इनका समय ११वीं शताब्दी माना जाना चाहिए। 'व्यक्ति-विवेक' नामक ग्रन्थ तीन विमशों में विभाजित है। इस ग्रन्थ में महिमभट्ट ने ध्वनि का अंतर्भाव अनुमान में किया है। इन्होंने केवल अभिधा और अनुमान दो ही काव्य-शक्तियाँ मानी हैं। लक्षणा और व्यञ्जना में ये विश्वास नहीं करते थे। मम्मट ने 'व्यक्ति-विवेक' के इस मत का खण्डन अपने 'काव्य-प्रकाश' के पाँचवें उल्लास में दृढ़ता के साथ किया है।

महाराज भोज (१०५० A.D.) ('सरस्वती कण्ठाभरण', 'शृंगार प्रकाश')—महाराज भोज धारा नगरी के अधीश्वर थे। ये वाक्पति राजा मुञ्ज के भाई तथा 'नव-साहस्रं चरित' के नायक सिन्धुल के पुत्र थे। भोज ने राजशेखर और धनञ्जय आदि के बहुत से पद अपने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में उद्धृत किये हैं। धनञ्जय का समय दसवीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है अतएव इनका समय १०५० के लगभग मानना चाहिए। 'सरस्वती कण्ठाभरण' में ध्वनि और दृश्य काव्य को छोड़कर काव्य के शेष सभी तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इसमें पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम

और द्वितीय में शब्द और अर्थ निरूपित किये गये हैं। तृतीय परिच्छेद में २४ अर्थालंकार और २४ उभयालंकार निरूपित किए गये हैं। इसमें अलंकारों का वर्गीकरण मौलिक ढङ्ग से किया गया है। ये पहले आचार्य हैं, जिन्होंने २४ शब्दालंकार गिनाए हैं। अन्य सभी आचार्यों ने केवल ६ ही शब्दालंकार माने हैं। अर्थालंकारों के अंतर्गत इन्होंने जैमिनी के ६ प्रमाणों को समेटने की चेष्टा की है। दोष और गुणों का विवेचन भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत विशद हुआ है। 'शृंगार प्रकाश' में ३६ प्रकाशों के अंतर्गत केवल शृंगार की रसरजता प्रतिपादित की गई है।

क्षेमेन्द्र (१०५० A. D.) ('कविकण्ठाभरण') ('श्रीचित्य विचार चर्चा')—क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त का शिष्य, सिन्धु का पौत्र और प्रकाशेन्दु का पुत्र था। वह अनन्त नामक काश्मीर के राजा का सभापण्डित भी था। इस राजा का शासन-काल १०२८-८० माना जाता है अतः क्षेमेन्द्र का समय १०५० के आस-पास मानना चाहिये। क्षेमेन्द्र के 'कवि कण्ठाभरण' में ५५ कारिकाएँ हैं जो पाँच सन्धियों में विभक्त हैं। 'श्रीचित्य विचार चर्चा' इनका दूसरा ग्रन्थ है। इसमें काव्य के तत्त्वों और अंगों के श्रीचित्य पर विचार किया गया है।

आचार्य मम्मट (१०२५-५० A. D.) ('काव्य-प्रकाश')—'काव्य-प्रकाश' का लेखक कौन था इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कौमुदी टीकाकार विद्याभूषण ने वृत्तिकार और कारिकाकार को पृथक्-पृथक् माना है। उनका कहना है कि कारिकाएँ भरतमुनि की हैं और वृत्तियाँ मम्मट की। इसके प्रमाण में वे कुछ ऐसी कारिकाएँ उद्धृत करते हैं जो 'नाट्यशास्त्र' और 'काव्य-प्रकाश' में समान रूप से पाई जाती हैं। इस तर्क के विरोध में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी विद्वान् की वृत्ति में किसी पूर्ववर्ती विद्वान के दो-चार वाक्य आ जायें तो इस आधार पर हम उसकी रचना को पूर्ववर्ती विद्वान की रचना नहीं मानेंगे। 'काव्य-प्रकाश' में १४४ कारिकाएँ हैं। इसमें से कई कारिकाएँ भामह के 'काव्यालंकार' में मिलती हैं किन्तु इस आधार पर हम 'काव्य-प्रकाश' को भामह-रचित नहीं मान सकते और इसी प्रकार भरत-रचित भी नहीं मान सकते। 'काव्य-प्रकाश' की कारिका और वृत्ति के लेखकों को पृथक्-पृथक् मानने वालों का दूसरा तर्क है कि मम्मट ने भरत सूत्र को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'तदुक्तं भरतेन'। इस आधार पर भी हम कह सकते हैं कि कारिकाएँ यदि भरतमुनि के बाद लिखी हुई होतीं तो मम्मट को 'तदुक्तं भरतेन' लिखने की आवश्यकता न पड़ती।

कुछ विद्वान 'काव्य-प्रकाश' की कारिका और वृत्ति को भिन्न-भिन्न दो विद्वानों द्वारा रचित तो मानते हैं किन्तु वे भरतमुनि को कारिका लेखक नहीं मानते। 'काव्य-प्रकाश' की निदर्शना नामक टीका में लिखा है कि परिकरालंकार तक तो मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' की रचना की है और शेष अरुलट ने लिखा है; किन्तु अरुलट का समय मम्मट से मेल नहीं खाता।

कुछ लोग 'काव्य-प्रकाश' को तीन व्यक्तियों की रचना मानते हैं। इन विद्वानों में स्टीन और पीटरसन विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका कहना है कि 'काव्य-प्रकाश' की रचना मम्मट, अल्लट तथा ह्य्यक नामक आचार्यों ने मिलकर की थी। इसके विपरीत आजकल के अधिकांश विद्वान् 'काव्य-प्रकाश' की कारिकाओं और वृत्तियों को केवल मम्मट की ही रचना मानते हैं। मेरी भी अपनी यही धारणा है कि 'काव्य-प्रकाश' के दोनों पक्षों का प्रणयन मम्मट ने ही किया था। इस मत के पोषण में हम भाषा, शैली एवं सिद्धान्त की एकता मान सकते हैं।

समय—मम्मट की 'राजानक' उपाधि से स्पष्ट है कि वे काश्मीरी थे। भीमसेनकृत सुधामृत टीका उल्लेख के आधार पर पीटरसन ने मम्मट को कथ्यट का छोटा भाई, उब्वट का बड़ा भाई तथा जय्यट का पुत्र बताया है। मि० हॉव तथा वेवर ने मम्मट को श्री हर्ष का मामा कल्पित किया है। इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है। उस किंवदन्ती को यदि सत्य मान लिया जाय तो मम्मट का समय निश्चित करने में थोड़ी सरलता हो जायगी। श्री हर्ष जयचन्द्र के आश्रित थे। जयचन्द्र का समय बारहवीं शताब्दी निश्चित किया गया है। हेमचन्द्र ने 'काव्यप्रकाश' के बहुत से उद्धरण दिये हैं। हेमचन्द्र का समय १०८० के आस-पास माना जाता है। मम्मट ने भोज का भी उल्लेख किया है। भोज का समय १०५५ के आस-पास माना जाता है। इन आधारों पर हम मम्मट को श्री हर्ष का समकालीन नहीं मान सकते। उनका समय हमें १०२५ से लेकर १०७५ तक निश्चित करना पड़ेगा।

'काव्य-प्रकाश' में १४२ कारिकाएँ हैं और वे १० उल्लासों में विभक्त हैं। इसमें ६०३ पद्य उदाहरण के रूप में दिये गये हैं। प्रथम उल्लास में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद आदि विषयों का प्रतिपादन किया है। मम्मट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य को तीन भागों में विभाजित किया है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने केवल अलंकारयुक्त काव्य को ही काव्य माना था। ध्वनिकार ने केवल ध्वनिकाव्य का ही विश्लेषण और विचार किया है। द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ का विश्लेषण करते हुए 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद' का निरूपण किया गया है। फिर वाचक शब्दों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अभिधा, लक्षणा आदि के भेदों पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय उल्लास में अर्थ-व्यञ्जना का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ उल्लास में काव्य का निरूपण, ध्वनि-स्वरूप और ध्वनि-विभेदों का विवेचन मिलता है। ध्वनि के अन्तर्गत रस, रसाभास, भावाभास आदि विविध पदार्थों की विवेचना की गई है। पञ्चम उल्लास में ध्वनि का पूर्ण रूप से दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया गया है। इसी में ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन भी मिलता है। छठे उल्लास में अक्षम काव्य के स्वरूप की विवेचना की गई है। सप्तम उल्लास में दोषों का निर्देश मिलता है। आठवें उल्लास में गुण और अलंकारों का भेद स्पष्ट किया गया है। इसी में वामन के दस गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों में किया गया है। नवम उल्लास में शब्दालंकारों का वर्णन मिलता है। दशम उल्लास

सबसे बड़ा है। इसमें अर्थालंकारों का विस्तार से विवेचन किया गया है। संक्षेप में 'काव्य-प्रकाश' का वर्ण्य-विषय यही है। मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' में जहाँ अपने मतों का प्रतिपादन किया है वहाँ दूसरे मतों का खण्डन भी किया है। उनकी शैली बड़ी पाण्डित्यपूर्ण और प्रभावशालिनी है।

रुय्यक (१०८५ A. D.) (अलंकार-सर्वस्व)—रुय्यक राजानक उपाधि से विभूषित थे। इससे उनका काश्मीरी होना सिद्ध होता है। 'अलंकार-सर्वस्व' के अतिरिक्त उन्होंने 'व्यक्ति विशेष' और मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' पर टीकाएँ लिखी हैं। उन्होंने अपने 'अलंकार-सर्वस्व' में 'विक्रमाङ्कदेवचरित' का उल्लेख किया है। डा० बुल्हर ने इसका रचना-काल १०८५ ई० निश्चित किया है। इससे स्पष्ट है कि रुय्यक १०८५ के बाद में ही हुए होंगे। इनकी धारणा है कि उनका उदय-काल १२वीं शताब्दी था।

'अलंकार-सर्वस्व' के लेखक के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं : (१) सूत्र और वृत्ति दोषों के लेखक और प्रतिपादक रुय्यक ही हैं। इस मत के प्रवर्तक 'अलंकार-सर्वस्व' के टीकाकार श्री विद्यालंकार, जयरथ, कुप्पू स्वामी और पंडितराज जगन्नाथ हैं (२) त्रिवेन्द्रम संस्करण की हस्तलिखित प्रति के अनुसार निश्चित किया गया है कि रुय्यक सूत्रकार और मंखक वृत्तिकार थे। (३) 'अलंकार-सर्वस्व' के टीकाकार समुद्र-बन्ध ने सूत्र और वृत्ति दोनों का रचयिता मंखक को ही माना है। ये तीनों ही हमारी समझ में निराधार प्रतीत होते हैं। 'अलंकार-सर्वस्व' के सूत्रकार और वृत्तिकार दोनों रुय्यक थे।

रुय्यक के समय के सम्बन्ध में भी थोड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि रुय्यक मम्मट से पहले हुए थे। इसके प्रमाण में वामनाचार्य ने 'काव्य-प्रकाश' की प्रदीप टीका का संकेत किया है। इसी आधार पर कुछ लोगों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में रुय्यक की आलोचना की है। किन्तु यह मत भी निराधार ही प्रतीत होता है क्योंकि मम्मट ने कहीं पर भी रुय्यक का उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत रुय्यक में ऐसे बहुत से चिन्ह मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि वे मम्मट और उनके 'काव्य-प्रकाश' से परिचित थे।

वाग्भट्ट प्रथम (११७८ A. D.)—इनका समय ११७८ ई० निश्चित किया जाता है। इनका लिखा हुआ 'वाग्भट्टालंकार' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में ५ परिच्छेद हैं। इनमें काव्यशास्त्र के विषयों का निरूपण किया गया है।

हेमचन्द्र ('काव्यानुशासन') (१०८२ A. D.)—जैकोबी ने इनका समय १०८२ के आस-पास निश्चित किया है। इनके अन्य नाम चाणदेव और सोमदेव भी बताये जाते हैं। 'काव्यानुशासन' सूत्रों में लिखा गया है। इन सूत्रों पर 'अलंकार चूड़ामणि' नामक वृत्ति तथा 'विवेक' नामक टीका भी हेमचन्द्र ने लिखी थी। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। इसमें दूसरे ग्रन्थों के सिद्धान्तों का संकलन अधिक किया गया है, मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कम।

जयदेव (१२००-१३०० A.D.) ('चन्द्रालोक')—इनका समय १२वीं या १३वीं शताब्दी निश्चित किया जाता है। इसमें १० मयूख हैं। अप्पय दीक्षित ने अपना 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ इसी के आधार पर लिखा है।

भानुदत्त (१३००-१४०० A. D.) ('रसतरङ्गिणी' और 'रसमञ्जरी')—इनका समय विद्वानों ने १३ तथा १४वीं शताब्दी का मध्यकाल माना है। 'रसतरङ्गिणी' में रस का विवेचन किया गया है। 'रसमञ्जरी' में रस के ग्रन्थ सहायक तत्त्वों का निरूपण किया गया है।

विद्याधर ('एकावली')—इनका समय १४वीं शताब्दी निश्चित किया जाता है। यह ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक-सर्वस्व' के आधार पर लिखा गया है।

विद्याधर (१४०० A. D.) ('प्रतापरुद्रीय यशोभूषण')—इनका समय १३वीं शताब्दी का अन्तिम चरण और १४वीं शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है। ये आन्ध्र देश के राजा प्रतापरुद्रदेव के आश्रित कवि थे। इनके ग्रन्थ में ६ प्रकाश हैं। नायक-भेद, काव्य, नाटक, रस-दोष, गुण और अलंकारों आदि का वर्णन किया गया है।

वाग्भट्ट द्वितीय (१४८० A. D.) ('काव्यानुशासन')—यह सूत्रबद्ध ग्रन्थ है, इसमें ५ अध्याय हैं। नायक और नायिकाओं के भेदों का वर्णन किया गया है।

विश्वनाथ (१४७५-१५२५) ('साहित्य-दर्पण')—महाकवि विश्वनाथ चन्द्रशेखर के पुत्र और श्रीनारायण के पौत्र थे। इन्होंने अपनी रचना में कहीं पर भी समय का निर्देश नहीं किया है। 'साहित्य-दर्पण' में रूयक का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उन्होंने रूयक (१२वीं शती) के द्वारा नवाविष्कृत विकल्प नामक अलंकार को माना है। 'साहित्य-दर्पण' में विश्वनाथ ने 'धन्यासि वैदर्भि' वाला श्लोक नैषध से उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने जयदेव के 'प्रसन्न-राघव' नामक नाटक के एक श्लोक का उद्धरण भी दिया है। 'दर्पण' में एक स्थल पर अलाउद्दीन खिलजी का उल्लेख भी मिलता है। इसका समय १३१६ ई० माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ये चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में या पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए होंगे। 'साहित्य-दर्पण' की विशेषता यह है कि उसमें दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों का साङ्ग विवेचन मिलता है। उसमें १० परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-फल, काव्य-स्वरूप, दोष-गुणादि का विवेचन किया गया है। ये पहले आचार्य हैं जिन्होंने ध्वनिकार और मम्मट दोनों के काव्य-स्वरूप का खण्डन किया है। द्वितीय परिच्छेद में लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्या आदि वृत्तियों का विवेचन किया गया है। तृतीय में रस के विविध अंगों पर विस्तार से निरूपण मिलता है। चतुर्थ में ध्वनि के भेदों का उल्लेख है। पंचम में व्यञ्जन का निरूपण किया गया है। षष्ठ में दृश्य काव्य पर विचार किया गया है। सातवें में काव्य-दोषों का वर्णन मिलता है। आठवें में गुणों पर प्रकाश डाला गया है। नवम परिच्छेद रीति-विवेचन से सम्बन्धित है। दशम में अलंकारों का वर्णन किया गया है।

रूपगोस्वामी (१५०० A.D.) ('उज्ज्वल नीलमणि')—रूपगोस्वामी चैतन्य के समकालीन माने जाते हैं। अतः इनका समय १५वीं शताब्दी निश्चित किया गया है। 'उज्ज्वल-नीलमणि' रस विषय का ग्रन्थ है जिसमें शृङ्गार वर्णन किया गया है। इसमें विश्वनाथ की आलोचना की गई है।

अप्पय दीक्षित (१५५४-१६२६ A.D.) ('कुवलयानन्द')—इन्होंने १०० से ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु साहित्यशास्त्र पर भी कम से कम तीन ग्रन्थ हैं। 'वृत्तवातिक' में अभिधा व लक्षणा की विवेचना की गई है। 'कुवलयानन्द' अलंकार पर एक प्रारम्भिक पुस्तिका है। इसमें 'चन्द्रालोक' की परिभाषाओं का अनुसरण किया गया है। 'चित्र-मीमांसा' में काव्य के तीन भेद तथा अलंकारों का वर्णन है। इनका समय १५५४ तथा १६२६ ई० के बीच में है।

पंडितराज जगन्नाथ ('रसगंगाधर')—इनका प्रमुख ग्रन्थ 'रसगंगाधर' है। शास्त्रीय संस्कृत पर इनका प्रगाढ़ अधिकार था। इस ग्रन्थ पर नागेश भट्ट की 'नभ प्रकाश टीका' है। इनका गद्य सशक्त और सरल है। विचार स्वातन्त्र्य की दृष्टि से वे बेजोड़ हैं। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी दिग्गज आचार्यों की दृढ़तापूर्वक आलोचना की है। ये प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक भी थे। इनके लिखे हुए अनेक दर्शन और काव्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ये रसिक भी बहुत बड़े थे। इनके सम्बन्ध में कहते हैं कि ये किसी लवंगी नामक यवनी पर अत्यधिक आसक्त थे। उन्होंने बादशाह से याचना करते हुए लिखा था—

न याचे गजालि न वा वाजिराशि
न वित्तेषु चित्ता मदीयं कदाचित्
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा
लवंगी कुरंगी दृगंगी करोतु।

उसके प्रति उनकी आसक्ति की सीमा निम्नलिखित श्लोक से भी प्रकट है—

यवनी नवनीत कोमला शयनीये नीयते कदाचित्
अवनीतलमेव साधुमन्ये न यनी माघवनी विनोदहेतुः
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीतसमा
उहि ऊहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगदीह यदंगता।

इस प्रकार आचार्य जगन्नाथ जिस प्रकार अपने पाण्डित्य के लिए प्रख्यात थे उसी प्रकार रसिकत्व के लिए कुख्यात भी।

विश्वेश्वर पण्डित—काव्य शास्त्र के अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य विश्वेश्वर पण्डित थे। इनका 'अलंकार कौस्तुभ' नामक अलंकार ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। यह अलंकार शास्त्र का बड़ा प्रौढ़ ग्रन्थ है। इनके बाद से संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा ही समाप्त हो गई।

हिन्दी साहित्य शास्त्र का विकास

हिन्दी में सैद्धान्तिक रचनाएँ रीति युग और आधुनिक युग में ही लिखी गई हैं। अतः यहाँ इनका अलग-अलग विवेचन करेंगे।

रीतियुग में सैद्धान्तिक आलोचना के ढंग पर लिखी गई रचनाएँ—सैद्धान्तिक आलोचना के ढंग पर रीतिकाल में बहुत से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस काव्य शास्त्र के ग्रन्थों को डा० भगीरथ के अनुकरण पर हम स्थूल रूप से चार भागों में बाँट सकते हैं—

- (क) अलंकार ग्रन्थ।
- (ख) रस ग्रन्थ।
- (ग) शृङ्गार (नायिका-भेद) के ग्रन्थ।
- (घ) काव्य शास्त्र के ग्रन्थ।

इन चारों प्रकार के ग्रन्थों के नाम डा० भगीरथ मिश्र ने अपने काव्य शास्त्र के इतिहास में समयानुक्रम से गिनाए हैं—

(क) अलंकार ग्रन्थों में करनेस कवि लिखित “कर्णाभरण”, “श्रुतिभूषण”, “भूपभूषण”; जसवन्तसिंह लिखित “ललाम”; भूषण विरचित “शिवराज भूषण”; सुरति मिश्र प्रणीत “अलंकार माला”; गोप लिखित “रामचन्द्राभरण”; सुमति रचित “अलंकार चन्द्रोदय”; पद्माकर प्रणीत “पद्माभरण”; कन्हैयालाल पोद्दार लिखित “अलंकार प्रकाश” तथा “अलंकार मंजरी”; लाला भगवान दीन रचित “अलंकार मंजूषा”; रसाल रचित “अलंकार पीयूष”; अर्जुनदास केडिया लिखित “भारती भूषण” विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में आचार्यों ने विविध अलंकारों के निरूपण किए ही हैं, ग्रन्थ आचार्यों द्वारा निर्देशित अलंकार का खण्डन और मंडन भी किया है। विशेषकर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में लिखे गए अलंकार ग्रन्थों में आलोचना-अंश पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

(ख) रस ग्रन्थ—रस सम्बन्धी ग्रन्थों में भी आलोचना का एक रूप सुरक्षित है। आचार्य लोग विविध रसों की विवेचना करते समय कभी-कभी दूसरे के मतों का विश्लेषण भी किया करते हैं। इस विश्लेषण-प्रक्रिया में आलोचना का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य ही वर्तमान रहता था। इस कोटि के प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

- | | |
|------------------------------|----------------------|
| रसिकप्रिया—केशवदास। | रस सारांश—भिखारीदास। |
| रस रत्नावली और रसविलास—मंडन। | रस प्रबोध—रसलीन। |
| रस रहस्य—कुलपति। | जगत् विनोद—पद्माकर। |

रस रत्नाकर—सुरति मिश्र ।

रस रंग—ग्वाल ।

भवानी विलास, रस विलास और

रस कलश—हरिऔध ।

कुशल विलास—देव ।

रस मंजरी—कन्हैयालाल पोद्दार ।

रस शृङ्गार समुद्र—वेनी ।

(ग) शृङ्गार और नायिका-भेद के ग्रन्थ—रीतिकालीन आचार्यों ने बहुत से नायिकाभेद के ग्रन्थ भी लिखे थे । इनमें वे अनेक प्रकार की नायिकों का वर्णन करते समय प्रायः विश्लेषणात्मक शैली का अनुसरण करते थे । कभी खण्डन-मण्डन भी करने का प्रयत्न करते थे । शृङ्गार और नायिका-भेद के प्रमुख ग्रन्थ निम्न-लिखित हैं—

हित-तरंगिणी—कृपाराम ।

जाति विलास—देव ।

साहित्य-लहरी—सूरदास ।

बन्धु-विनोद—कालिदास ।

रस मंजरी—नन्ददास ।

नायिका-भेद—कुन्दन ।

शृङ्गार-सागर—मोहन लाल ।

शृङ्गार-निर्णय—भिखारीदास ।

शृङ्गार-मंजरी—चिन्तामणि ।

विष्णु विलास—लाल कवि ।

रसरज—मतिराम ।

बरवै नायिका-भेद—यशोदानन्दन ।

सुखसागर—देव ।

(घ) काव्यशास्त्र के ग्रन्थ—रीतियुग में काव्य के अन्य विविध अंगों से सम्बन्धित काव्यशास्त्र के ग्रन्थ भी लिखे गये हैं । इन ग्रन्थों में भी कभी-कभी आलोचना का कुछ अंश मिल जाता है । इन ग्रन्थों में सबसे प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

कविप्रिया—केशवदास ।

काव्य-निर्णय—भिखारीदास ।

कवि-कुल-कल्पतरु—चिन्तामणि ।

साहित्य दर्शन—ग्वाल कवि ।

भाव विलास, काव्य-रसायन, और

जसवन्त भूषण—मुरारी दीन ।

शब्द-रसायन—देव ।

रस मंजरी—कन्हैयालाल ।

काव्य-सिद्धान्त—सुरति मिश्र ।

काव्य-दर्शन और

काव्य-कल्पद्रुम—श्रीपति ।

काव्यालोक—रामधन मिश्र ।

ये सब तो हिन्दी के ग्रन्थ हुए । उनसे पहले भी अपभ्रंश-मिश्रित हिन्दी या अपभ्रंश में भी खोज करने पर आलोचना के बीज मिल सकते हैं । १००० ई० के आसपास शान्ति रत्नाकर ने “छन्द रत्नाकर” नामक एक छन्द-ग्रन्थ लिखा था । इसके अतिरिक्त भी यदि खोज की जाय तो अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी में और भी ऐसे काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ मिल सकते हैं, जिनमें हिन्दी आलोचना का प्रारम्भिक बीज रूप मिलेगा ।

आधुनिक युग में सैद्धान्तिक समालोचना की प्रगति—सैद्धान्तिक समालोचना क्षेत्र में आजकल कई दिशाएँ दिखाई पड़ रही हैं । स्थूल रूप से उनका निर्देश इस प्रकार कर सकते हैं—

- १—भारतीय साहित्य शास्त्र से सम्बन्धित अध्ययन ।
- २—पाश्चात्य साहित्य शास्त्र से सम्बन्धित अध्ययन ।
- ३—काव्य शास्त्र के इतिहास ग्रन्थ ।
- ४—शास्त्रीय समीक्षा के पाठ्य ग्रन्थ ।
- ५—साहित्य शास्त्र के अंग विशेष को लेकर लिखे गए शोध ग्रन्थ ।
- ६—हिन्दी के स्वतन्त्र आलोचना ग्रन्थ ।

भारतीय साहित्य शास्त्र से सम्बन्धित काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ—हिन्दी में भारतीय काव्य शास्त्र से सम्बन्धित तीन प्रकार के ग्रन्थ लिखे गए हैं—

- (क) साहित्य शास्त्र के सिद्धान्ताख्यान सम्बन्धी ग्रन्थ ।
- (ख) भारतीय साहित्य शास्त्र के संग्रहात्मक ग्रन्थ ।
- (ग) अनुवाद ग्रन्थ ।

(क) भारतीय साहित्य शास्त्र के सिद्धान्ताख्यान सम्बन्धी ग्रन्थ—इस कोटि के ग्रन्थ संख्या में अधिक नहीं हैं। किन्तु जो भी हैं, उनमें से अधिकांश पाण्डित्यपूर्ण एवं उच्च कोटि के हैं। ऐसे ग्रन्थों में पण्डित बलदेव उपाध्याय कृत “भारतीय साहित्य शास्त्र” (दो भाग) तथा संस्कृत का “काव्य शास्त्र” विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में यह दोनों ही ग्रन्थ अपने ढंग के बेजोड़ हैं। इन ग्रन्थों में लेखक ने संस्कृत काव्य शास्त्र के प्राणभूत सिद्धान्तों की सप्रमाण विशद व्याख्या की है। इन ग्रन्थों के अध्ययन के बाद पाठक यह स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता कि लेखक संस्कृत साहित्य शास्त्र का निष्णात विद्वान है।

इस कोटि के अन्य ग्रन्थों में डा० सत्यदेव चौधरी लिखित “भारतीय काव्यांग” और डा० राममूर्ति प्रणीत “भारतीय साहित्य दर्शन” भी विशेष उल्लेखनीय हैं। यह दोनों ही ग्रन्थ संस्कृत काव्य शास्त्र के आधार पर रचे गए हैं। सामान्यतया दोनों ही ग्रन्थ अच्छे हैं। किन्तु प्रथम ग्रन्थ में संस्कृत उद्धरण सम्बन्धी कुछ भूलें बहुत खटकती हैं।

भारतीय साहित्य शास्त्र से सम्बन्धित दूसरी कोटि के ग्रन्थ वे हैं जो परम्परा निर्देश के रूप में संग्रहीत किए गए हैं। ऐसे ग्रन्थों में डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित “भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा” शीर्षक ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में भरतमुनि से लेकर नगेन्द्र तक के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रमुख अंशों के मूलांश और उनके अनुवाद संग्रह प्रस्तुत किए गए हैं। यद्यपि इस प्रकार के ग्रन्थों में मौलिकता कुछ नहीं है, किन्तु जिन विद्यार्थियों को मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सकते उनके लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

(ग) भारतीय साहित्य शास्त्र के अध्ययन के रूप में इधर बहुत से संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रंथों के हिंदी अनुवाद प्रकाशित किए जा रहे हैं। डा० नगेन्द्र ने इस दिशा में विद्वानों को अच्छी प्रेरणा दी है। इस कोटि के ग्रन्थों में हरि मंगल मिश्र का

‘काव्य प्रकाश’, आचार्य विश्वेश्वर का ध्वन्यालोक, हिंदी काव्यालंकार, हिन्दी वक्रोक्ति-जीवित; केदारनाथ सारस्वत की काव्य-मीमांसा, ब्रजरत्न दास का काव्यादर्श, रणवीर सिंह का काव्यादर्श, सत्यव्रतसिंह के काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण, डा० मनोहर लाल का औचित्य विचार चर्चा, हरिदत्त मिश्र का काव्य प्रकाश विशेष उल्लेखनीय हैं। अभिनव भारती और व्यक्ति विवेक के अनुवाद भी शीघ्र प्रकाशित होने वाले हैं। दशरूपक का प्रथम हिन्दी अनुवाद इस लेखक ने प्रकाशित कराया था। बाद में डा० भोलाशंकर व्यास का दशरूपक प्रकाशित हुआ।

२. पाश्चात्य समालोचना से सम्बन्धित सिद्धान्तिक ग्रन्थ—यह ग्रंथ भी तीन कोटियों में बाँटे जा सकते हैं—

- (क) विवेचनात्मक,
- (ख) संग्रहात्मक;
- (ग) अनुवाद।

इस दिशा में विद्वानों ने बहुत कम प्रयास किया है। फिर भी जो रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं, वे उच्च कोटि की हैं। इस कोटि की प्रमुख रचनाएँ दो हैं—१. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—लीलाधर, २. पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र—केसरी नारायण शुक्ल। ये दोनों ही अपने ढंग की उत्तम रचनाएँ हैं। इनमें पाश्चात्य काव्य शास्त्र का अच्छा विवेचन किया गया है।

(ख) संग्रह ग्रन्थ—इधर डा० नगेन्द्र के सम्पादकत्व में ‘पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा’ नामक एक संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें होरेस से लेकर आज तक के आचार्यों के प्रमुख सिद्धान्तों का अच्छा संग्रह है। पाश्चात्य काव्य शास्त्र का परम्परात्मक परिचय प्राप्त करने के लिए इससे सुन्दर संग्रह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है।

(ग) अनुवाद ग्रन्थ—डा० नगेन्द्र ने पाश्चात्य काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुवाद की परम्परा भी प्रवर्तित की। उनके प्रयास और प्रेरणा से इधर कई पाश्चात्य काव्य शास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। इनमें सबसे पहले ऐरिस्टाटिल के ‘पेरि पोयटिक्स’ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसके अनुवादक स्वयं डा० नगेन्द्र हैं। इसके प्रकाशन से अरस्तू के काव्य शास्त्र का ज्ञान हिन्दी वालों को सुलभ हो गया है। दूसरा ग्रन्थ लॉजाइनस के ‘पेरि एप्सुस’ का अनुवाद है। उसका प्रकाशन ‘काव्य में उदात्त तत्व’ के अभिधान से हुआ। इसके प्रकाशन का श्रेय भी डाक्टर नगेन्द्र को ही है। इस कोटि का तीसरा ग्रन्थ हेरिसकृत आसंपोयटिका का हिन्दी अनुवाद है जिसका प्रकाशन ‘काव्य कला’ के अभिधान से किया गया है। ये तीनों ही ग्रन्थ पाश्चात्य काव्य शास्त्र के आधार स्तम्भ हैं। इनके प्रकाशन से हिन्दी जगत् का बड़ा उपकार हुआ है।

काव्य-शास्त्र के इतिहास ग्रन्थ—कुछ विद्वानों ने भारतीय काव्य शास्त्र के

इतिहास का निर्माण करने का प्रयास किया है। इस कोटि के ग्रन्थों में डा० रसाल विरचित 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' तथा डा० भगीरथ मिश्र कृत 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' तथा डा० भगवत स्वरूप लिखित 'मालोचना : उसका उद्भव और विकास' शीर्षक रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। सभी ग्रन्थ सुयोग्य विद्वानों द्वारा डाक्ट्रेट उपाधि के लिए लिखित प्रबन्ध हैं तथा उच्चकोटि के हैं।

सैद्धान्तिक समालोचना के वे पाठ्य ग्रंथ जो प्राच्य और पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों के समन्वय से विरचित हुए हैं—इस कोटि के ग्रन्थ लिखने का श्रीगणेश डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने किया था। 'साहित्यालोचन' उन्होंने अपने एम० ए० के छात्रों के लिए पाठ्य पुस्तक के रूप में लिखा था। उसमें भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्रों के प्रमुख सिद्धान्तों का सरल, सुबोध शैली में छात्रोपयोगी विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ बहुत दिनों तक पाठ्य ग्रन्थ के रूप में प्रचलित और प्रतिष्ठित रहा है। आज भी शास्त्रीय सिद्धान्तों के परिचय के लिए इससे सरल और सुन्दर दूसरा ग्रन्थ नहीं है। आगे ज्यों-ज्यों ज्ञान का विकास होता गया त्यों-त्यों इस कोटि के नए ग्रन्थ प्रकाश में आने लगे। साहित्यालोचन के बाद डा० सूर्यकान्त ने अपना 'साहित्य मीमांसा' नामक ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ भी बहुत सी दृष्टियों से बड़ा उपयोगी है और छात्रों के उपयोग का है। इसके पश्चात् बाबू गुलाबराय ने अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' नामक ग्रन्थ लिखे। ये दोनों ही ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से कहीं अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं।

इसी प्रसंग में पण्डित रामदहन मिश्र के प्रयास भी उल्लेखनीय हैं। पाण्डित्य और विवेचन की दृष्टि से उनकी रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। उनका 'काव्य दर्पण' और 'काव्यालोक' दो भाग भारतीय साहित्य शास्त्र के प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। इन दोनों ग्रन्थों ने विद्वानों और विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया है।

उपर्युक्त कोटि के मौलिक विवेचना प्रधान ग्रन्थों में लक्ष्मी नारायण सुधांशु लिखित 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें संबंध लेखक की प्रतिभा का प्रकाश दिखाई पड़ता है। श्री के० पी० ज्ञानी लिखित 'मालोचना इतिहास और सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ भी बहुत-सी दृष्टियों से मौलिक और सार-पूर्ण है।

इन ग्रन्थों की रचना के बाद कई वर्ष तक उच्च कोटि के सैद्धान्तिक समालोचना के ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आए। इस कोटि के प्रकाशित होने वाले अधिकांश ग्रन्थ साधारण कोटि के ही थे। ऐसे ग्रन्थों में बाबू गुलाबराय लिखित 'मालोचना के सिद्धान्त और समीक्षा शास्त्र', डा० देवराज रचित 'आधुनिक समीक्षा', देवेन्द्र नाथ लिखित 'साहित्य समीक्षा', मोहन बल्लभ पन्त प्रणीत 'मालोचना शास्त्र', रांगेय राघव रचित 'समीक्षा और आदर्श', डा० सत्येन्द्र द्वारा लिखित 'समीक्षा के सिद्धान्त', राम नारायण प्रणीत 'साहित्यालोचन के सिद्धान्त', सोमनाथ कृत 'मालोचना और उसके

‘सिद्धांत’, शिवनन्दन प्रसाद विरचित ‘काव्यालोचन के सिद्धांत’, पं० रामलाल और दशरथ ओझा प्रणीत ‘समीक्षा दर्शन’, डा० भगीरथ मिश्र रचित ‘काव्य शास्त्र’, श्री शम्भू नाथ मिश्र रचित ‘काव्य शास्त्र’, रामनारायण या देवेन्द्र लिखित ‘साहित्यालोचन के सिद्धांत’, डा० रसाल कृत ‘आलोचनादर्श’, डा० मोहनलाल लिखित ‘आलोचना और आलोचक’, के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश बहुत साधारण कोटि के हैं और केवल साधारण कक्षा के विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से लिखे गए हैं।

‘सिद्धांत और अध्ययन’ तथा ‘काव्य के रूप’ के बाद प्रौढ़ ‘पाण्डित्यपूर्ण’ मौलिक चिन्तना प्रधान वैज्ञानिक शैली में लिखा हुआ कोई भी उच्च कोटि का ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया। इस अभाव की पूर्त्यर्थ लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की। अपनी इस रचना के सम्बन्ध में वह स्वयं क्या कह सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ ईष्यालु व्यक्ति इसे चाहे संग्रह ग्रन्थ कह कर अवमूल्यांकन ही क्यों न करें, किन्तु मैंने ग्रन्थ के लेखन में यथाशक्ति अधिक से अधिक परिश्रम, चिन्तन और मनन किया है। मुझे सन्तोष है कि विद्वत् वर्ग एवं विद्यार्थी समाज ने इसका हृदय से अभिनन्दन किया। इसी के फलस्वरूप प्रकाशित होते ही यह ग्रन्थ अनेक विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्य-क्रम में आ गया और हाथों-हाथ उसका पहला संस्करण बिक गया। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता एक दृष्टि से बड़ी घातक सिद्ध हुई। एक महिला इस ग्रन्थ से इतना अधिक प्रभावित हो गई कि उन्होंने इसको आधार बनाकर एक नई पुस्तक ही रच डाली। यहाँ तक कि उन्होंने कहीं-कहीं मेरे अध्ययन और निष्कर्षों को अपना कहकर दुहरा दिया है। ‘साहित्य शास्त्र के सिद्धान्त’ नामक रचना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। पारखी विद्वान् मेरे प्रथम संस्करण के ग्रन्थों से इस ग्रन्थ की तुलना कर सकते हैं।

साहित्यशास्त्र के अंग विशेष का विवेचन करने वाले ग्रन्थ भी हिन्दी में बहुत लिखे गए हैं और प्रतिदिन लिखे जा रहे हैं। इनमें से बहुत से तो शोध-प्रबन्ध के रूप में लिखे गए हैं। कुछ स्वतन्त्र अध्ययन की प्रणाली पर प्रणीत हुए हैं। इन ग्रन्थों में डा० राकेश लिखित ‘मनोविज्ञान के प्रकाश में रससिद्धांत’, डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित प्रणीत ‘काम में रस’, डा० ब्रजवासी लाल कृत ‘हिन्दी काव्य में करुण रस’, डा० बरसाने लाल रचित ‘हिन्दी साहित्य में हास्य रस’, डा० राकेश प्रणीत ‘नायक-नायिका के भेद’, डा० शम्भूनाथ रचित ‘महाकाव्य के स्वरूप का विकास’, डा० भोलाशंकर व्यास प्रणीत ‘ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत’, डा० पुत्तू लाल लिखित ‘आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद योजना’, डा० रमेशप्रसाद मिश्र रचित ‘आधुनिक हिन्दी काव्य के बदलते हुए प्रतिमान’, डा० राममूर्ति त्रिपाठी प्रणीत ‘व्यंजना और नई कविता’, पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव रचित ‘आदर्श और यथार्थ’, रामनरेश वर्मा विरचित ‘वक्रोक्ति और अभिव्यंजना’, डा० रांगेय राघव विरचित ‘प्रगतिशील साहित्य के मापदण्ड’, डा० रामविलास कृत ‘प्रगति और परम्परा’, अमृतलाल लिखित ‘नई

समीक्षा', लक्ष्मीकान्त वर्मा रचित 'नई कविता के प्रतिमान' बहुत प्रसिद्ध हैं ।

हिन्दी के स्वतन्त्र आलोचना शास्त्रीय ग्रन्थ—इधर हिन्दी के सैद्धान्तिक आलोचना क्षेत्र में एक स्वस्थ बिन्दु दिखाई पड़ रहा है । विद्वानों की प्रवृत्ति हिन्दी के अपने स्वतन्त्र आलोचना शास्त्र के निर्माण की है । इस दिशा में डा० नगेन्द्र की अध्यक्षता में 'आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त' बड़ी स्तुत्य रचना है । इस प्रकार के सत्प्रयास और किये जाने चाहिए ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में बहुमुखी प्रगति हो रही है, जो बहुत सी दृष्टियों से स्वस्थ और सहज है ।

